बी.ए. समाजशास्त्र / B.A. Sociology

अन्तिम वर्ष

समाजशास्त्रीय विचारों के आधार

(प्रथम प्रश्नपत्र)

पण्डित सुन्दरलाल शर्मा (मुक्त) विश्वविद्यालय छत्तीसगढ़, बिलासपुर

पाठ्यक्रम अभिकल्प एवं विकास समिति

संरक्षक

कुलपति

पण्डित सुन्दरलाल शर्मा (मुक्त) विश्वविद्यालय छत्तीसगढ़, बिलासपुर

पाठ्यक्रम सम्पादन

डॉ. यू. एस. श्रीवास्तव
सहायक प्राध्यापक
समाजशास्त्र विभाग
शासकीय वीरांगना अवंतीबाई लोधी महाविद्यालय, पथरिया
जिला- मुंगेली (छ.ग.)

प्रकाशक

कुलसचिव, पण्डित सुन्दरलाल शर्मा (मुक्त) विश्वविद्यालय छत्तीसगढ़, बिलासपुर, 495009

ISBN NO : **978-93-88311-08-3**
वर्ष : 2018
पुर्नमुद्रण : 2019

मुद्रक :

पी.स्क्वायर सॉल्यूशन

मथुरा उ.प्र.

अनुक्रमणिका

खण्ड (1)

अध्याय 1 : समाजशास्त्र का उद्भव 9-24

- उद्देश्य
- प्राक्कथन
- सामाजिक चिन्तन क्या है?
- प्राचीन सामाजिक दर्शन
- भारत में सामाजिक दर्शन
- यूरोप में सामाजिक दर्शन
- यूरोप में पुनर्जागरण
- इटली में पुनर्जागरण
- जर्मनी में पुनर्जागरण
- फ्रान्स में पुनर्जागरण
- इंग्लैण्ड में पुनर्जागरण
- यूरोप में वैज्ञानिक चिन्तन का आरम्भ
- समाजशास्त्र की ओर संक्रमण
- अध्याय का संक्षिप्त सार
- परीक्षोपयोगी प्रश्न

अध्याय 2 : आगस्त कॉम्ट 25-52

- उद्देश्य
- प्राक्कथन
- कॉम्ट का जीवन परिचय
- कॉम्ट की रचनाएँ
- समाजशास्त्र को कॉम्ट की देन
- समाजशास्त्र की अवधारणा
- समाजशास्त्र की विशेषताएँ
- समाजशास्त्र की शाखाएँ
- प्रत्यक्षवाद का अर्थ
- प्रत्यक्षवाद की विशेषताएँ
- अध्याय का संक्षिप्त सार
- परीक्षोपयोगी प्रश्न

अध्याय 3 : हरबर्ट स्पेन्सर 53–72

- उद्देश्य
- प्राक्कथन
- जीवन परिचय तथा कृतियाँ
- सामाजिक डार्विनवाद
- उद्विकास का अर्थ
- सामाजिक उद्विकास
- भौतिक उद्विकास का नियम
- आलोचनात्मक मूल्यांकन
- अध्याय का संक्षिप्त सार
- परीक्षोपयोगी प्रश्न

खण्ड (2)

अध्याय 4 : इमाइल दुर्खीम : सामाजिक एकता 73–98

- उद्देश्य
- प्राक्कथन
- दुर्खीम का जीवन परिचय
- दुर्खीम की कृतियाँ
- समाजशास्त्र के लिए दुर्खीम का योगदान
- सामाजिक एकता का सिद्धान्त
- सामाजिक एकता की अवधारणा
- यान्त्रिक एकता
- यान्त्रिक एकता की विशेषताएँ
- सावयवी एकता
- यान्त्रिक तथा सावयवी एकता में अन्तर
- अध्याय का संक्षिप्त सार
- परीक्षोपयोगी प्रश्न

अध्याय 5 : दुर्खीम : आत्महत्या 99–124

- उद्देश्य
- प्राक्कथन
- आत्महत्या की परिभाषा

○ आत्महत्या की विशेषताएँ
○ आत्महत्या के कारण
○ सामाजिक क्रिया: एक वास्तविक आधार
○ आत्महत्या के प्रकार
○ परार्थवादी आत्महत्या
○ अहंकारी और परार्थवादी आत्महत्या में अन्तर
○ आत्महत्या की सामाजिक प्रकृति
○ आत्महत्या के निवारण के उपाय
○ दुर्खीम के आत्महत्या सिद्धान्त की समालोचना
○ अध्याय का संक्षिप्त सार
○ परीक्षोपयोगी प्रश्न

अध्याय 6 : मैक्स वेबर 125–168
○ उद्देश्य
○ प्राक्कथन
○ जीवन–परिचय एवं बौद्धिक पृष्ठभूमि
○ वेबर की प्रमुख कृतियाँ
○ शक्ति एवं सत्ता
○ सत्ता के प्रकार
○ सत्ता की ऐतिहासिक विवेचना
○ आदर्श प्रारूप
○ आदर्श प्रारूप की विशेषताएँ
○ आदर्श प्रारूप के प्रकार्य
○ अध्याय का संक्षिप्त सार
○ परीक्षोपयोगी प्रश्न

खण्ड (3)

अध्याय 7 : कार्ल मार्क्स 169–200
○ उद्देश्य
○ प्राक्कथन
○ मार्क्स का जीवन परिचय
○ मार्क्स की प्रमुख रचनाएँ

○ ऐतिहासिक भौतिकवाद
○ उत्पादन सम्बन्धों का अर्थ
○ उत्पादन सम्बन्धों की विशेषताएँ
○ वर्ग और वर्ग संघर्ष
○ वर्ग चेतना
○ सामाजिक क्रान्ति
○ सामाजिक क्रान्ति की विशेषताएँ
○ सामाजिक क्रान्ति के सिद्धान्त की आलोचना
○ अध्याय का संक्षिप्त सार
○ परीक्षोपयोगी प्रश्न

अध्याय 8 : विलफ्रेडो पैरेटो 201–218
○ उद्देश्य
○ प्राक्कथन
○ परेटो की जीवनी
○ परेटो की कृतियाँ
○ परेटो का पद्धतिशास्त्र
○ समाजशास्त्र एक समन्वयात्मक
○ तार्किक एवं अतार्किक क्रियाएँ
○ परेटो की अवशेषों की अवधारणा
○ अवशेषों के प्रकार
○ अवशेषों का महत्व
○ भ्रान्त तर्क की अवधारणा
○ भ्रान्त तर्को के प्रकार
○ अभिजात वर्ग का सिद्धान्त
○ अभिजात वर्ग का परिभ्रमण
○ अध्याय का संक्षिप्त सार
○ परीक्षोपयोगी प्रश्न

खण्ड (4)

अध्याय 9 : भारत में समाजशास्त्रीय चिन्तन का विकास 219–232
○ उद्देश्य
○ प्राक्कथन
○ अनौपचारिक स्थापना का युग

○ समाजशास्त्रीय चिन्तन के उदय का युग
○ व्यापक प्रसार का युग
○ औपचारिक स्थापना युग
○ भारत में समाजशास्त्र के विकास और प्रवृत्तियाँ
○ क्या एक भारतीय समाज सम्भव है ?
○ अध्याय का संक्षिप्त सार
○ परीक्षोपयोगी प्रश्न

अध्याय 10 : महात्मा गाँधी 233-260
○ उद्देश्य
○ प्राक्कथन
○ जीवन परिचय
○ गाँधीजी के दर्शन की पृष्ठभूमि
○ गाँधीवाद
○ सत्य और अहिंसा
○ सत्याग्रह
○ गाँधीजी का आदर्श समाज
○ आर्य समाज
○ धार्मिक समाज
○ समाज में दयानन्द सरस्वती की भूमिका
○ वैदिक विचारधारा की पुन: स्थापना
○ मूर्ति पूजा का विरोध
○ बाल-विवाहों का विरोध
○ आलोचनात्मक मूल्यांकन
○ अध्याय का संक्षिप्त सार
○ परीक्षोपयोगी प्रश्न

अध्याय 11 : राधा कमल मुकर्जी 261-288
○ उद्देश्य
○ प्राक्कथन
○ जीवन चरित्र एवं रचनाएँ
○ समाज एक मुक्त व्यवस्था

- सामाजिक मूल्य : अर्थ एवं परिभाषाएँ
- मूल्यों का सोपान स्तर
- मूल्यों का वर्गीकरण
- मूल्यों का महत्व
- अपमूल्यों का अवधारणा
- प्रादेशिक समाजशास्त्र
- सामाजिक पुनर्निमाण
- अध्याय का संक्षिप्त सार
- परीक्षोपयोगी प्रश्न

1 समाजशास्त्र का उद्भव (Emergence of Sociology)

NOTES

अध्याय में सम्मिलित विषय सामग्री

- उद्देश्य
- प्राक्कथन
- सामाजिक चिन्तन क्या है?
- प्राचीन सामाजिक दर्शन
- भारत में सामाजिक दर्शन
- यूरोप में सामाजिक दर्शन
- यूरोप में पुनर्जागरण
- इटली में पुनर्जागरण
- जर्मनी में पुनर्जागरण
- फ्रान्स में पुनर्जागरण
- इंग्लैण्ड में पुनर्जागरण
- यूरोप में वैज्ञानिक चिन्तन का आरम्भ
- समाजशास्त्र की ओर संक्रमण
- अध्याय का संक्षिप्त सार
- परीक्षोपयोगी प्रश्न

उद्देश्य :

इस अध्याय अध्ययन के पश्चात् आप निम्न तथ्यों को समझ सकेंगे—

- प्राक्कथन
- सामाजिक चिन्तन क्या है?
- प्राचीन सामाजिक दर्शन
- भारत में सामाजिक दर्शन
- यूरोप में सामाजिक दर्शन
- यूरोप में पुनर्जागरण
- इटली में पुनर्जागरण
- जर्मनी में पुनर्जागरण
- फ्रांस में पुनर्जागरण
- इंग्लैण्ड में पुनर्जागरण
- यूरोप में वैज्ञानिक चिन्तन का आरम्भ
- समाजशास्त्र की ओर संक्रमण

NOTES

प्राक्कथन

सामाजिक घटनाओं के वैज्ञानिक चिन्तन का इतिहास बहुत प्राचीन नहीं है। आज से लगभग 170 वर्ष पहले तक सामाजिक ज्ञान अनेक प्रकार के धार्मिक विश्वासों और दार्शनिक चिन्तन से इस तरह मिलाजुला था कि सामाजिक जीवन को उसके वैज्ञानिक रूप में समझना बहुत कठिन था। उस समय तक अध्ययन की कोई ऐसी वैज्ञानिक प्रणाली भी विकसित नहीं हो सकती थी जिसकी सहायता से सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक संस्थाओं तथा समाज में होने वाले परिवर्तन को उसके वास्तविक रूप में समझा जा सके। जिन समाजशास्त्रियों ने राजनीति, इतिहास, समाज और संस्कृति और राजनीति, इतिहास, समाज और संस्कृति जैसे कई क्षेत्रों में अपने विचार प्रस्तुत किये, वे विचार धर्म और कल्पना से अधिक प्रभावित थे।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि सामाजिक चिन्तन अथवा सामाजिक विचारधारा का इतिहास उतना ही प्राचीन है जितना कि स्वयं समाज। मनुष्य ने जिस समय से समूह में रहकर जीवन व्यतीत करना शुरू किया, तभी से विभिन्न समाजों में सामाजिक जीवन को व्यवा़स्थित बनाने के लिए व्यक्ति ने विचार करना भी शुरू कर दिया था। आरम्भ में मानव जीवन पर प्राकृतिक दशाओं का प्रभाव बहुत अधिक होने के कारण मनुष्य ने अपनी अधिकांश समस्याओं को प्राकृतिक रहस्यों और अलौकिक शक्तियों के सन्दर्भ में समझने का प्रयास किया। इस स्तर तक सामाजिक चिन्तन की प्रकृति मौखिक थी। समूह के मुखिया या प्रभावशाली व्यक्ति के विचारों के आधार पर ही दूसरे लोगों के व्यवहारों और विश्वासों का निर्धारण होता था। मानवीय ज्ञान में वृद्धि होने के साथ मनुष्य का चिन्तन धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, तथा सामाजिक जैसी अनेक शाखाओं में विभक्त होने लगा। इस समय व्यक्तिगत चिन्तन को सिद्धान्तों का रूप मिलने लगा, यद्यपि यह सिद्धान्त व्यक्तिगत अनुभवों और किसी रूप में अलौकिक शक्तियों से सम्बन्धित विश्वासों से सही प्रभावित रहे। संसार के विभिन्न हिस्सों में पायी जाने वली जनजातियों, जो मानव सभ्यता की मौलिक प्रतिनिधि हैं, उनके विचार तरह-तरह की कहावतों, कहानियों और लोक-गीतों में स्पष्ट होने लगे।

सामाजिक चिन्तन क्या है? इसे स्पष्ट करते हुए **बोगार्ड्स** (Bogardus) ने लिखा है, ''मानवीय इतिहास अथवा वर्तमान में एक या कुछ व्यक्तियों द्वारा सामाजिक समस्याओं के बारे में विचार करना ही सामाजिक चिन्तन है।'' वास्तविक यह है कि सामाजिक चिन्तन का सम्बन्ध केवल सामाजिक समस्याओं के बारे में सोचना तथा उनका समाधान करने से ही नहीं होता। इसका सम्बन्ध ऐसे सभी विचारों और अनुभवों से है जिसके द्वारा सामाजिक जीवन को प्रभावित करने वाले हालातों को ज्ञान करके सामाजिक जीवन को अधिक व्यवस्थित बनाने से होता है। मानव सभ्यता के विकास के साथ विभिन्न समाजों की परिस्थितियाँ और वैयक्तिक अनुभव एक-दूसरे से अलग होने के कारण उनमें पाये जाने वाले सामजिक चिन्तन की प्रकृति भी एक-दूसरे से भिन्न होती है। इसका तात्पर्य है कि सामाजिक विकास के साथ सामाजिक चिन्तन की प्रकृति भी बदलती रहती है। यह ध्यान रखना भी जरूरी है कि सामाजिक ज्ञान की किसी भी उपलब्धि को उसकी अन्तिम सीमा नहीं कहा जा सकता। आज समाजशास्त्र के रूप में हम जिस सामाजिक चिन्तन को वैज्ञानिक चिन्तन का नाम देते हैं, वह भी सामाजिक चिन्तन के विकास की अनेक कड़ियों में से एक कड़ी है। इस दृष्टिकोण से समाजशास्त्रीय चिन्तन की प्रकृति को समझने से पहले सामाजिक दर्शन के प्राचीन रूप तथा पुनर्जागरण के रूप में यूरोप में शुरू होने वाले बौद्धिक परिवर्तनों को समझना आवश्यक है। इन्हीं

की सहायता से यह समझा जा सकता है कि सामाजिक दर्शन पर आधारित चिन्तन ने किस प्रकार समाजशास्त्रीय चिन्तन का रूप ले लिया।

प्राचीन सामाजिक दर्शन (ANCIENT SOCIAL PHILOSOPHY)

NOTES

जिन समाजों की संस्कृति और सभ्यता का इतिहास बहुत प्राचीन रहा है, उनमें सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों तथा व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों को स्पष्ट करने के लिए एक लम्बे समय से अनेक विचार दिए जाते रहे हैं। इसके बाद भी यह सच है कि एक लम्बे समय तक सामाजिक चिन्तन पर दार्शनिक दृष्टिकोण का अधिक असर है। दार्शनिक दृष्टिकोण अथवा **सामाजिक दर्शन का तात्पर्य** एक ऐसी विवेचना से है जिसे साधारणतया सिद्धान्तों के रूप में स्पष्ट किया जाता है तथा यह विवेचना वास्तविक तथ्यों पर आधारित नहीं होती। दार्शनिक चिन्तन की प्रकृति व्यक्तिगत होती है और व्यक्तिगत आधार पर दिए गए तर्कों की सहायता से ही इसे प्रमाणित करने का प्रयास किया जाता है। दार्शनिक चिन्तन ऊपरी तौर पर व्यवस्थित दिखायी देने के बाद भी इसका उद्देश्य समाज के एक विशेष वर्ग के हितों का संरक्षण करना होता है। किसी न किसी रूप में सामाजिक दर्शन एक ऐसा ज्ञान है जिसके द्वारा विभिन्न घटनाओं को कुछ ऐसी शक्तियों के परिणाम के रूप में स्पष्ट किया जाता है जिन्हें हम प्रत्यक्ष रूप से नहीं देख सकते। प्राचीन सामाजिक चिन्तन पर सामाजिक दर्शन के प्रभाव को भारत तथा यूरोप की प्राचीन सामाजिक विचारधारा के आधार पर सरलतापूर्वक समझा जा सकता है।

भारत में सामाजिक दर्शन (Social Philosophy in India)

विभिन्न प्रमाणों से अब यह पूरी तरह स्पष्ट होने लगा है कि बेबीलोनिया, मिस्र तथा यूरोप की तुलना में भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता का इतिहास अधिक प्राचीन है। यहाँ की **वैदिक संस्कृति** का विकास ईसा ने तीन हजार वर्ष पहले होना आरम्भ हो गया था। इस संस्कृति का आधार वह वैदिक ज्ञान है जिसके द्वारा सामाजिक व्यवस्था, व्यक्ति तथा समाज के पारस्परिक सम्बन्धों, सामाजिक विभाजन, राजा के अलौकिक अधिकारों, सम्पत्ति की प्रकृति, सत्य, पापकर्मों तथ अलौकिक शक्तियों के प्रभाव का विस्तार से वर्णन किया गया। वैदिककाल का सम्पूर्ण चिन्तन इस अर्थ में दार्शनिक रहा कि इसके द्वारा इन्द्र, सूर्य (अग्नि), वरुण (जल), मरुत (वायु) और ब्रह्म जैसी अलौकिक शक्तियों को ही सभी तरह की सफलताओं-असफलताओं, सुख-दुःख, विजय-पराजय तथा लाभ-हानि के स्रोत के रूप में स्पष्ट किया गया। यह वहसमय थ जब एक ओर आर्य लोग अपनी शक्ति को तेजी से बढ़ा रहे थे तो दूसरी ओर उनमें स्वयं भी व्यावसायिक आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जैसे तीन वर्णों का विभाजन हो गया।

उत्तर वैदिक काल का समय ईसा से 1100 वर्ष पूर्व से ईसा से 600 वर्ष पहले तक का माना जाता है। इस युग का सामाजिक चिन्तन अधिक विविधापूर्ण रहा। इस काल में कौशल, काशी, विदेह, कुरु, पांचाल और मगध जैसे बड़े-बड़े साम्राज्यों की स्थापना होने से धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था को राजनीतिक चिन्तन से मिला दिया गया। वर्ण संस्तरण को एक अनिवार्य सामाजिक व्यवस्था को राजनीतिक चिन्तन से मिला दिया गया। वर्ण संस्तरण को एक अनिवार्य सामाजिक नीति का रूप दे दिया गया। इसी युग के चिन्तन में एक तात्विक विचारधारा शुरू हुई। इसके अनुसार आत्मा, व्यक्ति, व्यक्ति के कर्मों और पुनर्जन्म आदि को एक-दूसरे से सम्बन्धित लेकिन

एक-दूसरे से स्वतन्त्र अवधारणाओं के रूप में विकसित किया गया। गीता के रूप में श्रीकृष्ण ने यह स्पष्ट किया कि राष्ट्र और धर्म से सम्बन्धित कर्तव्य व्यक्तिगत सम्बन्धों से अधिक महत्वपूर्ण है। इसी युग में वर्णाश्रम धर्म के रूप में व्यक्ति के कर्तव्यों का निर्धारण हुआ। ईश्वर, राजधर्म और न्याय के बीच एकीकरण स्थापित करने का प्रयास किया गया। साथ ही एक परम्परा के रूप में भौतिक समृद्धि की अपेक्षा मानवीय गुणों के विकास पर अधिक बल दिया जाने लगा। इस प्रकार भारत के सामाजिक चिन्तन में इस युग को एक बौद्धिक काल कहा जा सकता है। कुछ सांस्कृतिक इतिहासकार इस काल को तात्विक चिन्तन का काल कहते हैं।

भारत के सामाजिक चिन्तन में ईसा से लगभग 600 वर्ष पहले से ईसा से 200 वर्ष पहले तक का समय अधिक महत्वपूर्ण रहा है। इसे **बौद्ध तथा जैन युग** कहा जाता है। इस युग में सामाजिक व्यवस्था तथा धर्म के बारे में एक नया चिन्तन आरम्भ हुआ। इस चिन्तन के नेता वर्द्धमान महावीर और गौतम बुद्ध थे। उत्तर वैदिक काल भारत का सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक चिन्तन पूरी तरह ब्राह्मण पुरोहितों से प्रभावित था लेकिन वर्द्धमान महावीर और गौतम बुद्ध ने ब्राह्मणों के एकाधिकार को चुनौती देकर सभी वर्णों की समानता पर जोर दिया। उत्तर वैदिक काल में विकसित होने वाले कर्मकाण्डों और यज्ञ में दी जाने वाली बलि का व्यापक विरोध शुरू हुआ। जब महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध के विचारों के आधार पर जैन और बौद्ध जैसे नये धर्म विकसित हुए तो एक बड़ी संख्या में लोगों ने इन धर्मों को अपनाना शुरू कर दिया। बुद्ध ने सामाजिक समानता और अहिंसा को सबसे अधिक महत्व देकर आध्यात्मिक विकास और सद्‌गुणों को ही व्यक्ति की श्रेष्ठता का आधार घोषित किया। बौद्ध धर्म संघों में सभी वर्णों के लोगों के साथ स्त्रियों को भी प्रवेश मिलने लगा। व्यावहारिक रूप से सामाजिक स्तरीकरण में क्षत्रियों को उच्चतम स्थान दिया जाने लगा। स्त्रियों की बढ़ती हुई स्वतन्त्रता के कारण अपने ही वर्ण में विवाह करने का नियम कमजोर होने लगा। संक्षेप में, इस युग के दौरान एक ऐसे सामाजिक तथा धार्मिक चिन्तन को प्रोत्साहन मिला जिसके फलस्वरूप सामाजिक व्यवस्था का रूप अधिक खुला हुआ बनने लगा।

भारत में ईसा से 323 वर्ष पहले **मौर्य शासन** आरम्भ हुआ। अधिकांश इतिहासकारों के अनुसार मौर्य वंश के शासक शूद्र वर्ण के थे। उन्होंने ब्राह्मण पुरोहितों से मिलकर क्षत्रियों की बढ़ती हुई शक्ति को समाप्त करने का प्रयास किया। इस युग का सबसे प्रतापी राजा चन्द्रगुप्त मौर्य था और चन्द्रगुप्त मौर्य के महामन्त्री चाणक्य ने 'अर्थशास्त्र' जैसी प्रसिद्ध पुस्तक लिखकर उस समय के सामाजिक चिन्तन को एक नया रूप दिया। चाणक्य का वास्तविक नाम आचार्य विष्णुगुप्त था लेकिन कुटिल राजनीति में अधिक कुशल होने के कारण ही उन्हें 'कौटिल्य' भी कहा जाने लगा। कौटिल्य ने अपने समय के प्रमुख आचार्यों के विचारों का समन्वय करते हुए अपनी पुस्तक 'अर्थशास्त्र' में राजा के आर्थिक, धार्मिक, न्यायिक और सामाजिक कर्तव्यों को विस्तृत रूप से स्पष्ट किया। इन विचारों के प्रभाव से एक ओर समाज में ब्राह्मणों के विशेषाधिकार फिर से बढ़ने लगे तो दूसरी ओर शूद्र वर्ण के लोगों को किसी भी तरह के अधिकारों से वंचित करने पर रोक लगा दी गयी। कौटिल्य की विचारधारा ने एक ऐसी व्यवस्था को बढ़ावा दिया जिसमें शूद्र वर्ण के लोगों को भी धर्मग्रन्थों का अध्ययन करने और धार्मिक अनुष्ठानों में सम्मिलित होने का अधिकार मिलने लगा। इस युग की सबसे महत्वपूर्ण घटना ईसा से 273 वर्ष पहले सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के पौत्र अशोक

का सम्राट बनना था। सम्राट अशोक ने ब्राह्मणों के परम्परागत अधिकारों को खत्म करके सभी वर्णों को समान अधिकार दे दिये। बाद में अशोक के द्वारा बौद्ध धर्म को राजधर्म घोषित कर देने के कारण जन्म पर आधारित स्तरीकरण लगभग खत्म हो गया तथा स्त्रियों के अधिकारों में वृद्धि होने लगी।

NOTES

भारत के प्राचीन सामाजिक दर्शन में एक नया मोड़ तब आया जब ईसा से 184 वर्ष पहले मौर्य वंश के अन्तिम शासक को मारकर उसके ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने सत्ता पर अधिकार कर लिया। डॉ. नर्मदेश्वर प्रसाद ने लिखा है कि इस काल में अधिकांश बौद्ध विहारों को नष्ट कर दिया गया तथा धार्मिक प्रवृत्तियों में इस प्रकार परिवर्तन किया जाने लगा जिससे सामाजिक व्यवस्था, राजनीति और सम्पत्ति अधिकारों का निर्धारण वर्ण संस्तरण के कठोर नियमों के आधार पर किया जा सके। अधिकांश प्रमाणों के अनुसार इसी काल में **मनुस्मृति** की रचना हुई जिसके द्वारा शूद्रों को सभी तरह के अधिकारों से वंचित कर दिया गया। मनुस्मृति बहुत चतुरता से तैयार किया गया एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें मनु को ही आदि मानव के रूप में प्रस्तुत करके ग्रन्थ के शुरू में ब्रह्माण्ड, माया, आत्मा और अलौकिक शक्तियों के रहस्य को तात्विक आधार पर समझाया गया लेकिन बाद के अधिकांश विवेचन में विभिन्न वर्णों के लिए व्यवहार के निश्चित नियम निर्धारित किये गये। इसके द्वारा राजा को वर्ण व्यवस्था के आधार पर ही दण्ड तथा न्याय का निर्धारण करने के निर्देश दिये गये। इसके द्वारा एक ऐसे सामाजिक दर्शन को प्रभावपूर्ण बनाया गया जिसका केन्द्र ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा को बढ़ाना था। मनु ने सामाजिक संस्थाओं, स्त्रियों तथा पुरुषों के अधिकारों, आश्रम व्यवस्था, संस्कारों की पूर्ति और कानूनों के विभिन्न पक्षों को विस्तार से स्पष्ट करके सामाजिक और धार्मिक जीवन को एक नया रूप दिया। इसके साथ ही उन्होंने मनुस्मृति को ही 'मानव धर्मशास्त्र' का रूप देकर एक ऐसा कार्यक्रम प्रस्तुत किया जिसके अनुसार हिन्दू रीति-रिवाज सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था तथा न्याय को नया रूप मिल सके। स्थान-स्थान पर यह भी भरोसा दिलाया गया कि मनुस्मृति में वर्णित सभी विचार ब्रह्मा द्वारा दिये गये आदेशों से प्रेरित हैं। सामान्य धर्म के रूप में व्यक्ति के कर्तव्यों की व्यवस्थित व्याख्या करना मनुस्मृति की विशेषता है, यद्यपि विशिष्ट धर्म के रूप में सभी लोगों के लिए वर्ण तथा आश्रम से सम्बन्धित कर्तव्यों को पूरा करना अनिवार्य कर दिया गया।

भारत के प्राचीन सामाजिक दर्शन में **गुप्तकाल** का विशेष महत्व है। वास्तव में गुप्त साम्राज्य लगभग 400 वर्ष तक चला जिसमें राज्य की नीतियों के निर्धारण में मनु तथा दूसरे स्मृतिकारों के सामाजिक दर्शन को ही आधार के रूप में देखा जाता रहा। इस काल में बहुत-से पुराणों तथा परवर्ती ब्राह्मण ग्रन्थों को भी रचना हुई। इन धर्मग्रन्थों में अनेक कथाओं की सहायता से ऐसे विश्वास विकसित किये गये जिनसे किसी भी व्यक्ति को ब्राह्मणें की अलौकिक शक्ति में कोई सन्देह न रहे। गुप्त वंश के सम्राटों ने स्मृतिकालीन साामाजिक दर्शन को अधिक से अधिक प्रभावपूर्ण बनाने का प्रयत्न इसलिए किया। जिससे अपने साम्राज्य का विस्तार करने में उन्हें ब्राह्मण पुरोहितों की पूरी सहायता मिलती रहे। व्यावहारिक रूप से इसी काल में पवित्रता तथा अपवित्रता के आधार पर शूद्र वर्ण में एक नया अस्पृश्य वर्ण विकसित होने लगा। इस समय वर्ग व्यवस्था सामाजिक स्तरीकरण का सबसे प्रमुख आधार बन गयी। छठी शताब्दी के अन्त में गुप्त साम्राज्य का पतन हो जाने के बाद सन् 606 ई. से उत्तर भारत में वर्द्धन वंश का शासन आरम्भ हुआ। इस समय एक बार फिर से सामाजिक व्यवस्था को समताकारी बनाने के लिए कुछ प्रयास किये गये लेकिन सन् 647 में हर्षवर्द्धन की मृत्यु हो जाने

से गुप्त काल में विकसित होने वाला सामाजिक दर्शन फिर से प्रभावपूर्ण बन गया।

वर्द्धन काल के बाद भारत में एक लम्बे समय तक राजनीतिक अस्थिरता अपनी चरम सीमा पर रही। पूरा देश छोटे-छोटे हजारों राज्यों में विभाजित हो गया जिनके बीच हमेशा युद्ध और संघर्ष चलते रहे। इस समय से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक के काल को **अन्धयुग** कहा जाता है जिसमें चिन्तन की कोई नयी धारा विकसित नहीं हो सकी। वर्ण विभाजन के साथ हजारों जातियों का निर्माण हो जाने के कारण सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक असमानताएँ अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयीं। अस्पृश्यता, व्यापक अशिक्षा, स्त्रियों का शोषण, जन्म पर आधारित स्तरीकरण, सती प्रथा एवं बालविवाह जैसी दशाओं को स्मृतिकालीन धर्म के आधार पर उचित समझा जाने लगा। सोलहवीं शताब्दी में कुछ सन्त कवियों ने झूठे कर्मकाण्डों का विरोध करके समाज में कुछ परिवर्तन लाने का प्रयत्न किया लेकिन वे इसमें पूरी तरह असफल रहे। स्पष्ट है कि भारत में वैदिक काल से लेकर 18वीं शताब्दी तक के सामाजिक चिन्तन को केवल एक सामाजिक दर्शन ही कहा जा सकता है जिसमें धर्म एवं पक्षपातपूर्ण वैयक्तिक विचारों का समावेश रहा।

यूरोप में सामाजिक दर्शन (Social Philosophy in Europe)

यूरोप की सभ्यताओं में ग्रीक और रोमन सभ्यताओं का इतिहास सबसे अधिक पुराना है। इन सभ्यताओं की आरम्भिक सामाजिक विचारधारा भारत की ही तरह सामाजिक दर्शन से प्रभावित रही। एक लम्बे समय तक इन सभ्यताओं में राजा, धार्मिक प्रतिनिधियों, सामन्तों और किसानों के अधिकारों के बीच भारी अन्तर बनाये रखा गया। राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि मानने की परम्परा इतनी दृढ़ थी कि राजा के आदेशों तथा न्याय को ईश्वरीय आदेश और न्याय के रूप में ही देखा जाता था। व्यवहार के नियमों और सामाजिक-धार्मिक सँहिताओं का निर्धारण करना धार्मिक प्रतिनिधियों का कार्य था जिसे राजा द्वारा लागू किया जाता था।

प्राचीन यूरोप के सामाजिक दर्शन में प्लेटो तथा अरस्तू का योगदान बहुत महत्वपूर्ण रहा है। **प्लेटो** (Plato) ने ईसा से लगभग 400 वर्ष पहले एक आदर्श समाज को स्थापित करने के लिए अनेक महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किये। इस सम्बन्ध में उनकी पुस्तक *'Republic'* को एक अमर कृति के रूप में देखा जाता है। इस पुस्तक में उन्होंने व्यक्ति और समाज की प्रकृति को स्पष्ट करने के साथ ही सामाजिक स्तरीकरण, सामाजिक व्यवस्था, शिक्षा और व्यक्तित्व जैसे विषयों पर भी विचार किया। उन्होंने समाज की तुलना एक जीव रचना से करते हुए लिखा कि जिस तरह शरीर के विभिन्न अंग अलग-अलग काम एक-दूसरे की सहायता से करते हैं उसी प्रकार समाज के विभिन्न अंगों के रूप में विभिन्न व्यक्तियों को भी ऐसे काम करने चाहिए जो उनकी क्षमता और कुशलता के अनुरूप हों। उन्होंने यह भी सुझाव दिया कि व्यक्ति में विभिन्न प्रकार के गुणों तथा क्षमताओं का विकास उनके चारों ओर की परिस्थितियों के अनुसार ही होता है। इस दशा में राज्य का यह कर्तव्य है कि वह अपने सभी नागरिकों को व्यक्तिगत के विकास की उचित सुविधाएँ प्रदान करे। इसके बाद भी प्लेटो ने यह माना कि सभी लोगों की शारीरिक तथा मानसिक क्षमताएँ समान नहीं होतीं। इस कारण राज्य द्वारा सभी को समान को सुविधाएँ देने के बाद भी सामाजिक संस्तरण का विकसित हो जाना बहुत स्वाभाविक है। एक आदर्श समाज की स्थापना के लिए प्लेटो ने शिक्षा को बहुत अधिक महत्व दिया।

स्पष्ट है कि प्लेटो ने अपने समय के राजतन्त्र का कोई विरोध न करते हुए केवल अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति केविकस में राज्य की भूमिका का उल्लेख कया और सामाजिक दशाओं में इस तरह परिवव्रन लाने का सुझाव दिया जिससे स्त्रियों, पुरुषों और समाज के सभी वर्गों को अपना विकास स्वयं करने के समान अवसर मिल सकें। उनके विचारों को वैयक्तिक और एक आदर्श कल्पना से प्रभावित होने के करण ही दार्शनिक विचार कहा जाता है।

अरस्तू (Aristotle) एक प्रमुख दार्शनिक होने के साथ ही प्लेटो के सबसे प्रसिद्ध शिष्य के रूप में जाने जाते हैं। उनकी पुस्तकों *'Ethics'* तथा *'Politics'* को प्राचीन चिन्तन में महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। अरस्तू की विचारधारा का केन्द्र मुख्य रूप से राज्य को एक नैतिक संस्था के रूप में स्पष्ट करना रहा। अपनी पुस्तक *'Politics'* के अधिकांश हिस्से में उन्होंने राज्य को ही समाज के रूप में वर्णित किया और लिखा कि ''मनुष्य स्वभाव से ही एक राजनीतिक (सामाजिक) प्राणी है।'' प्रत्येक व्यक्ति अपनी पालन-पोषण, सुरक्षा, शिक्षा और दूसरी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए समाज पर ही निर्भर होता है। प्लेटो से अलग विचार देते हुए उन्होंने मानव व्यवहार को समाज की उपज नहीं माना बल्कि यह स्पष्ट किया कि समाज अथवा राज्य की प्रकृति का निर्धारण उसमें रहने वाले लोगों के स्वभाव के अनुसार होता है। अत: यह जरूरी है कि समाज का विकास करने के लिए व्यक्तियों में सद्‌गुणों को विकसित किया जाए।

अरस्तू ने व्यक्तिगत गुणों की विवेचना कुछ नैतिक सिद्धान्तों के आधार पर की। आपके अनुसार केवल नैतिकता को ही मानवीय गुणों को श्रेणी में रखना उचित नहीं है। बौद्धिक योग्यता, साहस, संयम, धन का संचय, प्रतिष्ठा और शौर्य भी ऐसे गुण हैं जिनके द्वारा व्यक्ति एक आदर्श मानव बन सकता है। ईसा पूर्व के दार्शनिक विचारकों में अरस्तू वह पहले विचारक थे जिन्होंने व्यक्तिगत गुणों के विकास में तर्क और विवेक को महत्वपूर्ण स्थान दिया। उनके अनुसार परिवारों के संगठित होने से राज्य का जीवन भी अधिक संगठित हो जाता है। व्यक्ति को एक नैतिक प्राणी बनाने के लिए भी उन्होंने राज्य की भूमिका पर विशेष बल दिया। उन्होंने लिखा कि राज्य केवल एक राजनीतिक संगठन नहीं है बल्कि इसका मुख्य कार्य अपने नागरिकों के जीवन को अधिक नैतिक और अच्छा बनाना है।

प्लेटो तथा अरस्तू के अतिरिक्त यूरोप के प्राचीन सामाजिक दर्शन में अनेक दूसरे विद्वानों ने भी योगदान किया। इनमें लुक्रेटियस, सिसरो, सेण्ट आगस्टाइन तथा मारकस आरेलियस आदि के नाम अधिाक महत्वपूर्ण हैं। यदि हम विभिन्न दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत यूरोप के प्राचीन विचारों का विश्लेषण करें तो तीन मुख्य तथ्य स्पष्ट होते हैं—

(1) यूरोप के प्राचीन सामाजिक दार्शनिकों ने भारतीय विचारकों की तरह ही व्यक्ति तथा समाज से सम्बन्धित विचारों को राजनीतिक तथा धार्मिक व्यवस्था से मिलाकर स्पष्ट किया;

(2) यह विचारधारा एक ऐसे आदर्श चिन्तन पर आधारित थी जिसमें सामाजिक जीवन की वास्तविकता पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया। उनका ध्यान समाज तथा मानव व्यवहारों को प्रभावित करने वाले नियमों को जानने की जगह नैतिक सिद्धान्तों की विवेचना पर अधिक केन्द्रित रहा;

(3) प्राचीन सामाजिक दर्शन में नैतिक पक्षपात की प्रधानता देखने को मिलती है। इन विचारकों के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से केवल वही विचार प्रस्तुत किये जिससे

उन्हें तत्कालीन शासकों का विरोध सहना न पड़े। यूरोप के अलावा, बेबीलोनिया तथा मिस्र की प्राचीन सभ्यताओं से सम्बन्धित अनेक सामाजिक विचार भी दर्शन से ही प्रभावित रहें यहाँ राजा की ईश्वरीय शक्ति और उसकी भेदभावपूर्ण न्याय व्यवस्था का ही समर्थन किया गया। यहाँ तक कि दास प्रथा तक को समाज के लिए एक उपयोगी संस्था मान लिया गया। मतलब यह है कि भारत, यूरोप तथा मध्य एशिया में एक लम्बे समय तक व्यक्ति, परिवार और सामाजिक व्यवस्था के बारे में अनेक महत्वपूर्ण विचार दिये जाते रहे लेकिन ऐसे सभी विचारों को वैज्ञानिक विचार न कहकर उन्हें दार्शनिक विचवार करना ही अधिक उचित है।

यूरोप में पुनर्जागरण (RENAISSSANCE IN EUROPE)

शाब्दिक रूप से पुनर्जागरण का अर्थ है 'फिर से जागना'। सामाजिक विचारधारा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के सन्दर्भ में पुनर्जागरण का अर्थ उस काल से है जिसमें यूरोप के अनेक देशों में कुछ ऐसे बौद्धिक परिवर्तन स्पष्ट होने लगे जिनके प्रभाव से सामाजिक विचारों को एक नया रूप मिलना आरम्भ हो गया। यूरोप में पुनर्जागरण का काल 15वीं शताब्दी के आरम्भ से लेकर 16वीं शताब्दी के मध्य तक माना जाता है। इसी काल में यूरोप में एक ऐसी विचारधारा विकसित होना शुरू हुई जिसके प्रभाव से विभिन्न क्षेत्रों में वैज्ञानिक चिन्तन का महत्व बढ़ने लगा। अधिकांश विद्वान यह मानते हैं कि यूरोप में पुनर्जागरण का आरम्भ इटली में सन् 1439 में 'मानवतावादी अकादमी' की स्थापना के साथ हुआ। यह अकादमी जैसे-जैसे विभिन्न विद्वानों के विचार-विनिमय का केन्द्र बनती गयी प्राचीन विचारधारा को बहुत तेजी से अस्वीकार किया जाने लगा। इतिहासकार यह मानते हैं कि इटली से भी पहले यूनान बुद्धिजीवियों का एक बड़ा केन्द्र था। यूनान में राजनीतिक अस्थिरता हो जाने से सन् 1409 तथा 1423 के बीच इटली के अनेक विद्वान वहाँ से अनेक महत्वपूर्ण पुस्तकों की पाण्डुलिपियाँ लेकर वापस इटली आ गये।

सन् 1453 में जब तुर्कों के हाथों यूनान को पराजय का मुँह देखना पड़ा तो एक बड़ी संख्या में यहाँ के लोग यूनानी तथा लैटिन साहित्य के साथ इटली में आकर रहने लगे। बुद्धिजीवियों के इसी सम्पर्क से एक नये युग का सूत्रपात हुआ जो धीरे-धीरे यूरोप के अनेक देशों को प्रभावित करने लगा।

इटली में पुनर्जागरण (Renaissance in Italy)

इटली में पुनर्जागरण ने सबसे पहले वहाँ के साहित्यिक चिन्तन को प्रभावित करना शुरू किया। जब साहित्य को कल्पना से बाहर लाकर समाज के वास्तविक धरातल से जोड़ा जाने लगा तो दूसरे क्षेत्रों में भी वैज्ञानिक चिन्तन को बढ़ावा मिलने लगा। इस समय दान्ते, पैट्राक और बुकाचियों ने धर्मनिरपेक्ष और मानवतावादी चिन्तन की आवश्यकता पर बल दिया। इस काल में इटली की चित्रकला तथा स्थापत्य कला का पराम्परागत रूप भी बदलने लगा। लियानर्दो द विंची द्वारा 'वर्जिन ऑफ द राक्स' एवं 'मोनालिसा' के रूप में जो चित्र बनाये गये, उनका आज भी विश्व की चित्रकला में इसलिए बहुत महत्वपूर्ण स्थान है कि इनमें मानवतावादी चिन्तन को प्रमुख स्थान दिया गया है।

इटली में कला के माध्यम से धार्मिक सुधार आन्दोलन का भी सूत्रपात हुआ। उस समय ज्विंगली ने ज्यूरिख नगर के प्रशासन पर इस बात का दबाव डालना शुरू कर

दिया कि वह वहाँ के सभी गिरजाघरों से कलात्मक वस्तुएँ हटाकर उन्हें ऐसा रूप दिया जाय जिससे भाईचारे और मानवीय भावनाओं को प्रोत्साहन मिल सके। इटली में यूनानी साहित्य की सहायता से उन विचारों का प्रभाव बढ़ने लगा जो अन्धविश्वासों के विरोधी थे। 15वीं शताब्दी के मध्य से लेकर 16वीं शताब्दी के आरम्भ तक इटली में पुनर्जागरण की प्रक्रिया सभी क्षेत्रों में स्पष्ट होने लगी।

जर्मनी में पुनर्जागरण (Renoissance in Germany)

आरम्भ में जर्मनी में पुनर्जागरण की गति उतनी तेज नहीं रही जैसी कि यह इटली में थी। एक ओर इटली के सम्पन्न और प्रभावशाली वर्ग ने जहाँ नये चिन्तन को प्रोत्साहन दिया, वहीं जर्मनी के सम्भ्रान्त वर्ग द्वारा परम्पराओं का पक्ष लिया जाता रहा। इसके बाद भी समय-समय पर यथार्थवादी तथा आदर्शवादियों के विचार एक-दूसरे से अलग हो जाने के कारण धीरे-धीरे जर्मनी में भी यथार्थवादियों का प्रभाव बढ़ने से मानवतावादी विचारों में वृद्धि होने लगी। यहाँ मानवतावाद का पहला रूप धार्मिक क्षेत्र में स्पष्ट हुआ। 15वीं शताब्दी के मध्य में रिचलिन नाम के व्यक्ति ने सबसे पहले ईसाई धर्म की परम्परागत मान्यताओं का विरोध करना शुरू किया। इसी समय वॉनहटन ने चर्च में फैली अनेक बुराइयों, जैसे—पादरियों के पाखण्डवादी व्यवहारों, उनमें बढ़ती हुई अनैतिकता तथा भाई-भतीजावाद के विरुद्ध आवाज उठायीं वॉनहटन ने यहाँ तक घोषणा कर दी कि पोप ईसा मसीह का बसे बड़ा शत्रु है।

16वीं शताब्दी के प्रारम्भ में जर्मनी में मार्टिन लूथर द्वारा लिखी गयी पुस्तक 'न्यू टेस्टामेण्ट' का अनुवाद प्रकाशित हुआ। धर्म के मानवतावादी पक्ष पर अधिक जोर देना वाला यह अनुवाद इस कारण प्रकाशित हो सका कि 15वीं शताब्दी के अन्त में गुटेन बर्ग ने छापाखाने का आविष्कार करके एक नया इतिहास शुरू कर दिया था। इसी के फलस्वरूप न्यू टेस्टामेण्ट की प्रतियाँ लाखों की संख्या में मुद्रित होकर बिकने लगीं। मार्टिन लूथर ने प्रोटेस्टेण्ट धर्म के जिन नये सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया था, उनके प्रभाव से जर्मनी के सामाजिक तथा धार्मिक जीवन में पुनर्जागरण की नयी दशाएें पैदा होने लगा।

फ्रांस में पुनर्जागरण (Renaissance in Frace)

फ्रांस का बौद्धिक पुनर्जागरण यूरोप के दूसरे देशों की तुलना में कुछ अलग दिखायी देता है। यहाँ की बदलती हुई दशाओं में जो नया चिन्तन शुरू हुआ, वह वास्तविक अर्थों में धर्मनिरपेक्ष और मानवतावादी था। यहाँ मानवतावादी चिन्तन का आरम्भ 15वीं शताब्दी में रॉबर्ट गागिन के विचारों से हुआ। रॉबर्ट गागिन वैयक्तिक स्वतन्त्रता और मानव अधिकारों को बहुत अधिक आवश्यक मानते थे। रॉबर्ट गागिन के प्रभाव से जब अनेक दूसरे विचारकों ने भी परम्परागत ईसाई धर्म की रुढ़ियों का विरोध करना आरम्भ किया तो प्रोटेस्टेण्ट धर्म की नयी मान्यताओं को समाज के प्रबुद्ध वर्ग ने तेजी से ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया।

फ्रांस में पुनर्जागरण की दशा को इसी बात से समझा जा सकता है कि यूरोप में मानव अधिकारों की राजकीय घोषणा सबसे पहले फ्रांस में ही की गयी। जिस समय यूरोप के अधिकतर देश निरंकुश शासन में जीवन बिता रहे थे, उस समय फ्रांस में ही सबसे पहले मानवीय स्वतन्त्रता को मान्यता दी गयी।

मानवीय स्वतन्त्रता को स्पष्ट करते हुए यह घोषणा की गयी कि स्वतन्त्रता का अर्थ स्वेच्छा से उन कार्यों को करना है जिनसे दूसरे लोगों को नुकसान पहुँचने की सम्भावना न हो। इसके साथ ही धार्मिक स्वतन्त्रता को भी स्वीकार करते हुए फ्रांस के सम्राट द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को अपने विचारों को व्यक्त करने के अधिकार दिये गये।

इसके फलस्वरूप फ्रांस में एक ऐसा युग शुरू हुआ जिसे बहुत से लोग वैचारिक क्रान्ति का युग मानते हैं। इस वैचारिक क्रान्ति का आधार व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और मानवतावादी चिन्तन था।

इंग्लैण्ड में पुनर्जागरण (Renaissance in England)

इंग्लैण्ड तथा इटली के बीच एक लम्बे समय तक बहुत घनिष्ठ राजनीतिक सम्बन्ध रहने के कारण इंग्लैण्ड में पुनर्जागरण की प्रक्रिया इटली के प्रभाव से शुरू हुई। आरम्भिक स्तर पर साहित्य के माध्यम से इंग्लैण्ड के अनेक लेखकों ने तर्क तथा मानवतावाद के आधार पर यहाँ के सामाजिक चिन्तन को प्रभावित किया। 15वीं शताब्दी से ग्रोसिन ने अनेक लेखों द्वारा एक ऐसी बौद्धिक क्रान्ति को जन्म दिया जो मानवतावाद और उदारतावाद पर आधारित थी।

ग्रोसिन के बारे में यह कहा जाता है कि यद्यपि उन्होंने बहुत कम लिखा लेकिन अपने निष्पक्ष भाषणों के द्वारा तार्किक चिन्तन को आगे बढ़ाने में उनका योगदान बहुत महत्वपूर्ण है। थॉमस मूरे ग्रोसिन के प्रमुख शिष्य थे जिन्हें इंग्लैण्ड का महान् क्रान्तिकारी सामाजिक विचारक माना जाता है। थॉमस मूरे ने तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के विरोध में 'यूटोपिया नाम से एक ऐसी पुस्तक लिखी जो बहुत-से विद्वानों के लिए प्रेरणा का स्रोत बन गयी। 16वीं शताब्दी में हेनरी पंचम् के भाई ड्यूक हम्फ्री ने भी सम्भ्रान्त वर्ग के लोगों से मिलकर इंग्लैण्ड में एक नयी सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक चेतना पैदा करने में योगदान किया।

इंग्लैण्ड में पुनर्जागरण के जनक थॉमस मूरे को अपने क्रान्तिकारी विचारों के कारण सन् 1534 में मृत्यु-दण्ड दे दिया गया लेकिन उन्होंने जो विचार प्रस्तुत किये थे, उन्होंने एक तरह से सम्पूर्ण विश्व के चिन्तन को प्रभावित करना शुरू कर दिया।

सच तो यह है कि सामाजिक चिन्तन को कल्पना और धर्म से बाहर निकालकर वैज्ञानिक रूप देने के लिए बाद में सेण्ट साइमन, रॉबर्ट ओवन और आगस्त कॉम्ट आदि ने जो प्रबल किये, वे एक बड़ी सीमा तक थॉमस मूरे के विचारों से ही प्रभावित थे।

इन तथ्यों के बाद भी इंग्लैण्ड में पुनर्जागरण की प्रकृति यूरोप के दूसरे देशों से कुछ भिन्न हो गयी। पहली भिन्नता यह थी कि दूसरे देशों में जहाँ पुनर्जागरण का सम्बन्ध मुख्य रूप से वैयक्तिक स्वतन्त्रता, मानव अधिकारों तथा नयी राजनीतिक चेतना से रहा, वहीं इंग्लैण्ड में पुनर्जागरण के फलस्वरूप सामाजिक चिन्तन की एक नयी धारा विकसित होने लगी। इसके अतिरिक्त इंग्लैण्ड में धर्मनिरपेक्ष विचारों का प्रभाव अधिक होने के कारण यहाँ सामाजिक एकीकरण तथा राष्ट्रवाद की प्रक्रिया को अधिक प्रोत्साहन मिलने लगा। इसी के फलस्वरूप इंग्लैण्ड में चिकित्सा, प्रौद्योगिकी तथा विज्ञान के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण कार्य किये जाने लगे।

वास्तविकता यह है कि यूरोप का पुनर्जागरण केवल इटली, जर्मनी, फ्रांस और इंग्लैण्ड तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि धीरे-धीरे इसका असर यूरोप के अनेक दूसरे देशों में भी स्पष्ट

होने लगा। उदाहरण के लिए स्पेन और स्कोण्डेनेविया में पुनर्जागरण की प्रक्रिया 15वीं शताब्दी के अन्तिम काल से आरम्भ हुई। इसके फलस्वरूप धीरे-धीरे पूरे यूरोप में साहित्य, धर्म, सामाजिक चिन्तन और विज्ञान के क्षेत्र में पुनर्जागरण की प्रक्रिया तेज होने लगी।

NOTES

यूरोप में वैज्ञानिक चिन्तन का आरम्भ
(Beginning of Scientific Thought in Europe)

यूरोप में सोलहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक विभिन्न क्षेत्रों में होने वाले परिवर्तनों को वैज्ञानिक क्रान्ति का युग माना जाता है। यहाँ पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ से ही मानवतावादी चिन्तन तथा धर्मनिरपेक्ष विचारों के कारण पुनर्जागरण की जो प्रक्रिया शुरू हुई थीं, उससे तार्किक और वैज्ञानिक चिन्तन को प्रोत्साहन मिलने लगा। अनेक लोग यह मानते हैं कि यूरोप में 16वीं और 19वीं शताब्दी के बीच जो भी वैज्ञानिक आविष्कार हुए, उसका मुख्य कारण सामाजिक, प्राकृतिक और भौतिक घटनाओं को तार्किक दृष्टिकोण से देखना था। इस दृष्टिकोण से इस युग की उन वैज्ञानिक उपलब्धियों को संक्षेप में समझना आवश्यक है जिनके परिणाम स्वरूप धीरे-धीरे वैज्ञानिक चिन्तन में वृद्धि होने लगी।

यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि यूरोप में पुनर्जागरण से पहले लोगों के अधिकांश विचार साम्यवादी धार्मिक विश्वासी तथा राजा को अलौकिक शक्ति से प्रभावित थे। पुनर्जागरण के फलस्वरूप जब मानवतावादी धार्मिक विश्वासी तथा राजा की अलौकिक शक्ति से प्रभावित थे। पुनर्जागरण के फलस्वरूप जब मिलना शुरू हुआ। इस समय स्पेन और पुर्तगाल के नाविकों ने दुनिया के विभिन्न देशों को एक-दूसरे के सम्पर्क में लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। पुर्तगाली शासक हेनरी स्वयं एक कुशल नाविक था। उसने अफ्रीका पहुँचकर वहाँ की संस्कृतियों का ज्ञान प्राप्त किया। कोलम्बस ने भी लम्बी-लम्बी समुद्री यात्राएँ करके अनेक ऐसे वैज्ञानिक तथ्य स्पष्ट किये जिनकी सहायता से खगोलशास्त्र और प्राकृतिक विज्ञानों से सम्बन्धित बहुत-सी नयी खोजें करना सम्भव हो गया।

16वीं शताब्दी से पहले खगोलशास्त्र के क्षेत्र में टालमी के इसी विचार को सच माना जाता था कि सम्पूर्ण विश्व का केन्द्र पृथ्वी है तथा दूसरे सभी ग्रह और नक्षत्र पृथ्वी के ही चारों ओर घूमते हैं। 16वीं शताब्दी में कापरनिक्स ने मिस्र और यूनान के खगोलशास्त्र से अनेक तथ्यों को जानकारी प्राप्त करके यह स्पष्ट किया कि ब्राह्मण्ड का केन्द्र सूर्य है तथा पृथ्वी सूर्य के चारों ओर 24 घण्टों में एक चक्कर पूरा करती है। यह दूसरी बात है कि भारतीय खगोलशास्त्र में यह निष्कर्ष कापरनिक्स से बहुत पहले दिया जा चुका था। जब कापरनिक्स के विचारों के आधार पर ब्रूनो तथा बाड़े ने गहराई से विचार किया तो इस विचार को भी मान्यता मिलने लगी कि पृथ्वी के दोनों ध्रुवों का आकार कुछ बनता है। बाद में डेनमार्क के सम्राट की सहायता से एक बड़ी वेधशाला का भी निर्माण किया। कापरनिक्स के समर्थकों में गैलीलियो का नाम भी प्रमुख है जिन्होंने शक्तिशाली दूरबीन के उपयोग द्वारा चन्द्रमा के आकार का अध्ययन किया। गैलीलियो द्वारा अनेक ऐसी वैज्ञानिक घोषणाएँ की गयीं जो ईसाई धर्म को परम्परागत मान्यताओं के विरुद्ध थीं। इसी के फलस्वरूप समाज का सम्भ्रान्त और परम्परावादी वर्ग उनका विरोधी बन गया है। इस काल में गणित और गतिविज्ञान से सम्बन्धित अनेक प्रयोग करके भी विज्ञान के क्षेत्र में एक नया चिन्तन शुरू हुआ।

17वीं शताब्दी में हार्वे ने मानव की जीव-रचना और हृदय की कार्यविधि को समझने में सफलता प्राप्त कर ली। इस समय भौतिक विज्ञानों के क्षेत्र में जो प्रयोग किये गये, उन्हें बुद्धिजीवियों के एक बड़े वर्ग ने मान्यता देना आरम्भ कर दिया। इसी के फलस्वरूप सन्

1945 में लन्दन में एक 'रॉयल सोसायटी' की स्थापना की गयी। यहाँ विभिन्न देशों के वैज्ञानिकों को विचारों का आदान-प्रदान करके तार्किक निष्कर्ष तक पहुँचने की सुविधा मिलने लगी। लन्दन की रॉयल सोसायटी की सन् 1762 में सरकार द्वारा भी मान्यता दे दी गयी। इस प्रकार लन्दन और फ्रांस के यह संगठन वैज्ञानिक चिन्तन को प्रोत्साहन देने और वैज्ञानिकों को एक-दूसरे के पास लाने के केन्द्र बन गये।

पश्चिमी देशों में 16वीं शताब्दी से पहले एक जो सामाजिक चिन्तन चला आ रहा था, धार्मिक विश्वासों पर आधारित होने के कारण यह पूरी तरह धार्मिक या दार्शनिक विचारों से प्रभावित था। व्यावहारिक रूप से उस समय तक सामाजिक चिन्तन से कोई ऐसा बदलाव नहीं हो सका जिसके द्वारा व्यक्ति समाज के सम्बन्धों को तार्किक आधार पर स्पष्ट किया जा सके। 17वीं शताब्दी के प्रारम्भ में **फ्रांसिस बेकन** ने सामाजिक ज्ञान की तत्कालीन दशा पर भारी असन्तोष व्यक्त किया। उन्होंने अपनी पुस्तक सीख की प्रक्रिया' में सामाजिक ज्ञान को नये सिरे से विकसित करने पर बल दिया साथ ही अपने बहुत-से लेखों के द्वारा बेकन ने सामाजिक जीवन को वैज्ञानिक पद्धतियों की सहायता से समझने पर जोर देना आरम्भ कर दिया। 17वीं शताब्दी के अन्तिम समय में **थॉमस हॉब्स** सामाजिक चिन्तन के क्षेत्र में बहुत क्रान्तिकारी विचार प्रस्तुत किये। हॉब्स ने मानव और समाज के सम्बन्ध के स्पष्ट करने वाली परम्परागत मान्यताओं का विरोध करते हुए बताया कि समाज का निर्माण सामाजिक सम्पर्क का ही परिणाम है। उन्होंने मस्तिष्क और शरीर को एक-दूसरे से अलग मानने से इंकार करते हुए लिखा कि मस्तिष्क ही शरीर में गति पैदा करता है तथा इसी से मनुष्य की ऐसी क्षमताएँ प्राप्त होती है जो उसे एक सामाजिक प्राणी बनाती है। अप्रत्यक्ष रूप से थॉमस हॉब्स ने अलौकिक शक्तियों की जगह मस्तिष्क के प्रशिक्षण को ही व्यक्तित्व के विकास का आभार माना।

हॉब्स को ही परम्परा को आगे बढ़ाते हुए हयूगो प्रोटियस ने यह स्पष्ट किया कि सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक क्रियाओं का संचालन भी कुछ ऐसे नियमों पर आधारित है जो प्राकृतिक नियमों के ही समान होते हैं। इसी काल में **थॉमस मन** (Thomas Mun) ने ऐतिहासिक आधार पर अर्थशास्त्र और वाणिज्य के नियमों की व्याख्या प्रस्तुत की। 17वीं शताब्दी के इन विचारकों के अतिरिक्त जॉन लॉक ने मानव व्यवहारों का गहराई से अध्ययन करके विभिन्न समूहों के बीच पाये जाने वाले भिन्न-भिन्न व्यवहारों के कारणों की विवेचना करना आरम्भ कर दी।

जॉन लॉक के बाद **ह्यूम** तथा **कान्त** जैसे विचारकों ने मानवीय समस्याओं पर अपना ध्यान केन्द्रित किया तथा विभिन्न समस्याओं के कारणों और परिणामों पर प्रकाश डालने में विशेष योगदान किया। कान्त ने बतलाया कि मानवीय ज्ञान का सबसे प्रमुख आधार मानव के अनुभव हैं। जब इन अनुभवों में तार्किकता का समावेश हो जाता है, केवल तभी सामाजिक जीवन की वास्तविकताओं को समझना सम्भव हो पाता है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि यूरोप में सोलहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के शुरू तक एक ऐसा बौद्धिक वातावरण विकसित होता रहा जिसे सामाजिक दर्शन से वैज्ञानिक चिन्तन की ओर होने वाली परिवर्तन कहा जाता है।

समाजशास्त्र की ओर संक्रमण (Transition towards Sociology)

यह सच है कि उन्नीसवीं शताब्दी के शुरू तक यूरोप में अर्थशास्त्र राजनीतिकशास्त्र तथा मनोविज्ञान है सम्बन्धित अनेक वैज्ञानिक नियमों को स्पष्ट करने की परम्परा आरम्भ हो

चुकी थी लेकिन इस समय तक समाजविज्ञानियों का ध्यान प्रमुख रूप से आर्थिक और राजनीतिक जीवन तक ही सीमित रहा। इस समय तक किसी ऐसे विज्ञान की विकसित नहीं किया जा सका जो स्वतन्त्र रूप से सामाजिक दशाओं के अध्ययन से सम्बन्धित हो।

इन दशाओं के बीच सेण्ट साइमन वह पहले विद्वान थे जिन्होंने सन् 1824 में यह विचार रखा कि फ्रांस की क्रान्ति और इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति से होने वाली राजनीतिक और आर्थिक उथल-पुथल से हमारे समाज का ढाँचा इतना बदल चुका है कि इसका अध्ययन करने के लिए एक नये सामाजिक विज्ञान को विकसित करना जरुरी है। उन्होंने इस बात पर भी जोर दिया कि नये सामाजिक विज्ञान को भौतिक विज्ञानों की तरह ही वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित होना चाहिए तथा इसके अन्तर्गत सामाजिक घटनाओं की विवेचना और अवलोकन पर आधारित होना चाहिए तथा इसके अन्तर्गत सामाजिक घटनाओं की विवेचना और अवलोकन पर आधारित होना आवश्यक है।

इसी समय जेम्स मिल ने एक अर्थशास्त्री होते हुए भी एक ऐसे विज्ञान की आवश्यकता पर बल दिया जिसमें सम्पूर्ण समाज का अध्ययन किया जा सके। इस प्रकार कान्त, सेण्ट साइमन तथा जेम्स मिल के विचार अनेक दूसरे सामाजविज्ञानों के लिए प्रेरणा के स्रोत बन गये।

जेम्स मिल के विचारों का सबसे अधिक प्रभाव फ्रांसीसी विद्वान आगस्त कॉम्टे पर पड़ा। वह पहले विचारक थे जिन्होंने एक ऐसे सामाजिक विद्वान की रूपरेखा प्रस्तुत की जिसमें केवल सामाजिक घटनाओं का ही अध्ययन अवलोकन, प्रयोग और तथ्यों के वर्गीकरण के आधार पर उसी तरह होना चाहिए जिस तरह प्राकृतिक विद्वानों के द्वारा प्राकृतिक तथ्यों का अध्ययन अवलोकन और प्रयोग के द्वारा किया जाता है।

वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित इस नये सामाजिक विज्ञान को कॉम्टे ने 'सामाजिक भौतिकी' के नाम से सम्बोधित किया। उस समय के अनेक दूसरे समाजविज्ञानियों के सुझावों को ध्यान में रखते हुए कॉम्ट ने सन् 1838 में इस विद्वान को सामाजिक भौतिकी को जगह **'समाजशास्त्र'** (Sociology) के नाम से सम्बोधित किया। कॉम्ट ने यह स्पष्ट किया कि यूरोप में पुनर्जागरण के पश्चात् जो दशाएँ पैदा हुई है। उनमें सामाजिक चिन्तन के लिए समाजशास्त्र को ही सबसे महत्वपूर्ण विज्ञान के रूप में विकसित किया जा सकता है। समाजशास्त्र को एक विज्ञान के रूप में सबसे पहले कॉम्ट द्वारा प्रस्तुत करने के कारण ही उन्हें 'समाजशास्त्र का जनक' कहा जाने लगा। कॉम्ट ने सामाजिक घटनाओं के अध्ययन को धार्मिक तथा दार्शनिक चिन्तन से दूर रखते हुए इसका अध्ययन प्रत्यक्षवादी पद्धति से करने पर जोर दिया।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से लेकर इस शताब्दी के अन्त तक का समय समाजशास्त्रीय चिन्तन के विकास का काल माना जाता है। इस काल में एक ओर कॉम्ट ने समाजशास्त्र के रूप में एक नये सामाजिक विज्ञान की नींव रखीं तो दूसरी ओर डार्विन की पुस्तक 'प्राणियों की उत्पत्ति' में सृष्टि और जीवों की उत्पत्ति से सम्बन्धित अलौकिक विश्वासों और धार्मिक मान्यताओं का पूरी तरह खण्डन कर दिया गया। डॉर्विन ने उद्विकास के सिद्धान्त के द्वारा यह स्पष्ट किया कि सृष्टि में होने वाले जीवन सम्बन्धों सभी परिवर्तन सरलता से कठिनता की ओर होते हैं तथा प्रत्येक प्राणी को अपनी विभिन्न दशाओं से अनुकूलन करना आवश्यक होता है।

NOTES

अस्तित्व के लिए संघर्ष में केवल वे प्राणी ही जीवित रहते हैं जो अपनी विभिन्न दशाओं से अनुकूलन कर लेते हैं। डॉर्विन के विचार मूल रूप से जीवशास्त्र से सम्बन्धित थे लेकिन सामाजिक घटनाओं को वैज्ञानिक धरातल पर स्पष्ट करने में इन विचारों का काफी योगदान रहा।

कॉम्ट और डॉर्विन के विचारों से प्रभावित होने वाले विद्वानों में **हरवर्ट स्पेन्सर** का नाम सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। शुरू में स्पेन्सर की रुचि जीवविज्ञान, मनोविज्ञान और दर्शनशास्त्र में थी।

जब इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति से समाज में नयी दशाएँ पैदा होने लगीं तो स्पेन्सर की रुचि समाजशास्त्र की ओर बढ़ने लगी। सन् 1873 में समाजशास्त्र पर उनकी पहली पुस्तक 'The Study of Sociology' (समाजशास्त्र का अध्ययन) प्रकाशित हुई। इसी पुस्तक में उन्होंने समाजशास्त्र को एक स्वतन्त्र सामाजिक विज्ञान के रूप में विकसित करने पर बल दिया और यह सुझाव दिया कि समाजशास्त्र के अध्ययन के लिए प्राकृतिक विद्वानों के नियमों का अनुसरण किया जाए।

इसके पश्चात् अपने जीवन पर स्पेन्सर समाजशास्त्र के लेखन में ही लगे रहे। उनकी सबसे महत्वपूर्ण पुस्तक सन् 1896 में 'Priniciples of Sociology' (समाजशास्त्र के सिद्धान्त) के नाम से अनेक भागों से प्रकाशित हुई जिसे इंग्लैण्ड और यूरोप के अनेक दूसरे समाजविज्ञानियों द्वारा व्यापक मान्यता दी जाने लगी।

इसी काल में समाजशास्त्र के विकास में अनेक मानवशास्त्रियों ने भी विशेष योगदान करना शुरू कर दिया। इन मानवशास्त्रियों में टायलर जेम्स फ्रेजर तथा मार्गिन जैसे विचारकों के नाम बहुत महत्वपूर्ण हैं। इस समय के मानवशास्त्रियों ने भी संस्कृति, धर्म, परिवार और सामाजिक संरचना जैसे नियमों को बहुत तार्किक और क्रमबद्ध रूप से स्पष्ट करना शुरू किया। यह विचार परम्परागत धार्मिक मान्यताओं से बिल्कुल भिन्न थे। फ्रांस में दुर्खीम ने सबसे पहले समाजशास्त्र का वैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए नयी अध्ययन पद्धतियों प्रथा उनके नियमों को स्पष्ट किया। दुर्खीम वह पहले समाजशास्त्री थे जिन्होंने सामाजिक घटनाओं का आनुभाविक अध्ययन करके महत्वपूर्ण निष्कर्ष देना शुरू कर दिया।

उन्नीसवीं शताब्दी में जर्मनी के अनेक विद्वानों का भी समाजशास्त्र के विकास में प्रमुख योगदान रहा। यहाँ मैक्स बेवर ने सबसे पहले समाजशास्त्र में सामाजिक क्रियाओं के अध्ययन कर जोर देकर समाजशास्त्र की अध्ययन-वस्तु को स्पष्ट किया। वेबर का ध्यान मुख्य रूप से इस बात पर केन्द्रित रहा कि तार्किक और आनुभाविक आधार पर किस तरह सामाजिक घटनाओं की व्याख्या की जा सकती है। धर्म के समाजशास्त्र तथा राजनीतिक समाजशास्त्र को विकसित करने में भी उनका योगदान अधिक महत्वपूर्ण रहा। जर्मनी में ही कार्ल माक्स एक ऐसे विचारक के रूप में सामने आगे जिन्होंने सामाजिक संरचना को वर्ग संरचना से जोड़ते हुए आर्थिक और राजनीतिक आधार पर सामाजिक घटनाओं को समझने पर जोर दिया। इसके बाद भी अपने चिन्तन में उन्होंने अनेक ऐसी अवधारणाएँ विकसित की जिन्हें समाजशास्त्रीय अध्ययन में बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है। जर्मनी में टॉनीज, वॉन विज, सिमेल और वीरकान्त जैसे विचारकों ने भी समाजशास्त्र के विकास में प्रमुख योगदान किया।

इटली में समाजशास्त्र के विकास में परेटो का नाम सबसे मुख्य माना जाता है। मूल रूप से परेटो भी एक अर्थशास्त्री थे लेकिन कुछ ही समय में वह यह मानने लगे कि अर्थशास्त्र

तथा दूसरे सामाजिक विद्वानों का अध्ययन एक सीमित सन्दर्भ में होने के कारण इनमें आगे बढ़ने के लिए कुछ नहीं है।

इसी धारणा के का उनकी रुचि समाजशास्त्र के अध्ययन में बढ़ने लगी। इंग्लैण्ड में जेम्स मिल के पुत्र जॉन स्टुअर्ट मिल हॉवदा तथा गिन्सबर्ग ने समाजशास्त्रीय अध्ययनों को आगे बढ़ाने में गहरी रुचि लेना शुरू कर दी।

इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी से यूरोप में दूसरे सामाजिक विज्ञानों से समाजशास्त्र की ओर संक्रमण होना शुरू हुआ। वह बीसवीं शताब्दी में यूरोप के साथ अमरीका में भी तेजी से बढ़ने लगा। बीसवीं शताब्दी में यहाँ चार्ल्स गिडिप्स, सारोकिन, बर्गेन, पारसन्स और मर्टन जैसे विचारकों ने समाजशास्त्र को एक व्यवस्थित विज्ञान बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभानी शुरू कर दी।

वास्तविकता यह है कि यूरोप में सामाजिक दर्शन से समाजशास्त्र के वैज्ञानिक चिन्तन की ओर बढ़ने की जो प्रक्रिया आरम्भ हुई, उसमें पुनर्जागरण के अतिरिक्त कुछ नयी दशाओं में फ्रांस की क्रान्ति और इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति की सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है।

अध्याय का संक्षिप्त सार

सामाजिक चिन्तन अथवा सामाजिक विचारधारा का इतिहास उतना ही पुराना है जितना कि स्वयं समाज। आरम्भ में मानव जीवन पर प्राकृतिक दशाओं का प्रभाव बहुत अधिक होने के कारण मनुष्य ने अपनी समस्याओं को समझने का प्रयत्न किया। मानवीय ज्ञान में वृद्धि होने के साथ मनुष्य का चिन्तन धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक आदि अनेक शाखाओं में विभाजित होने लगा।

आज समाजशास्त्र के रूप में हम जिस सामाजिक चिन्तन को वैज्ञानिक चिन्तन का नाम देते हैं, वह भी सामाजिक चिन्तन के विकास की अनेक कड़ियों में से केवल एक कड़ी है।

उत्तर वैदिक काल में विकसित होने वाले कर्मकाण्डों और यज्ञ में दी जाने वाली बलि का व्यापक विरोध आरम्भ हुआ।

बौद्ध धर्म के संघों में सभी वर्णों के लोगों के साथ स्त्रियों को भी प्रवेश मिलने लगा। यूरोप में पुनर्जागरण से पहले लोगों के अधिकांश विचार परम्परावादी धार्मिक विश्वासों और राजा की अलौकिक शक्ति से प्रभावित थे। पुनर्जागरण के फलस्वरूप जब मानवतावादी चिन्तन और तार्किक विचारों का प्रभाव बढ़ने लगा तो इससे वैज्ञानिक खोजों को भी प्रोत्साहन मिलना आरम्भ हो गया।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. सामाजिक चिन्तन क्या है ? भारत में सामाजिक दर्शन के प्रभाव को स्पष्ट कीजिए।
2. यूरोप के सामाजिक दर्शन में प्लूटो और अरस्तू के योगदान की विवेचना कीजिए।
3. पुनर्जागरण का अर्थ स्पष्ट कीजिए। यूरोप में पुनर्जागरण का प्रभाव समझाइए तथा वैज्ञानिक क्रान्ति युग की उपलब्धियों की विवेचना कीजिए।

NOTES

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. तात्विक चिन्तन का काल किस युग को माना जाता है ? स्पष्ट कीजिए।
2. निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—
   (क) इटली में पुनर्जागरण
   (ख) जर्मनी में पुनर्जागरण
3. समाजशास्त्र की ओर हो रहे संक्रमण को संक्षेप में स्पष्ट कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. यूरोप में पुनर्जागरण किस देश से शुरू हुआ—
   (अ) इंग्लैण्ड (ब) इटली
   (स) फ्रांस (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
2. निम्न में से कौन एक विचारक इंग्लैण्ड के समाजशास्त्रियों में प्रमुख थे—
   (अ) हॉबहाउस (ब) मैकाइवर
   (स) सोरोकिन (द) मार्शल
3. सामाजिक तथ्यों का अध्ययन करने वाले विज्ञान को कॉम्ट ने कब 'सोशियोलॉजी' नाम से सम्बोधित किया—
   (अ) 1820 में (ब) 1857 में
   (स) 1838 में (द) 1868 में
4. यूरोप में ईसा पूर्व के सामाजिक विचारकों में निम्नांकित में से किस विचारक को बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है—
   (अ) जॉन लॉक (ब) अरस्तू
   (स) हॉब्स (द) प्लूटो
5. 'समाजशास्त्र के सिद्धान्त' के नाम से प्रकाशित होने वाली पहली पुस्तक किस सामाजिक विचारक द्वारा लिखी गयी—
   (अ) हरबर्ट स्पेन्सर (ब) दुर्खीम
   (स) आगस्त कॉम्ट (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
5. Ethics तथा Politics किसकी रचना हैं-
   (अ) प्लेटो (ब) अरस्तु
   (स) कॉम्ट (द) स्पेन्सर
6. 'अर्थशास्त्र' पुस्तक के लेखक कौन हैं-
   (अ) चन्द्रगुप्त मौर्य (ब) विष्णुगुप्त
   (स) समुन्द्रगुप्त (द) अशोक

उत्तरमाला

1 (ब) 2. (अ) 3. (स) 4. (द) 5. (अ) 6. (ब) 7. (ब)

●●

2 आगस्त कॉम्ट

NOTES

अध्याय में सम्मिलित विषय सामग्री

- उद्देश्य
- प्राक्कथन
- कॉम्ट का जीवन परिचय
- कॉम्ट की रचनाएँ
- समाजशास्त्र की कॉम्ट की देन
- समाजशास्त्र की अवधारणा
- समाजशास्त्र की विशेषताएँ
- समाजशास्त्र की शाखाएँ
- प्रत्यक्षवाद का अर्थ
- प्रत्यक्षवाद की विशेषताएँ
- अध्यान का संक्षिप्त सार
- परीक्षोपयोगी प्रश्न

उद्देश्य :

इस अध्याय अध्ययन के पश्चात् आप निम्न तथ्यों को समझ सकेंगे—

- प्राक्कथन
- कॉम्ट का जीवन परिचय
- कॉम्ट की रचनाएँ
- समाजशास्त्र की कॉम्ट की देन
- समाजशास्त्र की अवधारणा
- समाजशास्त्र की विशेषताएँ
- समाजशास्त्र की शाखाएँ
- प्रत्यक्षवाद का अर्थ
- प्रत्यक्षवाद की विशेषताएँ

NOTES

प्राक्कथन

फ्रांस के महान् आगस्त कॉम्ट को आधुनिक 'समाजशास्त्र का जनक' (Father of sociology) माना जाता है। कॉम्ट ही वह विचारक थे जिन्होंने सामाजिक चिन्तन को वैज्ञानिक रूप देकर समाजशास्त्रीय चिन्तन की एक नयी परम्परा को आरम्भ किया। उन्होंने सर्वप्रथम एक ऐसे सामाजिक विज्ञान की कल्पना की कर सके। शुरू में कॉम्ट ऐसे विज्ञज्ञन की **'सामाजिक भौतिकशास्त्र'** का नाम दिया लेकिन बाद में सन् 1838 में उन्होंने इसी विज्ञान को **'समाजशास्त्र'** (Sociology) नाम से सम्बोधित किया। इस विज्ञान की विषय सामग्री को स्पष्ट करने हुए **कॉम्ट** ने लिखा कि ''समाजशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र विभिन्न सामाजिक विज्ञानों में पायी जाने वाली एकता और सामाजिक व्यवस्थाओं को ज्ञात करना है जिससे सामाजिक जीवन को संगठित बनाया जा सके।'' इसी कारण उन्होंने समाज की रचना में व्यक्ति, परिवार एवं राज्य और सभी की महत्वपूर्ण स्थान दिया।

कॉम्ट के विचारों को प्रभावित करने में सन् 1780 में होने वाली **फ्रांस की क्रान्ति** का स्पष्ट योगदान रहा है। फ्रांस की क्रान्ति के परिणाम स्वरूप यूरोप में एक लम्बे समय से चली आ रही समान्तवादी व्यवस्था समाप्त हो गयी। इस समय कैथलिक चर्च के पादरियों की अलौकिक सत्ता समाप्त होने लगी। कुलीन वर्ग के पास कोई विशेष अधिकार नहीं रहे तथा जन साधारण की शक्ति बढ़ने लगा। इसी काल में सन् 1770 से लेकर 1830 के **बीच** इंग्लैण्ड में **औद्योगिक क्रान्ति** का दौर चला जिसने यूरोप ने अपने दूसरे देशों में नयी दशाएँ पैदा करके बौद्धिक वर्ग के चिन्तन को नयी दिशा देना शुरू कर दिया। इस समय जहाँ एक और मशीनों द्वारा बड़ी मात्रा के उत्पादन मे तेजी से वृद्धि हुई, दूसरी और परम्परागत कुटीर उद्योगों का तेजी से पतन होने लगा, बेरोजगारी में अभूतपूर्व बृद्धि हुई, नगरीय जनसंख्या में तेजी से वृद्धि होने लगी। औद्योगीकरण क्रान्ति के प्रभाव से पुरानी वर्ग व्यवस्था के स्थान पर एक नयी वर्ग व्यवस्था का उदय हुआ। इसके अन्तर्गत समाज पूँजीपति, मध्यम तथा मजदूर जैसे तीन मुख्य वर्गों में विभाजित हो गया।

फ्रांस की क्रान्ति और औद्योगिक क्रान्ति के प्रभाव से जब आर्थिक सामाजिक तथा राजनैतिक व्यवस्था में बदलाव होने लगा, तब समाज में अनेक ऐसी नयी समस्याएँ उत्पन्न होने लगी जिनका निराकरण वैज्ञानिक चिन्तन के होने लगा, तब समाज में अनेक ऐसी नयी समस्याएँ उत्पन्न होने लगी। जिनका निराकरण वैज्ञानिक चिन्तन के द्वारा ही किया जा सकता था। इन्हीं दशाओं के बीच कॉम्ट ने यह सोचना शुरू कर दिया कि समाजशास्त्र के रूप में एक ऐसे विज्ञान को विकसित करना आवश्यक है जिसमें सामाजिक व्यवस्था तथा सामाजिक प्रगति का अध्ययन केवल कल्पना और कुछ सिद्धान्तों के आधार पर नहीं किया जा सकता बल्कि इसके लिए सामाजिक घटनाओं का प्रत्यक्ष अवलोकरन परीक्षण और वर्गीकरण आवश्यक है।

इसी सन्दर्भ में कॉम्ट ने सामाजिक पुनर्निर्माण की एक ऐसी योजना भी प्रस्तुत की जिसके द्वारा फ्रांस की तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था की प्रगति की ओर ले आया जा सके। समाजशास्त्र के लिए कॉम्ट के योगदान को स्पष्ट करने से पहले उनके जीवन तथा कृतियों के बारे में संक्षेप में जानना जरूरी है।

पन्द्रवीं शताब्दी के मध्य में कुस्तुनतूनिया की पराजय बाद यूनान के बहुत-से दार्शनिक विचारक यूरोप की ओर पलायन करने लगे। इसमें से अधिकांश दार्शनिकों ने सबसे पहले

इटली में प्रवेश किया जिसके फलस्वरूप उस समय इटली में एक प्रकार की बौद्धिक क्रान्ति जन्म लेने लगी। शायद यही कारण था यूरोप में 'पुनर्जागरण' इटली से ही आरम्भ हुआ। इसके पश्चात् ही जर्मनी, फ्रांस तथा इंग्लैण्ड में सामाजिक चिन्तन को स्वस्थ रूप मिलना सम्भव हो सका। इस काल में यूरोप में देशों में हॉब्स, लॉक, तथा रूसों जैसे महान् विचारक हो सका। इस काल में यूरोप के देशों में हॉब्स, लॉक, तथा रूसों जैसे महान् विचारक उत्पन्न हुए जिनके विचारों में जनतन्त्र, मानवतावाद, वैयक्तिक स्वतन्त्रता और समानतास के सिद्धान्तों को एक स्पष्ट झलक दिखाई देने लगी। सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में थॉमस हॉब्स ने सामाजिक चिन्तन के क्षेत्र में एक नई विचारधारा प्रस्तुत करते हुए यह स्पष्ट किया कि समाज का निर्माण सामाजिक सम्पर्क से ही होता है। इसी परम्परा के बाद में, जॉन लॉक, हाम आदि अनेक विद्वानों ने अपने विचार प्रस्तुत करना शुरू किया।

अगस्त कॉम्ट ने समाज के वैज्ञानिक अध्ययन से सम्बन्धित जो विचार प्रतिपादित किये, उन का कान्त के विचारों का एक स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त कॉम्ट के चिन्तन का सेन्ट साइमन के प्रभाव की भी अवहेलना नहीं की जा सकती। इसके बाद भी यह सच है कि कॉम्ट ने समाजशास्त्रीय विचार एक बड़ी सीमा तक फ्रांस के मानवतावादी विचारों से प्रभावित हुए। फ्रांस की क्रान्ति ने जिन तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों को जन्म दिया, वे एक नयी मानवतावादी विचारधारा से प्रभावति थीं।

वास्तव में उन्नीसवीं सदी को वैज्ञानिकता मानवाद प्रजातन्त्र को जन्म देने वाली सदी के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इस सदी में प्रथम सामाजिक विचारक के रूप में अगसत कॉम्ट का फ्रांस की तत्कालीन परिस्थितियों से प्रभावित होना स्वाभावित था। यही कारण है कि कॉम्ट ने पहले विचारक हैं जिन्होंने सामाजिक चिन्तन में वैज्ञानिकता का समावेश करने का अथक प्रयास किया। उन्होंने केवल समाज के वैज्ञानिक अध्ययन को 'समाजशास्त्र' का नाम दिया बल्कि 'विज्ञानों के संस्तरण' जैसे सिद्धान्त प्रतिपादन करके समाजशास्त्र चिन्तन के इतिहास को एक नया मोड़ देते हुए समाजशास्त्र में प्रत्यक्षवादी पद्धति का उपयोग किया। इस दृष्टिकोण से जरूरी है कि कॉम्ट के जीवन एवं कृतित्व के सन्दर्भ में समाजशास्त्र के लिए उनके योगदान का मूल्यांकन किया जाये।

जीवन-परिचय एवं बौद्धिक पृष्ठभूमि
(LIFE-SKETCH AND INTELLECTUAL CONTEXT)

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रमुख विचारक तथा समाजशास्त्र के जनक आगस्त कॉम्ट का जन्म 19 जनवरी, 1798 को दक्षिण फ्रांस के मॉन्टपेलियर नामक स्थान में एक कैथॉलिक परिवार में हुआ था। इनका पूरा नाम 'इसीडोर आगस्त मेरी फ्रान्कोयस जेवियर कॉम्ट (Isidore Auguste Marie Francois Xavier Comte) था। फ्रांसीसी भाषा में इनके नाम का उच्चारण **'आगस्त कॉम्ट'** किया जाता है। कॉम्ट के पिता राजस्व-कर विभाग में एक साधारण अधिकारी थे जहाँ उन्हें एक कट्टर राजभव (ardent loyalist) के रूप में देखा जाता था। उनके परिवार की आर्थिक दशा सामान्य कोटि की थी। अपने प्रारम्भिक जीवन में माता-पिता के प्रभाव के कारण कॉम्ट भी कॉम्ट भी कैथॉलिक धर्म को शिक्षाओं में विश्वास करते थे लेकिन धीरे-धीरे उन्होंने कैथॉलिक धर्म के कट्टर आचरणों का विरोध करना शुरू कर दिया। बचपन से ही कॉम्ट में दो विशेषताएँ स्पष्ट होने लगीं थीं—पहली यह कि उनमें एक प्रखर बौद्धिक क्षमता थी तथा दूसरी यह कि उनका तत्कालीन सामाजिक तथा

राजनीतिक सत्ता में अधिक विश्वास नहीं था। बचपन से ही अपनी मेधावी प्रतिभा के कारण उन्हें अनेक पुरस्कार प्राप्त होने लगे। कॉम्प को यह बिल्कुल पसन्द नहीं था कि किसी विशेष विचार अथवा सिद्धान्त को उनके ऊपर थोपा जाय। इन्हीं विशेषताओं के कारण उनके मित्र आर सहयोगी उन्हें एक दार्शनिक (फिलास्फर) कहने लगे। कॉम्ट की प्रारम्भिक शिक्षा अपने मॉन्टपेलियर में ही हुई। उसके बाद की शिक्षा के लिए उन्हें पेरिस के एक पॉलीटेक्नीक स्कूल में प्रवेश दिलाया गया। उन्होंने वहाँ के कार्यक्रमों में सक्रिय रूप से भाग लेना शुरू कर दिया तथा स्कूल के एक भ्रष्ट प्राध्यापक को वहाँ से निष्कासित करवाने में भी कॉम्ट ने सक्रिय योगदान किया।

इन गतिविधियों के कारण कॉम्ट न केवल अपने मित्रों में लोकप्रिय हो गये बल्कि स्थानीय राजनीतिज्ञों ने भी उनकी प्रशंसा करना शुरू कर दिया। कॉम्ट ने तेरह वर्ष की आयु में ही अपने परिवार के राजनीतिक तथा धार्मिक को छोड़कर स्वतन्त्र को छोड़कर स्वतन्त्र रूप से चिन्तन करना शुरू दिया। चौदह वर्ष की आयु में उन्होंने सामाजिक पुनर्निर्माण के विषय में चिन्तन आरम्भ कर दिया जबकि सोलह वर्ष की आयु में ही कॉम्ट ने गणित पर कुछ इतने सारगर्भित व्याख्यान दिये कि उनकी लोकप्रिय तेजी से बढ़ने लगी। स्पष्ट है कि कॉम्ट ने बहुत कम आयु से ही अपने आप को एक निर्भीक और स्वतन्त्र विचारक के रूप में स्थापित करना आरम्भ कर दिया था।

कॉम्ट अपने अध्ययन के दौरान फ्रांस के एक प्रमुख विचारक **बेन्जामिन फ्रेकलिन** से भी अत्यधिक प्रभावित थे। कॉम्ट उन्हें आधुनिक सुकरात के रूप में दखते थे तथा उनकी जीवन-पद्धति का अनुकरण करना चाहते थे। अपने स्कूल के एक मित्र को इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा, ''मैं आधुनिक सुकरात अर्थात् बेन्जामिन फ्रेंकलिन का अनुकरण करना चाहता हूँ, उनकी बौद्धिक क्षमता का नहीं बल्कि उनकी जीवन-पद्धिति का।'' कॉम्ट जब बीस वर्ष की आयु के थे, तब वह उस समय के प्रमुख विचारक और दार्शनिक **सेन्ट साइमन** के सम्पर्क में आये। उन दोनों का घनिष्ठ सम्पर्क सन् 1818 से 1824 तक बना रहा। अपनी क्षमता और कार्य प्रणाली से सेन्ट साइमन को प्रभावित करके वह उनके निजी बन गये। इसके बाद भी कुछ विद्वानों का विचार है कि सेन्ट साइमन ने केवल उन्हीं विचारों को पुष्ट किया जो बीज रूप में कॉम्ट के मस्तिष्क में थे। इसे स्पष्ट करते हुए **कोजर** (coser) ने लिखा है कि ''यह कहना उचित होगा कि कॉम्ट सेन्ट साइमन से बहुत अधिक प्रभावित थे और एक बड़ी सीमा तक उन्हीं के विचारों के अपने विचारों को आगे बढ़ाने में सफल हो सके।'' सेन्ट साइमन को कॉम्ट ने दो मुख्य बातें ग्रहण की—पहली यह कि विज्ञानों के बीच एक वस्तुनिष्ठ वर्गीकरण होना चाहिए और दूसरी यह कि दर्शन का वास्तविक उद्देश्य सामाजिक वास्तविकताओं को उजागर करना होना चाहिए। इसी आधार पर कॉम्ट यह मानने लगे कि सामाजिक चिन्तन का उद्देश्य नैतिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं का पुनर्गठन करना है। इतना होते हुए भी कॉम्ट और सेन्ट साइमन के दृष्टिकोण में एक स्पष्ट अन्तर था। सेन्ट साइमन आत्म-अनुभूति के आदर्श पर अधिक जोर देते थे, जबकि कॉम्ट एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था के पक्ष में थे जिसमें मानव सच्चरित्र, संयमी तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण वाला बन सके। इसके साथ ही सेन्ट साइमन के विचारों में उतनी वैज्ञानिकता तथा क्रमबद्धता नहीं थी जो कॉम्ट के विचारों में देखने को मिलती है। सेन्ट साइमन एक समाजवादी विचारक थे तथा सामाजिक व्यवस्था में क्रान्तिकारी बदलाव लाना चाहते थे। दूसरी ओर, कॉम्ट को इस दृष्टिकोण से एक विकासवादी कहा जा सकता है कि

वह सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए धीरे-धीरे क्रमिक परिवर्तन को अधिक महत्व देना चाहते थे। सेन्ट साइमन और कॉम्ट के सम्बन्धों में सन् 1824 से तब दरार पड़ना शुरू हो गयी जब कॉम्ट ने सेन्ट साइमन के कुछ अनुयायियों पर यह आरोप लगाया कि वे कॉम्ट के विचारों को सेन्ट साइमन के नाम से प्रचारित कर रहे है।

इसी समय कॉम्ट ने 'पॉजिटिव फिजिक' नाम से लिखे गये एक लेख के द्वारा भी सेन्ट साइमन के क्रान्तिकारी और तीव्र परिवर्तन से सम्बन्धित विचारों की आलोचना करना शुरू कर दिया। बाद में कॉम्ट के सेन्ट साइमन के सम्बन्ध में यहाँ तक टिप्पणी करना आरम्भ कर दिया कि वह एक 'नीम हकीम' (depraved quack) हैं तथा सामाजिक जीवन को व्यवस्थित बनाने के लिए उनके पास कोई वैज्ञानिक कार्यक्रम नहीं है।

सन् 1835 में कॉम्ट के जीवन का एक दु:खद अध्याय तब शुरू हुआ जब उन्होंने कॉरोलिन मौसिन के साथ अपना विवाह किया। पत्नी के झगड़ालू और आलोचक स्वभाव के कारण उनका पारिवारिक जीवन कष्टपूर्ण हो गया। इस दु:खी जीवन को भुलाने के लिए कॉम्ट अपना अधिकाधिक समय अध्ययन और लेखक कार्य में व्यतीत करने लगे। आर्थिक साधन और प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिए उन्होंने सन् 1826 में विभिन्न विषयों पर व्याख्यान देना शुरू कर दिया। इन्हीं व्याख्याओं के दौरान कॉम्ट ने अपने उस प्रत्यक्षवाद (Positivism) की रूपरेखा भी प्रस्तुत की जिसे बाद में समाजशास्त्र के लिए कॉम्ट के सबसे बड़े यागदान के रूप में देखा जाने लगा। अध्ययन, चिन्तन और लेखन में बहुत अधिक व्यस्त रहने के कारण सन् 1827 में कॉम्ट भयंकर मानसिक रोग से ग्रस्त हो गये लेकिन एक वर्ष के बाद ही स्वस्थ होने पर उन्होंने पुन: व्याख्यान देना आरम्भ कर दिया। सन् 1830 में उनकी महान कृति 'द कोर्स ऑफ पॉजिटिव फिलॉसफी' का प्रथम खण्ड प्रकाशित हुआ। यह पुस्तक छ: खण्डों में विभाजित है जिसका अन्तिम खण्ड सन् 1842 में प्रकाशित हुआ। पारिवारिक सम्बन्ध लगातार तनावपूर्ण रहने के कारण सन् 1842 में ही कॉम्ट और उनकी पत्नी के बीच तलाक हो गया। विवाह-विच्छेद के बाद कॉम्ट एकान्त जीवन पसन्द करने लगे लेकिन फिर भी वह गम्भीर चिन्तन में लगे रहे। सन् 1844 में कॉम्ट एक चिन्तनशील महिला क्लोटाइल डी वॉक्स के सम्पर्क में आये। इस महिला की मित्रता से उनके विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन होने लगे तथा कॉम्ट स्त्रियों के सच्चे प्रशंसक बन गये। आर्थिक कठिनाइयों के बाद भी सन् 1846 में डी बॉक्स की मृत्यु के साथ कॉम्ट का सुखद जीवन समाप्त हो गया। यहीं से कॉम्ट ने अपने आपको मानवता के पुनर्निर्माण के लिए समर्पित कर दिया। मानवता के पुनिर्निर्माण से सम्बन्धित उनके विचार कॉम्ट की एक अन्य महान कृति 'System of Positive Policy' में स्पष्ट हुए जो सन् 1854 के बीच चार भागों में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में कॉम्ट ने सामाजिक पुनर्निर्माण की एक अनूठी रूपरेखा प्रस्तुत की। सामाजिक पुनर्निर्माण की योजना में कॉम्ट ने विज्ञान के स्थान पर आध्यात्मिक तथा नैतिक आदर्शों को अधिक महत्व दिया तथा सहनशीलता व न्याय को सामाजिक पुनर्गठन के लिए आवश्यक माना। मानवता के धर्म को स्थापित करने के लिए कॉम्ट ने परस्पर विरोधी विश्वासों तथा आचरणों का समन्वय करने और उनमें एकीकरण स्थापित करने पर बल देना शुरू कर दिया। स्त्रियों को प्रेम का प्रतीक मानते हुए सामाजिक पुनर्निर्माण की योजना में उन्होंने स्त्रियों को नैतिक शक्ति का संचालन करने वाला प्रमुख माध्यम मान लिया। स्पष्ट है कि इस पुस्तक में कॉम्ट ने जो विचार प्रस्तुत किये, वे इससे पहले लिखी गयी पुस्तक 'Poisitive Philosphy' के विचारों से बिल्कुल भिन्न थे। इसी कारण उनके

अनुयायी जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill) तथा लितरे (Littre) जैसे विद्वान उनकी इस पुस्तक को पढ़कर इतने दु:खी और निराश हुए कि उन्होंने इस पुस्तक को कॉम्ट के बौद्धिक जीवन के पतन के रूप में मानना शुरू कर दिया।

NOTES

एक प्रमुख विचारक होने के बाद भी कॉम्ट की आर्थिक स्थिति सदैव ही दयनीय रही। अपने व्याख्यानों से मिलने वाली राशि उनके लिए बहुत कम थी। 'The Course of Positive Philosphy' पुस्तक प्रकाशित होने के बाद जब तक पॉलीटेक्नीक स्कूल के परीक्षक भी बन गये, तब उनकी आर्थिक स्थिति में कुछ सुधार होने लगा। इसके पश्चात् भी उनके अनुयायी कॉम्ट के लिए चन्दा एकत्रित करके कभी-कभी उनकी सहायता कर देते थे। कॉम्ट ने स्वयं भी कभी ऐसा सहायता लेने से इन्कार नहीं किया। इसके विपरीत उन्हें यह शिकायत रही कि उन्हें आर्थिक सहायता के रूप में बहुत कम राशि प्राप्त हो पाती है। शायद यह उनके चरित्र की एक ऐसी दुर्बलता थी जिसके लिए अनेक लोगों ने कॉम्ट की कटु आलोचना की है।

वास्तविक यह है कि कॉम्ट की रचनाओं तथा उनके चिन्तन में एक असाधारण प्रतिभा स्पष्ट होती है। अनेक बाधाओं का सामना करते हुए भी कॉम्ट अपने विचारों पर अटल रहे तथा कठिन परिश्रम से समाजशास्त्र जैसे नये विषय को विज्ञान का रूप देने का प्रयास करते रहे। उनकी रचना-शैली, असाधारण स्मरण शक्ति तथा परिपक्व विचारों के कारण आलोचकों की तुलना में उनके प्रशंसकों की संख्या काफी अधिक थी। जिन लोगों ने भी कॉम्ट की रचनाओं का सावधानी से अध्ययन किया, वे धीरे-धीरे उनके प्रशंसक बनते गये। सन् 1857 में समाजशास्त्र के जनक कॉम्ट कैंसर की बीमारी से ग्रस्त हो गये तथा 5 सितम्बर, 1857 को कॉम्ट की मृत्यु हो गयी। कॉम्ट की मृत्यु के बाद भी उनके विचारों ने उन्हें अमर कर दिया। उनके चिन्तन की व्यापकता पर प्रकाश डालते हुए **बार्न्स** (Barnes) ने लिखा है, ''सामाजिक सिद्धान्तों तथा सांस्कृतिक इतिहास के क्षेत्र में ऐसी कम ही समस्याएँ हैं जिन पर काम्ट ने विचार न किया हो। **रेमन्ड एरों** (Ramond Aron) ने समाजशास्त्र के लिए कॉम्ट के योगदान को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ऑगस्त कॉम्ट को मानवीय तथा सामाजिक एकता को स्थापित करने वाला प्रथम समाजशास्त्री कहा जा सकता है।

कॉम्ट की रचनाएँ

कॉम्ट ने अपने संघर्षपूर्ण बौद्धिक जीवन में जिन ग्रन्थों की रचना की वे ग्रन्थ समाजशास्त्र को एक नवीन विज्ञान के रूप में प्रतिस्थापित करने में महत्वपूर्ण सिद्ध हुए। इनमें से कॉम्ट की कुछ कृतियाँ इस प्रकार हैं—

(1) **ए प्लान ऑफ द साइन्टिफिक आपरेशन्स नैसेसरी फॉर रीआगर्रेनाइजिंग सोसाइटी (A Plan of the Scientific Operations Necessary for Recoganising Society)**—इस पुस्तक का प्रकाशन सन् 1822 में हुआ जिसमें काम्ट ने समाज को पुर्नगठित तथा संचालित करने हेतु कुछ वैज्ञानिक योजनाओं की चर्चा की है। इस पुस्तक में कॉम्ट ने अपने समय के समाज की संरचना का उल्लेख भी किया है। इसके प्रकाशन के बाद कॉम्ट ने यह अनुभव किया कि केवल सामाजिक संरचना के पुनर्गठन की योजना ही पर्याप्त नहीं है अपितु सामाजिक संरचना के पुनर्गठन के सन्दर्भ में सामाजिक नीति का व्यवस्थित परीक्षण भी जरूरी है। इस अनिवार्यता की पूर्ति हेतु कॉम्ट ने दूसरे ग्रन्थ की रचना की।

NOTES

(2) **सामाजिक नीति अथवा सिस्टम ऑफ पाजिटिव पालिटी (System of Positive Polity)**—यह पुस्तक कॉम्ट के सम्पूर्ण चिन्तन की वैज्ञानिकता एक प्रश्न-चिन्ह लगा देती है क्योंकि कॉम्ट द्वारा लिखित यह ग्रन्थ आध्यात्मिक व नैतिक आदर्शों की आवश्यकता पर जोर देता है। कॉम्ट ने इस पुस्तक में स्त्रियों से सम्बन्धित अपने विचारों को अत्यन्त उदार रूप में प्रस्तुत करते हुए स्त्रियों के दैविक गुणों को अतिवादी रूप में स्पष्ट किया है। इस प्रकार कॉम्ट ने अपनी प्रथम पुस्तक में जो विचार प्रस्तुत किये, इस दूसरी पुस्तक के विचारों से उन्होंने स्वयं ही वैज्ञानिक चिन्तन पर एक प्रश्न-चिन्ह लगा दिया। कॉम्ट के वैज्ञानिक चिन्तन में आध्यात्मिकता का यह प्रवेश उनके जीवन को एक घटना से ही सम्बद्ध माना जाता है। सन् 1845 में कॉम्ट का परिचय एक महिला श्रीमती डी वॉक्स (Mrs. de Vaux) से हुआ। 1846 में ही श्रीमती डी वॉक्स की मृत्यु हो जाने के कारण यह सम्पर्क तो बहुत अल्पकालित रहा किन्तु कॉम्ट के सम्पूर्ण जीवन का प्रभावित जरूर कर गया। श्रीमती डी वॉक्स के आध्यात्मिक गुणों से अभिभूत होकर ही कॉम्ट ने इस ग्रन्थ में लिखा कि ''सामाजिक पुनर्गठन या पुनर्निमाण में आध्यात्मिक तथा नैतिक आदर्शों का समायोजन अत्यन्त अनिवार्य है।'' इस पुस्तक का प्रकाशन 1851 से 1854 के बीच चार भागों में हुआ। इसकी आलोचना करते हुए जॉन स्टुअर्ट मिल ने लिखा कि इस पुस्तक के कॉम्ट ने अपने वैज्ञानिक चिन्तन को स्वयं ही निर्ममता से हत्या कर दी।

(3) **ओप्सक्यूल्स (Opuscules)**—कॉम्ट द्वारा लिखित यह पुस्तक उनके पूर्वोक्त विचारों की पुष्टि से ही सम्बन्धित है जिसका प्रकाशन 'सिस्टम ऑफ पाजिटिव पालिटी' के चार अध्यायों के पश्चात् हुआ। इस पुस्तक में उन्होंने यूरोपीय समाज के इतिहास में पाये जाने वाली गतिशीलता का विश्लेषण किया है। इस पुस्तक में कॉम्ट ने पूर्ववर्ती समाज तथा मध्यकालीन समाज और आधुनिक समाज का विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए अध्यात्मवादी समाज और सैनिक सत्ता आदि का उल्लेख किया है।

(4) **द कोर्स ऑफ पाजिटिव फिलासफी (The Course of Positive Philosophy)**—कॉम्ट द्वारा लिखित इस पुस्तक का प्रकाशन सन् 1830 से 1842 के बीच 6 भागों में हुआ। इस पुस्तक में कॉम्ट ने अपने वैज्ञानिक चिन्तन का उल्लेख करते हुए प्रत्यक्षवादी विश्लेषण के रूप में समाजशास्त्र के लिए एक नये पद्धतिशास्त्र को विकसित किया। इस पुस्तक में कॉम्ट ने अन्य विज्ञानों के सन्दर्भ में समाजशास्त्र की प्रतिस्थिति को स्पष्ट किया। सच तो यह है कि समाजशास्त्र से सम्बन्धित कॉम्ट के सभी महत्वपूर्ण विचार इसी पुस्तक में संग्रहीत हैं। उन्होंने इस पुस्तक में प्रगति का अधिक गहन अर्थ व्यक्त करते हुए प्रगति की सार्वभौमिक उपयोगिता को महत्व प्रदान किया। ओप्सक्यूल्स नामक पुस्तक में वर्णित मानव उद्विकास तथा विज्ञानों के संस्तरण का परिष्कृत रूप भी वास्तव में 'पाजिटिव फिलासफी' के विभिन्न खण्डों में ही प्रस्तुत किया गया है। यही कारण है कि इस पुस्तक को समाजशास्त्र के लिए कॉम्ट के सर्वोत्तम योगदान के रूप में स्वीकार किया गया है।

समाजशास्त्र को कॉम्ट की देन
(CONTRIBUTION OF COMTE TO SOCIOLOGY)

ज्ञान के क्षेत्र में प्रत्येक विचारक का अपना एक विशेष दृष्टिकोण होता है तथा इसी दृष्टिकोण के आधार पर सदैव से ज्ञान की नयी-नयी शाखाओं का विकास होता रहा है।

यह सच है कि समाजशास्त्र को एक स्वतंत्र विज्ञान के रूप में विकसित करने के लिए कॉम्ट ने अनेक सिद्धान्तों तथा विचारों का प्रतिपादन किया लेकिन उनके अनेक विचार विवाद का विषय बने रहे। समाजशास्त्र के लिए कॉम्ट ने जो योगदान किया, उसका मूल्यांकन इस दृष्टिकोण से करना उचित नहीं है कि वे कितने अधिक वैज्ञानिक है बल्कि यह मूल्यांकन इस दृष्टिकोण से किया जाना चाहिए कि समाजशास्त्र की स्थापना स्तर पर कॉम्ट के प्रयास किस सीमा तक सार्थक सिद्ध हुए। समाजशास्त्र को कॉम्ट की सामान्य देन को उनके निम्नलिखित विचारों तथा सिद्धान्तों तथा सिद्धान्तों की सहायता से समझा जा सकता है।

(1) **समाजशास्त्र के जनक** (Father of Sociology)—कॉम्ट वह पहले विद्वान थे जिन्होंने सन् 1838 में सामाजिक व्यवस्था तथा प्रगति की वैज्ञानिक अध्ययन करने वालो विज्ञान का नाम 'समाजशास्त्र' (Sociology) रखा। कॉम्ट से पहले बहुत-से विद्वानों ने सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों की व्याख्या की थी लेकिन सभी व्याख्याएँ दर्शन, राजनीतिशास्त्र तथा किसी-न-किसी रूप में अर्थशास्त्र से सम्बन्धित थीं। कॉम्ट से पहले किसी भी दूसरे विद्वान ने समाजशास्त्र जैसे एक अलग सामाजिक विज्ञान की जरूरत महसूस नहीं की। अपनी इसी सूझ-बूझ के कारण आज भी कॉम्ट की समाजशास्त्र के जनक के रूप में स्वीकार किया जाता है।

(2) **चिन्तन के तीन स्तरों का नियम** (Law of Third Stages)—कॉम्ट ने पहले विकासवाद के आधार पर अनेक विद्वानों ने सामाजिक घटनाओं की विवेचना की थी। कॉम्ट का स्वयं यह विश्वास था कि ऐतिहासिक पद्धति की सहायता से ही सामाजिक घटनाओं का समुचित विश्लेषण किया जा सकता है। इस आधार पर उन्होंने 'समाजशास्त्र' शब्द के विधिवत् उपयोग से पहले ही 24 वर्ष की छोटी आयु में 'चिन्तन के तीर स्तरों का नियम' प्रतिपादित किया। इस नियम के द्वारा कॉम्ट ने यह स्पष्ट किया कि चिन्तन का प्रक्रिया का विकास अनेक स्तरों से गुजर कर होता है। इसका पहला स्तर धार्मिक है, दूसरा तात्विक तथा तीसरा वैज्ञानिक। कॉम्ट के तीन स्तरों के नियम को इसलिए भी बहुत महत्व दिया कि सामाजिक विकास का अध्ययन मानव के बौद्धिक विकास की अवस्थाओं या इन तीन स्तरों के आधार पर ही किया जा सकता है।

(3) **प्रत्यक्षवाद की स्थापना** (Establishment of Position)—कॉम्ट का यह दृढ़ विश्वास था कि जिस तरह वैज्ञानिक पद्धति की सहायता से प्राकृतिक विज्ञानों का तेजी से विकास हुआ, उसी तरह समाजशास्त्र को भी वैज्ञानिक रूप तभी दिया जा सकता है जब एक वैज्ञानिक पद्धति के द्वारा सामाजिक नियमों की खोज की जाय। समाजशास्त्र में इस वैज्ञानिक पद्धति को अवलोकन प्रयोग और वर्गीकरण की सहायता से ही विकसित किया जा सकता है। अध्ययन की इसी पद्धति को कॉम्ट ने 'प्रत्यक्षवाद' का नाम दिया। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि सामाजिक अध्ययनों के लिए प्रत्यक्षवाद के रूप में कॉम्ट की यह एक ऐसी देन है जिसमें लगातार प्रगति होती जा रही है।

(5) **समाज की सावयवी अवधारणा** (Organic Concept of Society)—समाजशास्त्र के लिए कॉम्ट की एक महत्वपूर्ण देन उसके द्वारा समाज को सावयवी अवधारणा को एक नये रूप में प्रस्तुत करना है। कॉम्ट से पहले अरस्तू ने सामाजिक संगठन के

सन्दर्भ में प्रयास समाज की जिस सावयवी अवधारणा की व्याख्या की थी। कॉम्ट ने उसे अधिक व्यावहारिक रूप देने का प्रयास किया। अरस्तू ने विचारों में व्यक्तिगत को अधिक महत्व था जबकि कॉम्ट ने सामूहिक चेतना के आधार पर समाज की संरचना को स्पष्ट किया। उन्होंने बताया कि समाज का निर्माण सामाजिक चेतना के आधार पर होता है इसलिए समाज एक सामूहिक सावयव है। इस अवधारणा के द्वारा कॉम्ट ने यह भी माना कि सामाजिक व्यवस्था का वास्तविक आधार व्यक्तियों में कार्यों के सही वितरण तथा प्रयत्नों के मेल से है। जिस तरह सावयव के विभिन्न अंगों के बीच कार्यों के वितरण तथा प्रयत्नों के मेल से सावयव सन्तुलित रहता है, उसी तरह सामाजिक व्यवस्था और प्रगति भी तभी सम्भत है जब व्यक्तियों तथा समूहों के बीच कार्यों का वितरण और प्रयत्नों का मेल सही रूप में हो।

(6) **समाजशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र का निर्धारण** (Determination of the Scope of Sociology)—अपने से पहले के विचारकों की तरह कॉम्ट ने यह मान लिया था कि प्रत्येक समाज का विकास कुछ समान नियमों के अन्तर्गत होता है। इन नियमों को स्पष्ट करने के लिए कॉम्ट ने समाजशास्त्रीय अध्ययन को दो मुख्य भागों में विभाजित किया—(1) सामाजिक स्थितिकों तथा (2) सामाजिक गत्यात्मकता। सामाजिक स्थितिकी का सम्बन्ध सामाजिक व्यवस्था और प्रगति के उन नियमों की खोज से है जो समाज में व्यवस्था को बनाये रखते हैं। दूसरी ओर, प्रत्येक समाज में कुछ ऐसे भी नियम पाये जाते हैं जो परिवर्तन के रूप और विकास की दिशा को निर्धारित करते हैं। इस दृष्टिकोण से सामाजिक स्थितिकी तथा सामाजिक गत्यात्मकता समाजशास्त्र को दो प्रमुख शाखाएँ हैं और इन्हीं से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों का समाजशास्त्र में अध्ययन किया जाना चाहिए।

(7) **सामाजिक पुनर्निमाण की योजना** (Plan of Social Reconstruction)—कॉम्ट प्रत्यक्षवाद अथवा वैज्ञानिक पद्धति के द्वारा सामाजिक व्यवस्था तथा सामाजिक प्रगति के अध्ययन पर जोर देना चाहते थे। इसी प्रयत्न में उन्होंने सामाजिक पुननिर्माण की एक ऐसी योजना प्रस्तुत की जिसके द्वारा तत्कालीन पूँजीवादी व्यवस्था की बुराइयों को दूर किया जा सके। इसके लिए उन्होंने कान्त, तूर्गो तथा सेन्ट साइमन के असहमत होते हुए समाजवाद को सामाजिक पुननिर्माण का आधार नहीं माना बल्कि सामाजिक पुननिर्माण के लिए नैतिक शिक्षा आध्यात्मिक शक्ति तथा समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण को जरूरी माना। अनेक विद्वानों ने कॉम्ट की सामाजिक पुननिर्माण की योजना का विरोध भी किया लेकिन कॉम्ट ने इसी के आधार पर सामाजिक प्रगति को सम्भावना पर जोर दिया।

(8) **मानवता के धर्म का सन्देश** (Message of the Religion of Humanity)—समाजशास्त्र के लिए कॉम्ट के योगदान की विविधता इस तथ्य से भी स्पष्ट हो जाती है कि सामाजिक घटनाओं के अध्ययन के लिए एक वैज्ञानिक पद्धति पर बल देने के बाद भी उन्होंने मानवता के धर्म की अवधारणा का प्रतिपादन किया। कॉम्ट वह पहले समाजशास्त्री थे जिन्होंने इस अवधारणा के द्वारा विज्ञान तथा धर्म के बीच समन्वय करने का सगहनीय प्रयत्न किया। एक वैज्ञानिक होने के बाद भी कॉम्ट ने यह स्पष्ट किया कि मानवता का अन्तिम उद्देश्य नैतिक मूल्यों को विकसित करना है। वास्तव में, यही सामाजिक प्रगति तथा सामाजिक पुननिर्माण का सच्चा आधार है।

(9) **सामाजिक प्रकृति का अध्ययन** (Study of Social Nature)—कॉम्ट ने अपनी पुस्तक 'पॉजिटिव पॉलिटी' के दूसरे खण्ड में अनेक सिद्धान्तों की सहायता से सामाजिक प्रकृति को समझाने का प्रयास किया। ये सिद्धान्त है—धर्म के सिद्धान्त, सम्पत्ति के सिद्धान्त, परिवार के सिद्धान्त और भाषा के सिद्धान्त। कॉम्ट के बताया कि धर्म मनुष्यों के बीच एकता उत्पन्न करता है जबकि सम्पत्ति समाज की क्रियाओं का परिणाम है। भाषा किसी भी समाज की बौद्धिक प्रकृति को स्पष्ट करती है, जबकि परिवार की संरचना के अनुसार ही सामाजिक संरचना का निर्धारण होता है। इस प्रकार धार्मिक सिद्धान्तों, सम्पत्ति के रूप, भाषा की प्रकृति और परिवार की संरचना के आधार पर ही किसी समाज की प्रकृति को समझा जा सकता है।

समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र का निर्धारण तथा सामाजिक पुनर्निर्माण की योजना कॉम्ट द्वारा प्रस्तुत वे प्रमुख विचार है जिनके द्वारा उन्होंने समाजशास्त्र को एक नये सामाजिक विज्ञान के रूप में स्थापित किया। इसी कारण **बोगार्ड्स** ने लिखा है कि ''यह कॉम्ट सामाजिक चिन्तन के क्षेत्र को विस्तारित करने वाले पहले व्यक्ति है।'' यह सच है कि प्रारम्भिक समाजशास्त्री होने के कारण कॉम्ट के अनेक विचारों में मौलिकता की कमी है लेकिन उन्होंने जिस दृढ़ निश्चय और निष्ठा के साथ एक पृथक् विज्ञान की स्थापना की, उससे कॉम्ट का बौद्धिक क्षमता स्वयं ही स्पष्ट हो जाती है। **बार्न्स** (Barnes) का कथन है, ''कॉम्ट के सामाजिक दर्शन के सभी मुख्य अध्येता यह मानते हैं कि समाजशास्त्र के लिए कॉम्ट का मुख्य योगदान किन्हीं नये और मौलिक सामाजिक सिद्धान्तों के विकास की तुलना में उनकी समन्वयकारी और संगठन की असाधारण योग्यता से देखने को मिलता है।'' **बार्न्स** ने आगे लिखा है कि ''कॉम्ट की प्रमुख रचनाओं का सामान्य अध्ययन करके हम जल्दी ही इस तथ्य से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते कि उपर्युक्त शीर्षकों में उनके जो विचार प्रस्तुत किये गये हैं, समाजशास्त्र के लिए कॉम्ट की देन उससे कहीं अधिक है।''

समाजशास्त्र की अवधारणा (CONCEPT OF SOCIOLOGY)

समाजशास्त्रीय विचारों के इतिहास में कॉम्ट को 'समाजशास्त्र का जनक' इसी कारण माना जाता है कि उन्होंने की समाजशास्त्र को अन्य विज्ञानों से अलग मानते हुए इसकी प्रकृति तथा अध्ययन-क्षेत्र का निर्धारण किया। सेन्ट साइमन से प्रभावित होकर उन्होंने यह स्पष्ट किया कि जब खगोल का अध्ययन करने वाले विज्ञान को खगोलशास्त्र और प्राणियों के सावयव तथा उनसे सम्बन्धित नियमों का अध्ययन करने वाले विज्ञान को प्राणीविज्ञान कहा जाता है, तब समाज के विभिन्न अंगों का व्यवस्थित अध्ययन करने वाले विज्ञान को समाजशास्त्र कहना ही ठीक होगा। समाज के सामूहिक जीवन और उससे सम्बन्धित आधारभूत नियमों का अध्ययन करने वाले विज्ञान को कॉम्ट ने आरम्भ में 'सामाजिक भौतिकी' (Social Physics) का नाम दिया लेकिन कुछ समय पश्चात् ही उन्हें यह ज्ञात हुआ कि सामाजिक भौतिकी शब्द का प्रयोग बेल्जियम के एक विचारक एडॉल्फ क्वेटलेट (Adolf Quetlet) द्वारा अपने एक लेख 'ऐन ऐसे ऑन सोशल फिजिक्स' (An Essay on Social Physics) में पहले ही किया जा चुका है। फलस्वरूप सन् 1838 में कॉम्ट ने अपने इस विज्ञान का नाम बदलकर 'सोशियॉलोजी' (Sociology) कर दिया। 'Sociology' शब्द लैटिन भाषा के शब्द 'सोशियस' (Socius) तथा ग्रीक शब्द 'लोगस' (Logus) से मिलकर बना है। सोशियस का अर्थ है 'समाज' (socicty) तथा लोगस का अर्थ है। विज्ञान

NOTES

(science)। इस प्रकार शाब्दिक रूप से कॉम्ट ने समाज का अध्ययन करने वाले विज्ञान को ही समाजशास्त्र के नाम से सम्बोधित किया। कॉम्ट ने शुरू से ही यह प्रयास किया कि अपने इस नये विज्ञान को दर्शन तथा काल्पनिक विचारों से अलग करके इस वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर इसका विकास किया जाय। जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है, काम्ट ने इस वैज्ञानिक पद्धति को ही 'प्रत्यक्षवाद' के नाम से सम्बोधित किया। उन्होंने स्पष्ट किया। कि केवल निरीक्षण, परीक्षण तथा वर्गीकरण के आधार पर ही समाज के सामान्य सिद्धान्तों की खोज करके समाजशास्त्र को वैज्ञानिक रूप दिया जा सकता है। समाजशस्त्र के अध्ययन-क्षेत्र को निर्धारित करने के लिए कॉम्ट ने लिखा कि ''समाजशास्त्र सामाजिक व्यवस्था तथा प्रगति का विज्ञान है।'' (Sociology is the science of social order and progress.) इस कथन के आधार पर सामाजिक व्यवस्था तथा सामाजिक प्रगति के अर्थ को समझकर ही समाजशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र को समझा जा सकता है। **सामाजिक व्यवस्था** को स्पष्ट करते हुए कॉम्ट ने बताया कि समाज अनेक उप-व्यवस्थाओं से मिलकर बनता है। इसी आधार पर कॉम्ट ने सामाजिक सावयव (social organism) की कल्पना की जो वैयक्तिक सावयव से कुछ बातों में समाज हुए भी उससे भिन्न है। यह भिन्नता मुख्य रूप से इस बात में पायी जाती है कि प्राणी के सावयव में साधारणतया कोई परिवर्तन नहीं होता लेकिन सामाजिक सावयव के विभिन्न अंगों में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। व्यक्ति, परिवार, वर्ग, अर्थव्यवस्था, धर्म और संस्थाएँ सामाजिक सावयव को निर्माण करने वाली विभिन्न इकाइयों हैं। इन इकाइयों के बीच भौतिक, बौद्धिक, और नैतिक आधार पर एक सामंजस्य बना रहता है। यही समांजस्य एक एकमत्य (consensus) है जिससे समाज में स्थिरता उत्पन्न होती है। दूसरे शब्दों में , यही सामंजस्य और स्थिरता सामाजिक व्यवस्था का आधार है। इस प्रकार समाजशास्त्र का कार्य उन नियमों पर पता लगाना है जो समाज को व्यवस्थित और संगठित रखते हैं। सामाजिक व्यवस्था के अतिरिक्त कॉम्ट ने **सामाजिक प्रगति** (social progress) को भी समाजशास्त्र की अध्ययन-वस्तु का एक प्रमुख आधार स्वीकार किया। कॉम्ट के अनुसार प्रगति का अर्थ भौतिक साधनों के संचय का कार्य उन नियमों की खोज करना है जिनकी सहायता से बौद्धिक तथा नैतिक विकास के रास्ते पर आगे बढ़ा जा सके।

कॉम्ट के अनेक दूसरे लेखों से स्पष्ट होता कि उनका उद्देश्य समाजशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र को केवल सामाजिक व्यवस्था तथा प्रगति के अध्ययन तक ही सीमित रखना नहीं था। कॉम्ट समाजशास्त्र में सामाजिक क्रियाओं तथा सामाजिक विकास के अध्ययन पर भी जोर दिया। अपनी पुस्तक 'पाजिटिव फिलसिफी' (Positive Philosophy) में उन्होंने लिख है, ''एक नये विज्ञान के रूप समाजशास्त्र मानवीय बौद्धिकता की सम्पूर्णता और समय के सन्दर्भ में उससे उत्पन्न होने वाली सामाजिक क्रियाओं का अध्ययन है।'' यह कथन स्पष्ट करता है। कि मानव के बौद्धिक विकास से सम्बन्धित सभी क्रियाएँ समाजशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत आती है। इसी आधार पर **मैक्स वेबर** ने लिखा कि ''कॉम्ट वह पहले विचारक है जिन्होंने समाजशास्त्र को मानवीय क्रियाओं के विज्ञान के रूप में स्वीकार किया।'' सामाजिक विकास के विभिन्न स्तरों के अध्ययन को भी कॉम्ट ने समाजशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र में विशेष स्थान दिया। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा, ''समाजशास्त्र का प्राथमिक लक्ष्य मानव जाति की आरम्भिक अवस्थाओं से लेकर वर्तमान यूरोपियन सभ्यता के विकास की अवस्थाओं को खोज निकालना है।'' इस प्रकार कॉम्ट के अनुसार

सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक प्रगति, सामाजिक क्रियाएँ और सामाजिक विकास के स्तरों का अध्ययन समाजशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र के अन्तगर्त आते हैं।

एक विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र की विशेषताएँ (Characteristics of Sociology as a Science)

कॉम्ट ने एक विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र की अनेक विशेषताओं का उल्लेख किया जिन्हें संक्षेप में निम्नलिखित रूप से समझा जा सकता है।

(1) **एक आधारभूत विज्ञान** (A Basic Science)—अपनी विभिन्न रचनाओं में कॉम्ट ने समाजशास्त्र को सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक प्रगति के आधारभूत विज्ञान के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने स्पष्ट किया कि उन्नीसवीं शताब्दी से समाज का जो रूप सामने आया है, वह एक प्रत्यक्षवादी समाज है। इस समाज में मानवीय चिन्तन धार्मिक और तात्विक विचारों से हटकर वैज्ञानिकता की दिशा में आगे बढ़ रहा है। समाजशास्त्र वह पहला विज्ञान है। जिसमें प्रत्यक्षवादी अथवा वैज्ञानिक पद्धति के द्वारा सामाजिक घटनाओं का वास्तविक अध्ययन किया जााता है। इसलिए कॉम्ट ने विज्ञानों के संस्तरण में समाजशास्त्र को सबसे महत्वपूर्ण स्थान दिया। घटती हुई सामान्यता तथा बढ़ती हुई जटिलता के नियम के आधार पर उन्होंने स्पष्ट किया कि अपने से पहले विकसित होने वाले विज्ञानों पर निर्भर होने के पश्चात् भी समाजशास्त्र सबसे अधिक विशेषीकृत और जटिल सामाजिक विज्ञान है। इसकी प्रत्यक्षवादी पद्धति एक ऐसा आधार है जिसकी सहायता से दूसरे सामाजिक विज्ञान भी अपने आपकों दर्शन और कल्पना से अलग रख सकते हैं।

(2) **समन्वयकारी विज्ञान** (Integrative Science)—कॉम्ट के अनुसार समाजशास्त्र एक समन्वयात्मक विज्ञान है। इसका अर्थ है कि समाजशास्त्र सामाजिक जीवन के किसी एक पक्ष को अध्ययन करने से सम्बन्धित नहीं है। बल्कि यह मानच जीवन के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा वैधानिक आदि सभी पक्षों का समान रूप में अध्ययन करता है। समाजशास्त्र की प्रकृति इसलिए भी समन्वकारी है कि यह गणित, खगोलशास्त्र, भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र तथा प्राणीविज्ञान के नियमों की भी सहायता लेता है। समाजशास्त्र की समन्वकारी प्रकृति इस बात से भी स्पष्ट हो सकती है। कि कॉम्ट ने इसके अन्तगर्त ऐसे बहुत-से नियमों और अवधारणाओं का समावेश किया जो अनेक दूसरे विद्वानों के विचारों से प्रभावित हैं। उदाहरण के लिए प्राणीविज्ञान के आधार पर उन्होंने समाजशास्त्र में समाज की सावयवी संरचना के अध्ययन पर जोर दिया तो दूसरी ओर ह्यूम तथा कान्त से प्रभावित होकर ऐतिहासिक पद्धति के द्वारा सामाजिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं का अध्ययन करने पर जोर दिया। इसी कारण **बार्न्स** ने लिखा है, ''कॉम्ट के सामाजिक दर्शन का अध्ययन करने वाले व्यक्ति वह मानते हैं कि समाजशास्त्र के लिए कॉम्ट की प्रमुख देन उसकी समन्वय और संगठन की अवधारणा योग्यता में थी।

(3) **भविष्यवक्ता विज्ञान** (Predictive Science)—विज्ञान की प्रमुख विशेषता इसमें भविष्यवाणी करने की क्षमता का होना है। ज्ञान की जिस शाखा के द्वारा भविष्य में घटित होने वाली घटनाओं का अनुमान न लगाया जा सके, उसे विज्ञान की श्रेणी में नही रखा जा सकता। समाजशास्त्र के सन्दर्भ में कॉम्ट ने लिखा कि प्रत्यक्षवादी पद्धति

के द्वारा समाजशास्त्र में सामाजिक घटनाओं का अध्ययन करके उन नियमों को ज्ञान किया जा सकता है जिनसे भविष्य की घटनाओं को समझा जा सके। भविष्यवाणी करने में समाजशास्त्र इतिहास का भी सहारा लेता है क्योंकि ऐतिहासिक घटना-क्रम के आधार पर घटनाओं के कारण और परिणाम को समझना सरल हो जाता है।

NOTES

(4) **एक व्यावहारिक विज्ञान** (An Applied Science)—कॉम्ट ने यह स्पष्ट किया कि समाजशास्त्र का कार्य वैज्ञानिक पद्धति के द्वारा सामाजिक घटनाओं का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना ही नहीं है बल्कि उस ज्ञात को इस तरह उपयोग करना आवश्यक है जिससे समाज का विकास और मानवता का कल्याण हो सके। इसी कारण कॉम्ट ने सामाजिक पुनर्निर्माण की आवश्यकता पर जोर देते हुए इसके लिए एक विस्तृत कार्यक्रम तैयार किया और नेतिक मूल्यों के विकास को 'मानवता के धर्म' के रूप में स्पष्ट किया। उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि भौतिक विज्ञान मानवता के कल्याण को अधिक महत्व न देने के कारण केवल सिद्धान्तों के निर्माण तक ही सीमित है, इसलिए उन्हें अधिक उपयोगी नहीं माना जा सकता। केवल वही ज्ञान उपयोगी होता है जो सामाजिक विकास में रचनात्मक योगदान कर सके। इस प्रकार कॉम्ट ने समाजशास्त्र को एक व्यावहारिक विज्ञान के रूप में विकसित करने पर जोर दिया। इस सम्बन्ध में **टर्नर** ने लिखा है, ''कॉम्ट ने अनुसार समाजशास्त्र का उपयोग सामाजिक विकास तथा मानवता के कल्याण के लिए होना आवश्यक है। इसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए उन्होंने समाजशास्त्र को व्यावहारिक विज्ञान बनाने का सुझाव दिया तथा इसे सामाजिक दर्शन से अलग माना।

(5) **सामाजिक प्रगति का विज्ञान** (Science of Social Progress)—समाजशास्त्र को परिभाषित करते हुए कॉम्ट ने यह स्पष्ट कर दिया था कि समाजशास्त्र सामाजिक व्यवस्था और प्रगति का विज्ञान है। सधारणतया विभिन्न समाजों में प्रगति का अर्थ एक-दूसरे से अलग समझा जाता है। एक प्रत्यक्षवादी के रूप में **कॉम्ट** ने प्रगति को परिभाषित करते हुए लिखा कि ''अपने सार रूप में सामाजिक प्रगति सामाजिक व्यवस्था का ही एक विशेष रूप है तथा इसे व्यवस्था के बाह्य पक्ष के रूप में ही देखा जाना चाहिए। इसके द्वारा कॉम्ट ने यह स्पष्ट किया कि प्रत्येक समाज में सदैव परिवर्तन होते रहते हैं। इसके फलस्वरूप पुरानी व्यवस्था का स्थान नयी व्यवस्थाएँ लेती रहती हैं। इसके पश्चात् भी सामाजिक प्रगति का अध्ययन मुख्यत: भौतिक, बौद्धिक और नैतिक आधार पर ही किया जा सकता है। समाज में भौतिक प्रगति उतनी महत्वपूर्ण नहीं होती जितनी कि बौद्धिक और नैतिक प्रगति महत्वपूर्ण होती है। इस दृष्टिकोण से समाजशास्त्र एक ऐसा विज्ञान है जो बौद्धिक और नैतिक प्रगति से सम्बन्धित नियमों की खोज करता है। भौतिक तथा नैतिक प्रगति से ही समाज का विकास सम्भव है, अत: समाजशास्त्र का कार्य मानव प्रकृति का समुचित ज्ञान प्राप्त करके सामाजिक प्रगति को अधिक-से-अधिक वृद्धि करना है।

(6) **एक यथार्थ विज्ञान** (An Objective Science)—समाजशास्त्र सामाजिक घटनाओं का यथार्थ विश्लेषण करने वाला विज्ञान है। इसके द्वारा किये जाने वाले अध्ययन में वैयक्तिक भावनाओं का कोई स्थान नहीं है। समाजशास्त्र का कार्य विभिन्न घटनाओं का उसी रूप में अध्ययन करना है जैसी कि वे वास्तव में है। इसी दृष्टिकोण को

कॉम्ट ने 'प्रत्यक्षवादी विचारधारा' का नाम दिया। जिस प्रकार प्राकृतिक जीवन का प्रत्येक पक्ष एक-दूसरे पर निर्भर और एकता पायी जाती है। यदि यह मान लिया जाये तो जिन अध्ययन पद्धतियों के द्वारा प्राकृतिक विज्ञानों को विकसित करना सम्भव हो सका है, उन्हीं अध्ययन पद्धतियों के द्वारा सामाजिक जीवन को संचालित करने वाले नियमों का भी यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। यही प्रत्यक्षवादी पद्धति है जो अवलोकन, प्रयोग, वर्गीकरण तथा ऐतिहासिक घटनाओं की तुलना पर आधारित है।

(7) **एक अमूर्त विज्ञान** (An Abstract Science)—कॉम्ट के अनुसार समाजशास्त्र का अमूर्त विज्ञान है, इस कारण समाजशास्त्र का मुख्य कार्य उन नियमों का ज्ञात करना है जो सामाजिक जीवन के विभिन्न अंगों को संचालित करते हैं। ऐसे नियमों को कोई स्थूल रूप नहीं होता बल्कि वे अमूर्त होते हैं। इसी आधार पर समाजशास्त्र को एक अमूर्त विज्ञान मानना आवश्यक है। कॉम्ट के अनुसार विज्ञान का प्रमुख उद्देश्य उन नियमों को खोज निकालना है जो अवलोकन योग्य घटनाओं को नियमित करते हैं। इसे दृष्टिकोण से समाजशास्त्र की रुचि केवल कुछ सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि घटनाओं की विवेचना करने मात्र में नहीं है बल्कि इसका कार्य उन्हीं नियमों की खोज करना है जिन पर सभी सामाजिक विज्ञान आधारित होते हैं। यहीं नियम सामाजिक व्यवस्था तथा सामाजिक का भी आधार है।

समाजशास्त्र की शाखाएँ (Branches of Sociology)

कॉम्ट ने अपने नवीन विज्ञान समाजशास्त्र की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख करने के साथ ही समाजशास्त्र को दो प्रमुख शाखाओं का भी उल्लेख किया जिनकी प्रकृति को समझकर सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक प्रगति के बारे मे कॉम्ट के विचारों को अधिक स्पष्ट रूप से समझ जा सकता है। इन दोनों शाखाओं की कॉम्ट ने सामाजिक स्थितिशास्त्र (Social Statics) तथा सामाजिक गतिशास्त्र (Social Dynamics) कहा।

(1) **सामाजिक स्थितिशास्त्र** (Social Statics)—सामाजिक स्थितिशास्त्र से कॉम्ट का मतलब उस ज्ञान से है जिसके द्वारा किसी विशेष काल या अवधि के सन्दर्भ में समाज की एक विशेष स्थिति या अस्तित्व की दशाओं या विश्लेषण किया जाता है। **कॉम्ट** ने लिखा है, ''स्थितिशास्त्र का तात्पर्य सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न काल में सामाजिक स्थिति (अथवा सामाजिक संरचना) के मौलिक स्वरूप को बदलते रहते हैं। **बोगार्डस** ने भी लगभग इन्हीं शब्दों में कॉम्ट के सामाजिक स्थितिशास्त्र को परिभाषित करते हुए लिखा है, ''सामाजिक स्थितिशास्त्र सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न भागों की क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं से सम्बन्धित नियमों को अध्ययन हैं।'' वास्तव में, सामाजिक व्यवस्था का निर्माण जिन अंगों से होता है, उनके बीच एक सामंजस्य अथवा इस सन्तुलन के लिए विभिन्न अंगों का क्रियाओं के बीच एकमत्य (consensus) तथा सहयोगी क्रियाओं का होना आवश्यक है। एकमत से ही सामाजिक स्थिरता उत्पन्न होता है तथा यही स्थिरता सामाजिक व्यवस्था का आधार है। सामाजिक स्थिति शास्त्र का मुख्य सम्बन्ध परिवार, धर्म सम्पत्ति, भाषा नीति आदि के अध्ययन से है। अपनी पुस्तक 'पॉजिटिव पॉलिटी' (Positive Polity) के दूसरे खण्ड के कॉम्ट ने लिखा कि परिवार, धर्म और बौद्धिकता रचनात्मक भावनाओं के द्वारा लोगों के बीच एकता उत्पन्न करते हैं। सम्पत्ति समाज की क्रियाओं का परिणाम है।

इन सभी से सम्बन्धित नियमों का अध्ययन करके समाज की प्रकृति को समझा जा सकता है। यही ज्ञान सामाजिक संरचना की स्थिरता का आधार है।

NOTES

कॉम्ट ने इस तथ्य पर जोर दिया कि सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था और उसके विभिन्न भागों के बीच एक स्वाभाविक सन्तुलन का होना आवश्यक है। यह तभी संभव है जब मानवीय प्रकृति का अध्ययन करके सामाजिक संगठन की एकता को बनाये रखा जाये। सामाजिक स्थिति विज्ञान का उद्देश्य उन नियमों की खोज करना है जिनकी सहायता से सामाजिक एकमत तथा सामाजिक स्थिरता में वृद्धि करने वाली दशाओं को ज्ञात किया जा सके। समाजशास्त्र की इस शाखा की विवेचना करते समय कॉम्ट फ्रांस की तत्कालीन दशाओं से भी प्रभावित थे। उनका मानना है कि हम जिस युग मे रहे हैं, उनसे समाज का सन्तुलन बहुत बिगड़ा हुआ है। अत: सामाजिक स्थितिविज्ञान का यह दायित्व है कि विभिन्न अध्ययनों के आधार पर उन नियमों को ज्ञात किया जाये जिनके द्वारा सामाजिक सन्तुलन को पुनर्स्थापित किया जा सके।

सामाजिक स्थितिशास्त्र की **उपयोगिता** यह है कि शाखा हमारा परिचय सामाजिक व्यवस्था के मूल सिद्धान्तों से कराती है। यही वह दशा है जिससे सामाजिक सन्तुलन को बिगड़ने से रोका जा सकता है तथा मानव के भौतिक, नैतिक और बौद्धिक पक्षों के बीच सन्तुलन स्थापित किया जा सकता है। कॉम्ट का मानना है कि आज समाज में व्यापक अराजकता फैली हुई है। सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न पक्षों के बीच असन्तुलन बढ़ रहा है। बौद्धिक ह्रास के कारण उत्पीड़न में वृद्धि हो रही है। अधिकांश व्यक्ति समाज के मौलिक नियमों से परिचित नहीं है। इन दशाओं में सामाजिक स्थितिविज्ञान का कार्य सामाजिक एकमत को बढ़ाने वाली दशाओं को ज्ञात करके सामाजिक स्थिरता को प्रोत्साहन देना है।

(2) **सामाजिक गतिशास्त्र** (Social Dynamics)—कॉम्ट के सामाजिक गतिशास्त्र अथवा सामाजिक गत्यात्मकता को एक सामाजिक स्थितिविज्ञान को पूरक शाखा के रूप में प्रस्तुत किया। इसे स्पष्ट करते हुए राव ने लिखा है कि सामाजिक स्थितिविज्ञान जहाँ समाज के विभिन्न अंगों के पारस्परिक सम्बन्धों का परीक्षण करता है, नहीं सामाजिक गतिशास्त्र सम्पूर्ण समाज को अपने विश्लेशण को इकाई मानते हुए यह बताता है कि सामाजिक व्यवस्था को बनाने वाले विभिन्न अंगों में किस प्रकार विकास प्रथा परिवर्तन की दशाएँ उत्पन्न होती है। इसका मतलब है कि कॉम्ट ने सामाजिक गतिशास्त्र को मानव प्रगति तथा उद्‌विकास के रूप में स्पष्ट किया है। **बोगार्ड्स** है।'' स्पष्ट है कि सामाजिक गतिशास्त्र परिवर्तनकारी दशाओं के अध्यन से सम्बन्धित है। कॉम्ट का विचार है कि सामाजिक व्यवस्था मानवीय क्रियाओं से सम्बन्धित होती है तथा इन क्रियाओं में अनिवार्य रूप से निरन्तर बदलाव होता रहता है। सामाजिक गतिशास्त्र का कार्य सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने वाले नियमों की खोज करना है। कॉम्ट ने स्पष्ट किया कि ज्ञान की यह शाखा ऐतिहासिक पद्धति के द्वारा अतीत और वर्तमान की घटनाओं का अध्ययन करके परिवर्तन सम्बन्धी नियमों का विश्लेषण करती है तथा इसके आधार पर बदलाव की भावी प्रवृत्तियों को स्पष्ट करती है। इसका तात्पर्य है कि सामाजिक स्थितिविज्ञान का सम्बन्ध जहाँ सामाजिक संरचना के स्थिर पक्ष से है, वहीं सामाजिक गतिविज्ञान का सम्बन्ध सामाजिक प्रगति से सम्बन्धित विभिन्न दशाओं से है। वास्तविकता वह है कि सामाजिक परिवर्तल

प्रत्येक समाज की एक अनिवार्य विशेषता है। और समाज में बदलाव की प्रक्रिया सदैव चलती रहती है। परिवर्तन की प्रक्रिया के कारण ही मानव विभिन्न स्तरों से गुजरते हुए वर्तमान अवस्था तक पहुँच सका है। इस दशा में परिवर्तन से सम्बन्धित नियमों को ज्ञात किये बिना समाजशास्त्र को वैज्ञानिक रूप नहीं दिया जा सकता।

रेमण्ड एरों (R. Aron) ने कॉम्ट द्वारा प्रस्तुत सामाजिक गत्यात्मकता की दशा को तीन आधारों पर स्पष्ट किया है—बौद्धिकता, गतिविधि तथ भावना। इसका तात्पर्य है कि सामाजिक गतिशास्त्र केवल सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न पक्षों में होने वाले बदलावों के अध्ययन तक ही सीमित नहीं है। इसका सम्बन्ध बौद्धिकता, मानव गतिविधियों तथा मनुष्य की भावनाओं में होने वाले परिवर्तनों के अध्ययन में भी है। बौद्धिकता में होने वाला परिवर्तन मानव चिन्तन के धार्मिक स्तर के लेकर प्रत्यक्षवादी अथवा वैज्ञानिक स्तर तक के विकास के रूप में देखने को मिलता है। मानवीय भावनाओं के पहले स्तर पर अहमवादी सामाजिक सम्बन्धों की प्रधानता होती है जबकि परिवर्तन के अन्तिम स्तर पर परार्थवादी अथवा परोपकारी (altruistic) सामाजिक सम्बन्धों का विकास होने लगता है। मानव इतिहास के इन विभिन्न पक्षों में होने वाले परिवर्तन ही सामाजिक गत्यात्मकता है। सामाजिक प्रगति इस गत्यात्मकता का परिणाम है।

समाजशास्त्र एक विज्ञान है (Sociology is a Science)

अगस्त कॉम्ट ने समाजशास्त्र को 'मानवता के वास्तविक विज्ञान' (True Science of Humanity) के नाम से सम्बोधित किया है। उसके मतानुसार, समाजशास्त्र सामाजिक घटनाओं के अध्ययन का विज्ञान है तथा यह अवलोकन और तुलनात्मक पद्धतियों के द्वारा सामाजिक घटनाओं का अध्ययन करता है। कॉम्ट ने बतलाया कि विज्ञान की आधारभूति आवश्यकता उसकी वैज्ञानिक पद्धतियाँ हैं जिनमें अवलोकन एवं परीक्षण की पद्धतियाँ ही महत्वपूर्ण है। समाज की दो विभिन्न स्थितियों (सामाजिक स्थितिकी एवं सामाजिक गत्यात्मकता) का उल्लेख करते हुए कॉम्ट ने बतलाया कि समाजशास्त्र सामाजिक स्थितिकी से सम्बद्ध सामाजिक संरचना के विभिन्न तत्वों (अंगों) का अवलोकन करता है तथा सामाजिक गत्यात्मकता के अध्ययन के समय अवलोकन और तुलनात्मक पद्धतियों का प्रयोग करता है।

कॉम्ट ने उन्नीसवीं सदी के समाज को प्रत्यक्षवादी समाज के रूप में स्वीकार करते हुए इसे एक बेहतर समाज की संज्ञा दी है। उन्होंने बताया कि समाजशास्त्र भी प्रत्यक्षवादी पद्धति से समाज की घटनाओं का अध्ययन करता है, इसीलिए समाजशास्त्र एक विज्ञान है। 'विज्ञानों के संस्तरण' (Hiterarchy of the Sciences) को स्पष्ट करने के लिए आगस्त कॉम्ट ने 'बढ़ती निर्भरता (Increasing Dependence) और 'घटती हुई सामान्यता' (Decreasing Generality) के नियम का प्रतिपादन किया। इस नियम के आधार पर उन्होंने विज्ञानों के संस्तरण में समाजशास्त्र को आधारभूत स्थान एवं प्राथमिकता को प्रमाणित करके इसे एक प्रतिष्ठित स्थान देने में विशेष योगदान किया।

समाजशास्त्र की प्रकृति को स्पष्ट करने के लिए कॉम्ट ने समाजशास्त्र और प्राणी-विज्ञान की तुलनात्मक विवेचना प्रस्तुत की। कॉम्ट ने बतलाया कि जिस प्रकार प्राणी-विज्ञान, जीवित प्राणियों (सावयव) का अध्ययन करता है, उसी प्रकार समाजशास्त्र सामाजिक

सावयव का अध्यन करता है। कॉम्ट ने प्राणिशास्त्र की तुलना में समाजशास्त्र को एक अमूर्त विज्ञान (Asrtract Science) के रूप में स्पष्ट किया। उन्होंने यह स्वीकारकिया कि समाजशास्त्र में आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं वैधानिक सभी प्रकार की घटनाओं का अध्ययन किया जाता है। कॉम्ट द्वारा प्रतिपादित इस मान्यता के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि आगस्त कॉम्ट के अनुसार समाजशास्त्र एक समन्वयात्मक विज्ञान है। समन्वयात्मक विज्ञान से यहाँ तात्पर्य यह कि समाजशास्त्र सामाजिक जीवन के किसी एक पक्ष का अध्ययन नहीं करता बल्कि यह मानव जीवन के समस्त सामाजिक पक्षों का अध्ययन समान रूप में करता है।

विज्ञानों की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए कॉम्ट ने लिखा है विज्ञान की एक प्रमुख विशेषता इसमें भविष्यवाणी करने की क्षमता का होना है। समाजशास्त्र की विशेषताओं की चर्चा करते हुए कॉम्ट ने बतलाया कि प्रत्यक्षवादी पद्धति के द्वारा सामाजिक घटनाओं का अध्ययन करके समाजशास्त्र जिन नियमों का निर्धारण करता है, वे वैज्ञानिक नियम ही समाजशास्त्र को भविष्यवक्ता विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठापित करते हैं। कॉम्ट समाजशास्त्र को केवल ज्ञान वृद्धि का विज्ञान नहीं मानते हैं बल्कि उन्होंने समाजशास्त्र को एक व्यावहारिक विज्ञान के रूप में स्वीकार किया है। उनका कथन है कि समाजशास्त्र का उपयोग समाज के विकास और मानवता के कल्याण के लिए होना चाहिए।

कॉम्ट द्वारा प्रतिपादित उक्त मान्यताओं के आधार पर हम उनके समाजशास्त्र सम्बन्धी विचारों को समझ सकते हैं। समाजशास्त्र की प्रकृति को स्पष्ट करने एवं इसे वैज्ञानिक रूप देने के लिए कॉम्ट ने जिन प्रमुख अवधारणाओं एवं पद्धतिशास्त्र विचारों को स्पष्ट किया, प्रस्तुत विवेचन में उनके संक्षिप्त विवेचन द्वारा ही समाजशास्त्र के लिए कॉम्ट के वास्तविक योगदान को समझा जा सकता है।

प्रत्यक्षवाद : कॉम्ट का पद्धतिशास्त्र
(POSITIVSM : METHODLOGY OF COMTE)

प्रत्यक्षवाद कॉम्ट ने चिन्तन का वह सबसे महत्वपूर्ण पक्ष है। जिसके द्वारा उन्होंने समाजशास्त्रीय अध्ययन को एक वैज्ञानिक रूप देने का प्रयास किया। प्रत्यक्षवाद के जन्मदाता के रूप में कॉम्ट ने इसके आधार पर अनेक अवधारणाएँ विकसित की, लेकिन उन्होंने न तो प्रत्यक्षवाद की कोई सुनिश्चित व्याख्या की और न ही इसे एक सुसम्बद्ध सिद्धान्त बनाया, उनकी दो प्रमुख रचनाओं **'द कोर्स आफ पॉजिटिव फिलासफी'** तथा **'सिस्टम आफ पॉजिटिव पॉलिटी'** में देखने को मिलता हैं यह ध्यान रखना आवश्यक है कि कॉम्ट से पहले सभी सामाजिक विज्ञान दर्शन (Philosophy) के अधिक निकट थे। उस समय तक किसी ऐसी अध्ययन-पद्धति को विकसित नहीं किया जा सकता था जिसके द्वारा सामाजिक घटनाओं का वैज्ञानिक रूप से अध्ययन किया जा सके। शुरू में ही यह ध्यान रखना आवश्यक है कि कॉम्ट द्वारा प्रत्यक्षवाद कोई नियम अथवा सिद्धान्त न होकर अध्ययन की एक ऐसी प्रणाली है जिसकी सहायता से कॉम्ट ने सामाजिक घटनाओं का अध्ययन करने तथा समाजशास्त्र को वैज्ञानिक रूप देने पर जोर दिया। इसे स्पष्ट करते हुए **जे. एच. टर्नर** (J. H. Turner) ने लिखा है, ''कॉम्ट द्वारा प्रत्यक्षवाद के रूप में वैज्ञानिक पद्धति के उपयोग का उद्देश्य समाजशास्त्र को एक नये विज्ञान का रूप देना तथा इसे सामाजिक दर्शन से पृथक करना था।

प्रत्यक्षवाद का अर्थ (Meaning of Positivism)

शाब्दिक रूप प्रत्यक्षवाद का अर्थ घटनाओं का प्रत्यक्ष रूप से अवलोकन करके किसी सन्दर्भ निष्कर्ष तक पहुँचता है। फ्रान्सीसी परम्परा में 'Positive' शब्द का प्रयोग एक ऐसे दृष्टिकोण के लिए किया जाता है जो रचनात्मक, निष्पक्ष अथवा यथार्थ अवलोकन पर आधारित हो। कॉमट ने यह स्पष्ट किया कि प्राकृतिक विज्ञानों का इसलिए तेजी से विकास हुआ कि इनके द्वारा विभिन्न पदार्थो का अध्यनन कल्पना के आधार पर न करके निरीक्षण परीक्षण तथा वर्गीकरण के आधार पर किया जाता है। प्राकृतिक विज्ञानों या मानकर चलते हैं कि प्रत्येक पदार्थ की प्रकृति तथा उनसे सम्बन्धित व्यवहार कुछ अपरिवर्तनशील नियमों पर आधारित होते हैं। यह दृष्टिकोण रचनात्मक, निष्पक्ष और यथार्थ है, इसलिए इसे हम प्रत्यक्षवादी या 'Positive' दृष्टिकोण कहते है। पदार्थ तथा प्राकृतिक घटनाओं के समान सामाजिक घटनाएँ भी कुछ निश्चित नियमों से नियन्त्रित आधार पर नहीं समझा जा सकता। प्रत्यक्षवाद ही एकमात्र यह तरीका अथवा प्रणाली है जिसके द्वारा घटनाओं का अवलोकन परीक्षण तथा वर्गीकरण करके विभिन्न घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्धों और उन्हें नियमित करने वाले नियमों को समझा जा सकता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि निरीक्षण परीक्षण तथ वर्गीकरण पर आधारित वैज्ञानिक विधि द्वारा सामाजिक घटनाओं को समझना ही प्रत्यक्षवाद है।

कॉम्ट ने जिन विशेषताओं के आधार पर प्रत्यक्षवाद की विवेचना की है, उसे संक्षेप में स्पष्ट करते हुए **रेमण्ड एरों** (Raymond Aron) ने लिखा है, '' प्रत्यक्षवाद का सम्बन्ध घटनाओं के अवलोकन उनके विश्लेषण तथा उन घटनाओं के बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों को नियमित करने वाले नियमों की खोज करने से है।'' इससे पुन: यह स्पष्ट होता है कि प्रत्यक्षवाद का एक ऐसी पद्धति से है जो वैज्ञानिक उस से सामाजिक घटनाओं से अधिक जटिल है। कुछ प्राकृतिक घटनाएँ तो इतनी सरल होती है कि उन्हें सामान्य अवलोकन में ही समझा जा सकता है। सही कारण है कि प्राकृतिक विज्ञानों से सम्बन्धित घटनाओं का अध्ययन करने के लिए प्रत्यक्षवादी पद्धति का प्रयोग बहुत पहले ही शुरू हो गया। सामाजिक घटनाएं अपनी प्रकृतिक से बहुत जटिल होती है, इसलिए सामाजिक विज्ञानों में प्रत्यक्षवादी पद्धति का प्रयोग काफी बाद में शुरू हो सका। इस आधार पर प्रत्यक्षवाद को स्पष्ट करते हुए **कॉम्ट** ने लिखा कि ''प्रत्यक्षवाद अवलोकन योग्य तथ्यों से सम्बन्धित वह पद्धति है। जिसके द्वारा तथ्यों का विश्लेषण तथा वर्गीकरण करके उनसे सम्बन्धित नियमों का स्थापना की जानी है।'' प्रत्यक्षवाद के अर्थ तथा प्रकृति को स्पष्ट करते हुए **सिन्हा एवं क्लोस्टरमेयर** का कथन है, ''वैज्ञानिक अनुसन्धान द्वारा हम घटनाओं का प्रकृति को जान सकते हैं प्रकृति की यथार्थ घटनाओं के अवलोकन के आधार पर प्राकृतिक नियमों की रचना की जाती है। प्राकृतिक घटनाओं के समान जब हम सामाजिक घटनाओं के प्रत्यक्ष अवलोकन तथा वर्गीकरण के द्वारा उन्हें संचालित करने वाले निश्चित नियमों वे खोज करते है तब इसी विधि को प्रत्यक्षवाद कहा जाता है।'

प्रत्यक्षवाद की प्रकृति को स्पष्ट करने के लिए कॉम्ट ने इसे चिन्तन के धार्मिक तात्विक तरीके से पूर्णतया अलग माना है। इसका कारण यह है कि धार्मिक तात्विक तथा प्रत्यक्षवादी स्तर पर व्यक्तियों के विचार करने का तरीका एक-दूसरे से भिन्न होता है। **डॉ. ब्रिजेज** (J. H. Brodges) ने इस दशा को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करके प्रत्यक्षवाद की

प्रकृति को स्पष्ट किया है। उनका कहना है कि यदि किसी व्यकित की जहर खाने से मृत्यु हो जाती है तो धार्मिक तात्विक तथा प्रत्यक्षवादी आधार पर इस घटना की व्याख्या भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से की जायेगी। धर्मशास्त्री ऐसी मृत्यु की व्याख्या प्रारब्ध, कर्मफल तथा ईश्वरीय इच्छा के आधार पर करेगा जबकि तत्वज्ञानी यह कहेगा कि जन्म और मृत्यु प्रकृति का एक शाश्वत अथवा वैज्ञानिक मृत्यु का व्यक्ति का समुचित रूप से अवलोकन और परीक्षण करने के पश्चात् ही यह स्पष्ट करेगा कि उस व्यकित की मृत्यु का वास्तविक कारण क्या है तथा सामान्य मृत्यु एवं जहर खाने से हुई मृत्यु में क्या अन्तर है। इससे स्पष्ट होता है कि प्रत्यक्षवाद का सम्बन्ध किसी काल्पनिक विश्वास अथवा निरेपक्ष विचार से नहीं होता बल्कि सम्बन्ध यथार्थ अवलोकन अथवा वैज्ञानिक सापेक्षता (Scientific relativism) से है।

प्रत्यक्षवाद की मूल मान्यताएँ अथवा विशेषताएँ
(Basic Assumptions of characteristics of Positivism)

प्रत्यक्षवाद के अर्थ से स्पष्ट हो जाता है कि कॉम्ट के अनुसार प्रत्यक्षवाद अध्ययन की एक विशेष पद्धति है जिसका उद्देश्य सामाजिक घटनाओं के अध्ययन को अधिक वैज्ञानिक और यथार्थ बनाना है। प्रत्यक्षवाद की प्रकृति को समझने के लिए इसकी उन मौलिक मान्यताओं अथवा विशेषतओं को समझना है जिनका कॉम्ट ने अपने विभिन्न लेखों में उल्लेख किया है।

(1) **सामाजिक घटनाएँ निश्चित नियमों पर आधारित**—कॉम्ट का मानना है कि जिस तरह प्राकृतिक घटनाएँ आकस्मिक रूप से घटित नहीं होती बल्कि निश्चित नियमों पर आधारित होती हैं, उसी तरह सामाजिक घटनाएँ भी कुछ निश्चित नियमों के द्वारा संचालित होती हैं प्राकृतिक विज्ञानों में इस घटनाओं को प्रभावित करते वाले नियमों को अवलोकन, परीक्षण, वर्गीकरण एवं तर्क के आधार पर ज्ञात किया जाता है। यह प्रत्यक्षवादी अथवा वैज्ञानिक पद्धति है जिसका सामाजिक घटनाओं को संचालित करने वाले नियमों की खोज करने में भी उपयोग किया जा सकता है।

(2) **यथार्थ ज्ञान पर आधारित**—कॉम्ट का कथन है कि प्रत्यक्षवाद किसी संयोग अथवा अनुमान पर आधारित न होकर ऐसे यथार्थ ज्ञान से सम्बन्धित है जिसे अवलोकन और परीक्षण के द्वारा प्राप्त किया जाता है। यही कारण है कि इसके द्वारा किये जाने वाले अध्ययन तथा उनसे प्राप्त निष्कर्ष अधिक विश्वसनीय होते हैं चिन्तन के धार्मिक स्तर पर सामाजिक घटनाओं का विश्लेषण विश्वासों पर आधारित होता जबकि तात्विक स्तर पर इन घटनाओं के विश्लेषण में अनुमान तथा नैतिक मानदण्डों को अधिक महत्व मिलने लगता है। इसके विपरीत, प्रत्यक्षवाद वह दशा है जिसमें केवल यथार्थ ज्ञान अथवा वास्तविकता को ही महत्व दिया जाता है। इस सम्बन्ध में **रॉलिक चैम्बलिस** (Rollin Chambliss) ने लिखा है कि 'प्रत्यक्षवाद काल्पनिकता की जगह वास्तविकता पर आधारित है।' प्रत्यक्षवाद की इस मान्यता से स्पष्ट होता है कि इसमें कल्पना, अनुमान अथवा नैतिक मापदण्ड़ों को कोई स्थान नहीं है।

(3) **अध्ययन की एक वैज्ञानिक प्रणाली**—कॉम्ट ने जिस रूप में प्रत्यक्षवाद की विशेषताओं का उल्लेख किया है, उससे स्पष्ट होता कि प्रत्यक्षवाद कोई अवधारणा

(Concept) या सिद्धान्त (Theory) नहीं है बल्कि यह अध्ययन की वैज्ञानिक प्रणाली है। इस प्रणाली में अवलोकन परीक्षण, वर्गीकरण एवं तार्किकता का महत्वपूर्ण पहले उनका पक्षपातरहित होकर अवलोकन किया जात है, फिर विभिन्न प्रकार से अवलोकन किये गये तथ्यों का परीक्षण करके घटनाओं का इस तरह वर्गीकरण किया जात है जिससे विभिन्न विशेषताओं की तथ्यों का परीक्षण करके घटनाओं का इस तरह वर्गीकरण किया जाता है जिससे विभिन्न विशेषताओं की समानताओं और असमानताओं का विश्लेषण करके सामान्य नियमों को समझा जा सके। घटनाओं के सह-सम्बन्धों को समझने के तर्क का भी एक महत्वपूर्ण स्थान है। इस सन्दर्भ में **बोगार्डस** का कथन है कि कॉम्ट का प्रत्यक्षवाद विश्व की और विशुद्ध बौद्धिक ढंग से देखने से सम्बन्धित है जिसमें हमारा मस्तिष्क घटनाओं के निरीक्षण एवं वर्गीकरण पर ही केन्द्रित होता है।

(4) **तार्किकता पर बल**—तार्किक क्षमता विज्ञान की एक आवश्यक विशेषता है। यही कारण है कि कॉम्ट ने प्रत्यक्षवाद में बौद्धिक क्रियाओं को अधिक महत्व देते हुए मानव मस्तिष्क की तार्किकता को विस्तृत व्याख्या की है। कॉम्ट का मानना है कि प्रत्यक्षवादी स्तर पर मानव की बौद्धिक क्षमता इतनी विकसित हो जायेगी कि वह लगेगा। वास्ताविकता यह है कि मानव प्रगति के लिए समाज का बौद्धिक विकास होना आवश्यक है। समाजशास्त्र को भी यदि एक विज्ञान के रूप में विकसित करना है तो सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में तार्किकता पर आधारित प्रत्यक्षवादी विधि को महत्व देना आवश्यक है।

(5) **धर्म तथा विज्ञान का समन्वय**—एक प्रत्यक्षवादी होते हुए भी कॉम्ट धर्म को विज्ञान का विरोधी नहीं बल्कि सहयोगी मानते हैं इसी कारण उन्होंने धर्म और विज्ञान क समन्वय पर जोर दिया। कॉम्ट के अनुसार प्रत्यक्षवाद एक ऐसी प्रणाली है जिसका उद्देश्य सम्पूर्ण मानव समाज का भौतिक बौद्धिक और नैतिक विकास करते हुए सामाजिक प्रगति की दिशा में आगे बढ़ना है। जन-कल्याण में वृद्धि करने के लिए धर्म का दृष्टिकोण भी उसी तरह मानवतावादी है जिस प्रकार प्रत्यक्षवादी मानवतावाद तथा प्रगति को अपना अन्तिम लक्ष्य मानता है। जब धर्म तथा विज्ञान का लक्ष्य समान रूप से जन-कल्याण में वृद्धि करना है तो इनके बीच एक समन्वय का होना स्वाभाविक है।

(6) **सामाजिक पुनर्निर्माण का साधन**—कॉम्ट ने प्रत्यक्षवाद को केवल एक विशुद्ध ज्ञान के रूप में स्पष्ट नहीं किया बल्कि उन्होंने इसे एक ऐसे उपयोगितावादी ज्ञान के रूप में स्पष्ट किया जिसके द्वारा मानवता के कल्याण के लिए सामाजिक पुनर्निर्माण को प्रोत्साहन दिया जा सके। प्रत्यक्षवाद को सामाजिक पुनर्निमाण का एक प्रभावशाली साधन बनाने के लिए कॉम्ट ने सन् 1848 में एक प्रत्यक्षवादी समाज के विकास पर भी जोर दिया। जिसमें असुरक्षा और स्वार्थ की जगह सद्भावना और परोपकार का अधिक महत्व हो। कॉम्ट ने ऐसे समाज की 'परार्थवादी समाज' अथवा 'दूसरों के हित के लिए जीवन व्यतीत करने वाले लोगों के समाज का नाम' दिया।

(7) **ऐतिहासिक पद्धति पर आधारित**—यह सच है कि प्रत्यक्षवाद स्वयं ही अध्ययन की एक वैज्ञानिक पद्धति है लेकिन कॉम्ट ने ऐतिहासिक आधार पर इस पद्धति को

रूपरेखा को स्पष्ट किया। उन्होंने यूरोप में नगर राज्यों के विस्तार, चर्च राज्यों की स्थापना तथा अन्त में लोकतन्त्र के बढ़ते हुए प्रभाव के आधार पर यह स्पष्ट किया कि प्रत्यक्षवाद सामाजिक विज्ञान का आवश्यक आधार है। उन्होंने धार्मिक तथा तात्विक स्तर के पश्चात् प्रत्यक्षवाद को जिस तरह चिन्तन की तीसरी तथा अन्तिम अवस्था के रूप में स्पष्ट किया है, उसमें भी वह स्पष्ट होता है कि कॉम्ट अपनी प्रत्यक्षवादी पद्धति को ऐतिहासिक पद्धति पर आधारित मानते थे।

रॉलिन चैम्बलिस (Rollin Chambliss)—ने अपनी पुस्तक 'Social Thought' में कॉम्ट के प्रत्यक्षवाद की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख करते हुए लिखा है कि प्रत्यक्षवाद का अलौकिक विश्वासों से कोई सम्बन्ध न होने के कारण यह अनीश्वरवादी है, साथ ही इसका भाग्यवाद से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसका कोई आध्यात्मिक आधार न होने के कारण इसे आशावादी भी नहीं कहा जा सकता। व्यावहारिक रूप से प्रत्यक्षवाद का सम्बन्ध वास्तविकता से है, कल्पना से नहीं। इसका सम्बन्ध उपयोगी ज्ञान से है, सम्पूर्ण ज्ञान से नहीं। इसका सम्बन्ध केवल उन्हीं तथ्यों से है जिनका पूर्व ज्ञान किया जा सकता है। यह यथार्थ ज्ञान से सम्बन्धित है, अस्पष्ट विचारों से नहीं। यह सापेक्षिक घटनाओं से सम्बन्धित है, निरपेक्ष घटनाओं से नहीं संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि प्रत्यक्षवाद चिन्तन की एक ऐसी पद्धति है जो सार्वभौमिक रूप से सभी के द्वारा स्वीकार किया जा सके।

प्रत्यक्षवाद की उपर्युक्त प्रकृति से स्पष्ट होता है कि कॉम्ट का उद्देश्य प्रत्यक्षवाद के द्वारा मानवीय चिन्तन को धार्मिक तथा तात्विक विचारों से मुक्त करके सामाजिक घटनाओं के अध्ययन को वैज्ञानिक रूप देना था। इस दिशा में प्राकृतिक विज्ञानों की पद्धतियों को आधार मानते हुए उन्होंने सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में भी प्रत्यक्षवाद के रूप में पद्धतियों के अनुसरण पर जोर दिया। कॉम्ट का प्रत्यक्षवाद का विशुद्ध वैज्ञानिक प्रणाली से इस अर्थ में भिन्न है कि इसका उद्देश्य समाजशास्त्र को एक विशुद्ध विज्ञान बनाना नहीं था। इसके आधार पर कॉम्ट सामाजिक प्रगति तथा सामाजिक पुनर्निर्माण भी करना चाहते थे। इस प्रकार कॉम्ट ने प्रत्यक्षवाद को एक विज्ञान, एक धर्म एवं एक राजनीति के साधन के रूप में स्वीकार किया।

एक विज्ञान के रूप में प्रत्यक्षवाद का सम्बन्ध अनुभव, अवलोकन, परीक्षण तथा वर्गीकरण के द्वारा सामाजिक घटनाओं का प्रत्यक्षवाद का राजनीतिक रूप इसके उस उद्देश्य से सम्बन्धित है जिसके द्वारा युद्ध की सम्भावना को दूर करके विभिन्न राज्यों के बीच सद्भावना और सहयोग में वृद्धि की जा सके। स्पष्ट है कि कॉम्ट ने अपने प्रत्यक्षवाद को शुरु में जहाँ वैज्ञानिक चिन्तन की एक प्रणाली के रूप में प्रस्तुत किया था वहीं आगे चलकर उन्होंने इसे धर्म और नीति से इस प्रकार मिला दिया कि इसकी वैज्ञानिकता में सन्देह किया जाने लगा।

विज्ञानों का संस्करण (Hierarehy of Science)

समाजशास्त्र के जनक आगस्त कॉम्ट 'समाजशास्त्र' को एक विशिष्ट प्रस्थिति प्रदान करना चाहते थे। इसके लिए उन्हें एक ऐसे सुदृढ़ आधार की आवश्यकता थी जिसके माध्यम से वे अन्य विज्ञानों की तुलना में समाजशास्त्र की विशिष्टता को प्रतिस्थापित कर सकें। कॉम्ट के पूर्ववर्ती विचारकों में **सेण्ट साइमन** (Saint Siman) ने वैज्ञानिक तरीके से विज्ञानों का

वर्गीकरण अवश्य किया था किन्तु कॉम्ट ने वैज्ञानिकता के दृष्टिकोण से इस वर्गीकरण को स्वीकार न करते हुए इसे और अधिक वैज्ञानिक रूप से स्पष्ट करने पर जोर दिया। इस दृष्टिकोण से करते हुए इसे और अधिक वैज्ञानिक रूप से स्पष्ट करने पर जोर दिया। इस दृष्टिकोण से कॉम्ट ने अपनी पुस्तक 'पॉजिटिव फिलासफी' (Positive Philiosophy) में जहाँ एक ओर अन्य विज्ञानों से समाजशास्त्र के सम्बन्ध को स्पष्ट किया, वहीं दूसरों ओर एक नवीन विज्ञान होने पश्चात् भी इसके आधारभूत महत्व एवं व्यापक अध्ययन क्षेत्र वर प्रकाश डाला। कॉम्ट द्वारा प्रस्तुत 'विज्ञानों का संस्तरण' उनके इसी प्रयास का परिणाम है। कॉम्ट ने विभिन विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्ध तथा संस्तरण को जिस रूप से स्पष्ट किया, वह मुख्यत: दो निम्नांकित सिद्धान्तों पर आधारित है—

(1) **निर्भरता का बढ़ता हुआ क्रम (Order of Increasing Dependence)**—कॉम्ट द्वारा प्रतिपादित विज्ञानों के संस्तरण की पहली मान्यता यह है कि ज्ञान के विकास के साथ इसकी प्रत्येक आगामी अथवा नयी शाखा अपने से पहले के ज्ञान पर अधिक निर्भर होती चली जाती है। इसका मतलब है कि सबसे पहले विकसित होने वाला ज्ञान अथवा विज्ञान सबसे अधिक स्वतन्त्र होगा जबकि ज्ञान की प्रत्येक आगामी शाखा अपने से पूर्व के सभी विज्ञानों अथवा ज्ञान की शाखाओं पर निर्भर होगा। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जैसे-जैसे की शाखाएं विकसित होती हैं, वैसे-वैसे वे पूर्ववर्ती विज्ञानों पर अधिक आश्रित या निर्भर होती जाती हैं।

(2) **घटती हुई सामान्यतया एवं बढ़ती हुई जटिलता (Decreasing Generality and Increasing Complexity)**—कॉम्ट ने अपने पहले सिद्धान्त के पूरक के रूप में इस दूसरे सिद्धान्त को प्रतिपादन किया है। कॉम्ट का कहना है कि जैसे-जैसे किसी एक विज्ञान की दूसरे विज्ञान पर निर्भरता बढ़ती जाएगी वैसे-वैसे उसकी समान्यता मे कमी होती जाएगी। किसी विज्ञान में यह सामान्यता जितनी कम होगी, उसकी कठिनता में उतनी ही अधिक वृद्धि देखने को मिलेगी। इसका तात्पर्य है कि जो विज्ञान जितना अधिक नवीन होगा, वह उतना ही अधिक सामान्य लेकिन कठिन होगा। इसका कारण यह है कि जिस विज्ञान की विषय-वस्तु जितनी सरल होगी वह विज्ञान अन्य विज्ञानों पर उतना ही कम निर्भर होगा और जैसे-जैसे किसी विज्ञान की अध्ययन-वस्तु में विशिष्टता आती जाएगी वैसे-वैसे उस विज्ञान की अन्य विज्ञानों पर निर्भरता बढ़ती जाएगी। इस हैं अर्थात् सार्वभौतिक रूप में पाई जाती हैं उनका अध्ययन करना आसान होता है। आधार पर कहा जा सकता है कि सरल घटनाओं का अध्ययन करने वाला विज्ञान सबसे अधिक सरल और सामान्य होता है क्योंकि सरल घटनाएँ पहले घटित होती हैं। इस प्रकार सबसे पहले विकसित होने वाना विज्ञान सबसे अधिक सामान्य और कम से कम जटिल होगा। इस क्रम में आने वाले तीसरे, चौथे और आगाती विज्ञानों में सामान्यता कम और जटिलता बढ़ती जाएगी। इस प्रकार जो विज्ञान जितना अधिक जटिल और अन्य विज्ञानों पर जितना अधिक निर्भर होता है, विज्ञानों के संस्तरण में वहीं अन्तिम स्थान पर होगा। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कॉम्ट ने निर्भरता का क्रम एवं जटिलता के बीच समानुपातिक सम्बन्ध बतलाया हैं कॉम्ट के द्वारा बतलाये गये विज्ञानों के संस्तरण को हम निम्न चार्ट के माध्यम से समझ सकते हैं—

NOTES

1. विषय	2. बढ़ती हुई निर्भरता का क्रम	3. बढ़ती हुई जटिलता का क्रम
गणित	आत्म निर्भर	सरतलम विज्ञान
खगोल शास्त्र	गणित पर निर्भर	गणित से जटिल
प्राकृतिक विज्ञान (रसायन/भौतिकी)	गणित और खगोल पर निर्भर	गणित, खगोल से जटिल
जीव विज्ञान (प्राणिशास्त्र/वनस्पतिशास्त्र)	गणित, खगोल तथा प्राकृतिक विज्ञानों पर निर्भ	गणित, खगोल तथा प्राकृतिक विज्ञानों से जटिल
समाजशास्त्र	गणित, खगोल तथा प्राकृतिक विज्ञानों तथा जीव विज्ञानों पर निर्भर	सर्वाधिक जटिल विज्ञान

(1) गणितशास्त्र (Mathematics)—जैसा कि हम आरम्भ में उल्लेख कर चुके हैं, विज्ञानों के संस्तरण में जिस विज्ञान की विषय-वस्तु जितनी अधिक सरल होगी, वह उतना ही सामान्य होगा गणित विज्ञान का प्राचीन एवं विशुद्ध विज्ञान है। गणित में निहित तथ्यों को विवेचना के लिए अनरूप विज्ञानों की सहायता की जरूरत नहीं पड़ती। उदाहरण के लिए, दो और दो चार होते हैं। यह तथ्य सार्वभौमिक है। इस तरह कॉम्ट ने विज्ञानों के संस्तरण में प्रथम स्थान गणित विज्ञान का प्रदान किया क्योंकि इसके सिद्धान्तों की सत्यता के लिए उसे दूसरे विज्ञान पर निर्भर नहीं रहना पड़ता।

(2) खगोल विज्ञान (Astronomy)—विज्ञानों के संस्तरण में दूसरा स्थान खगोल शास्त्र का आता है जो अपने से पहले के विज्ञान गणित पर निर्भर है, अत: सिद्धान्तानुसार यह विज्ञान गणित से अधिक जटिल है। गणित पर निर्भरता को पुष्टि के लिए कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकमते हैं। खगोलशास्त्र की विषय-वस्तु का सम्बन्ध अन्तरिक्ष और पृथ्वी (स्थलीय) जो घटनाओं से होता है। सामान्यता खगोलशास्त्र में ग्रहों, सूर्य, चन्द्रमा, दिन, रात आदि से सम्बन्धित नियमों का अध्ययन किया जाता है। इन समस्त अध्ययनों का सत्यापन गणित की सहायता से ही किया जाता है। वास्तव में, स्थलीय घटनाओं का सम्बन्ध खगोलीय घटनाओं से ही होता है। खगोलशास्त्र मे ग्रह, नक्षत्रों, तारों आदि के बीच के दूरी व उनके परिभ्रमण का निर्धारण आदि गणित की सहायता से ही किया जा सकता है। प्राचीन काल से ही ऋतुओं, मौसम, जलवायु आदि से सम्बन्धित जानकारी पृथ्वी आदि के परिभ्रमण के आधार पर वर्ष, माह, दिन का निर्धारण किया गया। इस प्रकार गणित पर आधारित खगोलीय जानकारी के आधार पर ही वर्ष का कैलेण्डर तैयार किया गया।

(3) प्राकृतिक विज्ञान (Natural Sciences)—विज्ञानों के संस्तरण में तष्टतीय स्थान प्राकृतिक विज्ञानों का है जिनमें मुख्यत: भौतिकी तथा रसायनशास्त्र को सम्मिलित

किया जाता है। भौतिकी तथा रसायनशास्त्र क्रमश: गणित एवं खगोलशास्त्र पर निर्भर हैं, इसलिए इनकी विषय-वस्तु की जटिलता अपने में पूर्व में दोनों विज्ञानों से अधिक है। भौतिकशास्त्र में जो अध्ययन किया जाता है। उदाहरण के लिए **गुरूत्वीय कर्षण** की जानकारी के लिए हमें खगोलशास्त्र और गणित का अध्ययन करना आवश्यक है। **गुरूत्वीय त्वरण** के मान के विविधता होती है। इसके मान अक्षांश तथा ऊँचाई का प्रभाव पड़ता है। इस तरह भौतिकी के अध्ययन हेतु खगोल सम्बन्धी जानकारी आवश्यक है। इसके साथ ही भौतिकी के सिद्धान्तों की पुष्टि गणित के बिना भी नहीं हो सकती क्योंकि मान निकालने के लिए समीकरण में गणनात्मक तथ्यों का प्रयोग किया जाता है। भौतिकशास्त्र उसी तरह **रयायनशास्त्र** में भी रासायनिक प्रतिक्रियाओं की जानकारी खगोल एवं गणितशास्त्र के बिना प्राप्त नहीं की जा सकती। उदाहरण के लिए, यह मापने के लिए कि किसी रासायनितक प्रतिक्रिया में लवण, क्षार, अम्ल आदि के अणु हैं, हमें गणित के ज्ञान की आवश्यकता होती है। इस क्षेत्र में खगोल सम्बन्धी जानकारी भी इसीलिए आवश्यक है कि इसी के द्वारा यह जाना जा सकता है कि कोई रासायनिक तत्त्व अपने स्थलीय परिवेश में प्रकृति के प्रति कितना सक्रिय या निष्क्रिय होगा। उदाहरण के लिए, Na (सोडियम) अत्यन्त ज्वलनशील पदार्थ है। इसे जानने के बाद कि बाह्य वातावरण का इस पर क्या प्रभाव पड़ता है; सोडियम को मिट्टी के तेल में रखा जाता है। इस तरह प्राकृतिक विज्ञानों की विषय-वस्तु अपने पूर्ववर्ती विज्ञानों पर निर्भर रहती है। इसी निए कॉम्ट का मत है कि प्राकृतिक विज्ञान गणित एवं खगोलशास्त्र से जटिल है।

(4) जीव विज्ञान (Biology)—जीव विज्ञान में वनस्पति तथा प्राणियों का अध्ययन किया जाता है। वनस्पति से सम्बन्धित अध्ययन के लिए भी हमें क्रमश: गणित, खगोल एवं प्राकृतिक विज्ञानों पर निर्भर रहना पड़ता है। इसके साथ ही जीव विज्ञानों के अध्ययन के लिए गणित, खगोलशास्त्र एवं प्राकृतिक विज्ञानों से सम्बन्धित जानकारी भी जरूरी है। **जन्तु विज्ञान** (Zoology) के बारे में कुछ भी जानने से पहले पूर्ववर्ती विज्ञानों का ज्ञान होना आवश्यक है। उदाहरण के लिए, एक सावयव अथवा शरीर अपना कार्य करता रहे, इसके लिए उसे भोजन की आवश्यकता होती है जबकि भोजन के घटकों को हम रसायन शास्त्र की मदद से ही समझ सकते हैं। सामान्यतया भोजन के रासायनिक वर्गीकरण में प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, वसा, खनिज लवण, विटामिन तथा जल आदि प्रमुख घटक हैं। अत: इन रासायनिक तत्त्वों की प्रतिक्रियाओं, इनके अनुपात आदि के लिए रसायनशास्त्र का ज्ञान होना आवश्यक है। प्राणिशास्त्र, भौतिक शास्त्र से भी सम्बन्धित है क्योंकि भौतिकशास्त्र से ही हमें ताप, भार आदि का ज्ञान होता है। प्राणि-विज्ञान खगोलशास्त्र पर भी निर्भर करता है। किसी भी देश के लोगों के रहन-सहन सभ्यता, संस्कृति तथा आर्थिक उन्नति आदि का जलवायु से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। शुरू में ही ऐसा माना जाता रहा है कि जलवायु प्राणी के व्यवहारों, स्वास्थ्य और मानसिकता पर प्रभाव डालता है। अध्ययनों से ज्ञात हुआ है कि प्राणियों पर चन्द्रमा की विभिन्न स्थितियों के अलग-अलग प्रभाव पड़ते हैं। ॠतु परिवर्तन का भी प्राणियों पर असर पड़ता है। स्पष्ट है कि जीव विज्ञान जहाँ एक ओर खगोलशास्त्र से सम्बन्धित है वहाँ इसका गणित तथा प्राकृतिक विज्ञानों से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस तरह कॉमट ने जीवशास्त्र को अपने पूर्ववर्ती विज्ञानों से अधिक जटिल और अधिक निर्भर विज्ञान माना है।

(5) **समाजशास्त्र (Sociology)**—समाजशास्त्र चूँकि नवीनतम विज्ञान है अत: सिद्धान्तानुसार इसमें बढ़ती हुई निर्भरता और बढ़ती हुई जटिलता की विशेषता सबसे अधिक है। इसी प्रस्तुत करते हुए कॉम्ट ने कहा कि ''सामूहिक घटनाओं से सम्बन्धित सामाजिक तथ्यों का अध्ययन करने वाला विज्ञान ही समाजशास्त्र है।'' समाजशास्त्र की विषय-वस्तु अत्यधिक जटिल है क्योंकि कॉम्ट के अनुसार यह विज्ञान अपने पूर्ववत्ती विज्ञानों पर सबसे अधिक निर्भर है। उदाहरण के लिए सामूहिक क्रियाओं या किसी समाज में पाये जाने वाले सम्बन्धों का अध्ययन करने वाला तथा उनका अनुमापन (Measuremetn) करने के लिए हमें गणित की जरूरत होती है। सच तो यह है कि वर्तमान समस्त सामाजिक शोधों में साँख्यिकीय का प्रयोग हो रहा है। समाजशास्त्र खगोलशास्त्र पर भी निर्भर है क्योंकि वैज्ञानिक खोजों से यह स्पष्ट हुआ है कि सामाजिक जीवन काफी सीमा तक भौगोलिक दशाओं से भी प्रभावित होता है। खगोलशास्त्र के पश्चात् प्राकृतिक विज्ञानों (भौतिकी/रसायन) है कि मनुष्य का शरीर पाँच तत्वों से मिल कर बना है तथा इन तत्वों के प्रभावों का विश्लेषण करके ही यह ज्ञात किया जा सकता है कि पर्यावरणीय प्रभाव किस प्रकार एक समूह के सदस्यों और उसकी संस्कृति को प्रभावित करती है। जीव एवं वनस्पति विज्ञानों के अध्ययनों तथा उनके परिणामों के आधार पर ही औषधि एवं चिकित्सा आदि की उद्भव हुआ है। चिकित्सा और समाज के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध है अथवा यह भी कहा जा सकता है कि औषधि के बिना मनुष्य और समाज दोनों ही रोगग्रसत हो सकते हैं चिकित्सा के समाजशास्त्र (Sociology of Medicine) के अध्येताओं ने भी कहा है कि ''औषधि एक सामाजिक तत्व है।'' औषधि में जिन वनस्पतियों का मिश्रण होता है, उनका व्यवस्थित अध्ययन वनस्पतिशास्त्र में किया जाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि समाजशास्त्र अपने पूर्व के सभी विज्ञानों पर सबसे अधिक निर्भर एवं जटिलतम विज्ञान है।

विज्ञानों के संस्तरण के माध्यम से कॉम्ट ने समाजशास्त्र को पूर्ववर्ती विज्ञानों की तुलना में सर्वोच्च स्थान प्रदान किया। इस सिद्धान्त में निहित जटिलता और विकास के समानुपातिक सम्बन्धों के आधार पर ही कॉम्ट को उद्विकासवादी विचारक की श्रेणी में भी रखा जा सकता है।

समालोचनात्मक मूल्यांकन (CRITICAL EVALUATION)

सामाजिक विज्ञानों में समाजशास्त्र को एक पृथक विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित करने तथा इसके अध्ययन-क्षेत्र और अध्ययन-पद्धति का निर्धारण करने में अगस्त कॉमट की भूमिका निश्चय ही बहुत महत्वपूर्ण है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कॉम्ट ने प्रत्यक्षवाद के रूप में सामाजिक घटनाओं का वैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए जिस दृष्टिकोण को विकसित किया उसे आज तक किसी न किसी रूप में समाजशास्त्रियों द्वारा मान्यता दी जाती है। इसके पश्चात् भी कॉम्ट के विचारों में एक विरोधाभास देखने को मिलता है। आलोचकों का मानना है कि एक ओर कॉम्ट ने प्रत्यक्षवादी पद्धति से सामाजिक घटनाओं पर बल दिया वहीं दूसरी ओर उन्होंने धर्म, नैतिकता और सामाजिक पुनर्निर्माण से सम्बन्धित अनेक ऐसे विचार प्रस्तुत किये जो विज्ञान की अपेक्षा कल्पना और दर्शन के अधिक निकट हैं। कुछ प्रमुख आलोचनातओं के द्वारा कॉम्ट के विचारों का मूल्यांकन अग्रांकित रूप से किया जा सकता है।

(1) **रेमण्ड एरों** (Raymond Aron) ने लिखा है, ''आगस्त कॉम्ट को दार्शनिकों में समाजशास्त्री तथा समाजशास्त्रियों में दार्शनिक कहा जाता है।'' किसी व्यक्ति को इससे बड़ी आलोचना नहीं हो सकती। सामाजिक घटनाओं को अध्ययन करने के लिये कॉम्ट ने जिस प्रत्यक्षवादी पद्धति का सुझाव दिया, उसे स्पष्ट करने के बाद भी कॉम्ट नैतिकता और बौद्धिकता तथा धर्म और विज्ञान के जाल कुछ इस तरह उलझ गये कि कुछ विद्वानों को यह कहने के लिये विवश होना पड़ा कि ''प्रत्यक्षवाद का जन्मदाता ही सबसे अधिक अवैज्ञानिक बन गया।''

(2) **तिमाशेफ** (Timascheff) ने लिखा है, ''कॉम्ट ने दृढ़ता से यह मान लिया कि धर्म ही समाज का सबसे प्रमुख आधाार स्तम्भ है लेकिन एक धार्मिक विचारक के रूप में भी वह कोई ऐसी योजना नहीं दे सके जिसे व्यावहारिक एवं वैज्ञानिक कहा जा सके।'' इसी तथ्य को दूसरे ढंग से स्पष्ट करे हुए **जे. एम. मिल** ने लिखा है कि कॉम्ट ने सामाजिक पुनर्निर्माण के बारे में जो विचार प्रस्तुत किये, उनमें किसी तरह की तार्किकता नहीं है। इन्हीं विचारों ने कॉम्ट को प्रत्यक्षवाद की श्रेणी के बाहर लाकर कल्पनावादी विचारकों की श्रेणी में लाकर खड़ा कर दिया।

(3) कॉम्ट ने यह स्वीकार किया कि प्रत्यक्षवादी ज्ञान को उपयोगी बनाने के लिये जरूरी है कि समाजशास्त्र को एक व्यावहारिक विज्ञान (Applied Science) के रूप में विकसित किया जाय। व्यावहारिक विज्ञान की प्रकृति भी वैज्ञानिक हो सकती है लेकिन कॉम्ट ने इस व्यावहारिक विज्ञान में जिन विषयों का अध्ययन करने पर जोर दिया, उससे कॉम्ट के वैज्ञानिक चिन्तन में सन्देह होने लगता है।

(4) **कोजर** ने कॉम्ट के विचारों की समीक्षा करते हुए कि आरम्भ में कॉम्ट के प्रत्यक्षवादी विचारों से ऐसा लगता है कि समाजशास्त्र के रूप में उनका उद्देश्य समाज विद्वानों के लिये एक वैज्ञानिक आधाार प्रस्तुत करना था। धीरे-धीरे वह स्वयं प्रत्यक्षवादी चिन्तन से हटकर अपने आप को मानवता के धर्म के संस्थापाक के रूप में देखने लगे। इन्हीं विचारों के कारण कॉम्ट के चिन्तन की वैज्ञानिकता खत्म हो गयी।

(5) कुछ आलोचक कॉम्ट के प्रत्यक्षवाद को भी एक ऐसी पद्धति के रूप में स्वीकार नहीं करते जिसे पूरी तरह वैज्ञानिक कहा जा सके। इस सम्बन्ध में **मिमाशेफ** का कथन है, ''कॉम्ट ने अपने विचारों का अवलोकन और अनुमान के स्तर से एकाएक सिद्धान्त के स्तर तक पहुँचाने का काम किया है जो सही नहीं है।'' दूसरे शब्दों में, कॉम्ट के प्रत्यक्षवादी विचारों में इतनी परिपक्वता नहीं है कि उनके आधार पर कोई समाजशास्त्रीय सिद्धान्त विकसित किये जा सकें।

(6) यह भी सच है कि वर्तमान सन्दर्भ में कॉम्ट द्वारा प्रतिपादित समाजशास्त्र की विषय-वस्तु को अधिक मान्यता नहीं दी जा सकती। एक ओर उन्होंने सामाजिक प्रगति को समाजशास्त्र की अध्ययन-वस्तु का प्रमुख आधार माना लेकिन दूरी ओर उन्होंने सामाजिक प्रगति को व्यक्ति के नैतिक विकास से इस तरह जोड़ दिया कि इस आधार पर समाजशास्त्र को वैज्ञानिक रूप देना कठिन हो जाता है।

समाजशास्त्र के बारे में कॉम्ट के विचारों का मूल्यांकन इस दृष्टिकोण में किया जाना चाहिये कि कॉम्ट वह पहले विचारक थे जिन्होंने समाजशास्त्र को एक स्वतन्त्र के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया। जिस समय समाजशास्त्र के अध्ययन-विषय और अध्ययन-पद्धति के बारे में कोई विचार उपलब्ध नहीं थे, उस समय किसी भी व्यक्ति से यह आशा नहीं

की जा सकती कि बिल्कुल आरम्भिक विचारों के द्वारा ही समाजशास्त्र को इतना व्यवस्थित रूप दे दिया जाता है कि सभी समाजशास्त्री उसे उसी रूप में मान्यता दे देते। इसके बाद भी समाजशास्त्र के संस्थापक के रूप में कॉम्ट ने जो विचार प्रस्तुत किये उन्हीं के आधार पर बाद में समाजशास्त्र एक व्यवस्थित विज्ञान का रूप ले सका।

अध्याय का संक्षिप्त सार

प्रत्यक्षवादी पद्धति की चर्चा करते हुए कॉम्ट नैतिकता और बौद्धिकता तथा धर्म और विज्ञान के जाल में कुछ इस तरह से उलझ गये कि कुछ विद्वानों को यह कहने के लिए विवश होना पड़ा कि ''प्रत्यक्षवाद का जन्मदाता ही सर्वाधिक अप्रत्यक्षवादी अथवा अवैज्ञानिक है।'' इस प्रकार कॉम्ट द्वारा प्रतिपादित विभिन्न सिद्धान्तों की अनेक आधारों पर कटु आलोचना की गई है। इस तथ्य में कोई सन्देह नहीं कि काम्ट द्वारा आलोचना के स्तर से ऊपर उठ कर यदि हम कॉम्ट की उपादेयता का उल्लेख करें तो कॉम्ट का चिंतन समाजशास्त्र में नींव के पत्थर की भाँति दिखाई देता है। यदि हम इस तथ्य पर विचार करें कि जब समाजशास्त्र के प्रारम्भिक सिद्धान्तों का भी कोई वैज्ञानिक अस्तित्व नहीं था, उस समय कॉम्ट द्वारा समाजशास्त्र को एक विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए कितना आधारभूत योगदान किया गया, नि:सन्देह एक समाजशास्त्रीय विचारक के रूप में कॉम्ट की उपादेयता सिद्ध हो जाती है। समाजशास्त्र में आज प्रकार्यवादी अध्ययनों को एक बड़ी उपलब्धि के रूप में देखा जाता है जबकि यह अध्ययन कॉम्ट द्वारा प्रतिपादित प्रत्यक्षवाद एवं समाज की सावयवी संरचना जैसी अवधारणाओं की सहायता से ही विकसित हो सकें। सच तो यह है कि विज्ञानों के संस्तरण के सन्दर्भ में कॉम्ट ने 'सरलता से जटिलता' की दिशा में होने वाले परिवर्तन की जिस प्रवृत्ति को स्पष्ट किया, वह आज भी अनेक महत्वपूर्ण समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का आधार है। इस दृष्टिकोण से एक सामजशास्त्रीय विचारक के रूप में कॉम्ट का योगदान चिरस्मरणीय रहेगा।

परिक्षोपयोगी प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. कॉम्ट का जीवन परिचय देते हुए उनकी बौद्धिक पृष्ठभूमि की विवेचना कीजिए।
2. समाजशास्त्र की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए, एक विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
3. प्रत्यक्षवाद का अर्थ स्पष्ट करते हुए इसकी प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
4. विज्ञानों के संस्करण से कॉम्ट का क्या अभिप्राय हैं ? विस्तृत वर्णन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. समाजशास्त्र को एक नवीन विज्ञान के रूप में प्रतिस्थापित करने में कॉम्ट की रचनाओं का क्या योगदान है ?
2. समाजशास्त्र को कॉम्ट की सामान्य देन क्या है ? इस सन्दर्भ में उनके विचारों को संक्षिप्त में लिखिए।
3. समाजशास्त्र की शाखाओं का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
4. सामाजिक विज्ञानों में समाजशास्त्र की भूमिका का समालोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. निम्नांकित में से किसे प्रत्यक्षवाद का जनक माना जाता है—
(अ) आगस्त कॉम्ट (ब) जेम्स गिल
(स) मार्क्स (द) इमाइल दुर्खीम
2. कॉम्ट ने नये सामाजिक विज्ञान को समाजशास्त्र के नाम से कब सम्बोधित किया ?
(अ) सन् 1852 (ब) सन् 1857
(स) सन् 1838 (द) उपर्युक्त में से कोई
3. आगस्त कॉम्ट का सम्बन्ध किस देश से रहा ?
(अ) भारत से (ब) फ्रांस से
(स) अमेरिका से (द) चीन से
4. कॉम्ट के अनुसार सामाजिक प्रगति का अर्थ मानव के बौद्धिक और नैतिक विकास से है। यह कथन है—
(अ) सत्य (ब) विवादपूर्ण
(स) असत्य (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
5. कॉम्ट ने समाज के नये विज्ञान को सबसे पहले किस नाम से सम्बोधित किया था ?
(अ) सामाजिक जीवशास्त्र (ब) समाजशास्त्र
(स) सामाजिक भौतिकशास्त्र (द) उपर्युक्त सभी
6. आगस्त कॉम्ट के अनुसार निम्नांकित में से प्रत्यक्षवाद क्या है ?
(अ) एक सिद्धान्त (ब) एक परिभाषा
(स) वर्गीकरण की प्रणाली (द) अध्ययन की वैज्ञानिक प्रणाली
7. "समाज एक सामूहिक सावयव है न कि वैयक्तिक" यह कथन किस समाजशास्त्री का है-
(अ) दुर्खीम (ब) कॉम्ट
(स) सरोकिन (द) पारसन्स
8. कॉम्ट की मृत्यु किस सन् में हुई?
(अ) 1856 (ब) 1860
(स) 1875 (द) 1857
9. कॉम्ट के तीन स्तरों के नियम में कौन-सा स्तर शामिल नहीं है-
(अ) आध्यात्मिक (ब) राजनीतिक
(स) तात्विक (द) प्रत्यक्ष
10. कॉम्ट का जन्म कब हुआ?
(अ) 19 जनवरी, 1798 (ब) 19 जनवरी, 1799
(स) 19 जनवरी, 1797 (द) 19 जनवरी, 1796

उत्तर— 1. (अ), 2. (स), 3. (ब), 4. (अ), 5. (स), 6. (द), 7. (ब), 8. (द), 9. (ब), 10. (अ)।

●●

3 हरबर्ट स्पेन्सर

NOTES

अध्याय में सम्मिलित विषय सामग्री

- उद्देश्य
- प्राक्कथन
- जीवन परिचय तथा कृतियाँ
- सामाजिक डार्विनवाद
- उद्विकास का अर्थ
- सामाजिक उद्विकास
- भौतिक उद्विकास का नियम
- आलोचनात्मक मूल्यांकन
- अध्याय का संक्षिप्त सार
- परीक्षोपयोगी प्रश्न

उद्देश्य :

इस अध्याय अध्ययन के पश्चात् आप निम्न तथ्यों को समझ सकेंगे—

- प्राक्कथन।
- जीवन परिचय तथा कृतियाँ
- सामाजिक डार्विनवाद
- उद्विकास का अर्थ
- सामाजिक उद्विकास
- भौतिक उद्विकास का नियम
- आलोचनात्मक मूल्यांकन

प्राक्कथन

19 वीं शताब्दी के सामाजिक विचारकों में हरबर्ट स्पेन्सर का नाम बहुत महत्वपूर्ण है। उन्होंने 19 वीं शताब्दी की सामाजिक विचारधारा को एक नया मोड़ देने के साथ ही जीवशास्त्र (Biology) के सिद्धान्तों के आधार पर समाज का विश्लेषण प्रस्तुत किया। ऑगस्ट कॉम्ट को यदि समाजशास्त्र के जनक के रूप में जाना जाता है तो स्पेन्सर वह प्रमुख विचारक हैं जिन्होंने समाजशास्त्र को प्रतिष्ठित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। जिस तरह प्राणीशास्त्रीय उद्विकास के क्षेत्र में चार्ल्स डार्विन का नाम महत्वपूर्ण है, उसी तरह सामाजिक उद्विकास के सिद्धान्त के प्रतिपादक के रूप में सभी विद्वान स्पेन्सर के योगदान को स्वीकार करते हैं। स्पेन्सर एक ऐसे सामाजिक विचारक रहे हैं जिन्होंने बौद्धिक जगत में विज्ञान के अध्ययन से लेकर मनोविज्ञान, दर्शन, शिक्षा, राजनीति और समाजशास्त्र से सम्बन्धित मौलिक विचारों का प्रतिपादन किया। प्राणीशास्त्र एवं समाजशास्त्र के बीच एक अनूठा समन्वय करते हुए उन्होंने समाज की जो व्याख्या प्रस्तुत की, सामाजिक विचारों के इतिहास में उसे आज भी बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है।

जीवन तथा कृतियाँ (Life and Works)

हरबर्ट स्पेन्सर का जन्म 27 अप्रैल, 1820 को इंग्लैण्ड के डर्बी नामक स्थान में एक साधारण अध्यापक परिवार में हुआ था। हरबर्ट स्पेन्सर के पिता जॉर्ज स्पेन्सर धार्मिक स्वतन्त्रता के साथ तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था में बदलाव के पक्षधर थे। 19 वीं शताब्दी के शुरू में चर्च की सत्ता को पूरी तरह न मानने वाले लोगों को सामाजिक रूप से नीची निगाह से देखा जाता था। ऐसे परिवारों के बच्चों को उन शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश भी नहीं मिलता था जिन पर चर्च अथवा सम्मानित संगठनों का प्रभाव होता था। इसी कारण स्पेन्सर की स्कूली शिक्षा किसी प्रतिष्ठित स्कूल में सम्पन्न नहीं हुई। बचपन में उनका स्वभाव बहुत शर्मीला था तथा नियमित रूप से स्कूल जाने में भी उनकी अधिक रूचि नहीं थी। फलस्वरूप हरबर्ट स्पेन्सर को उनकी प्रारम्भिक शिक्षा घर पर उनके माता-पिता द्वारा ही दी गयी। तेरह वर्ष की आयु में वह अपने चाचा थॉमस के साथ रहने के लिए उनके घर चले गये। थॉमस क्रान्तिकारी विचारों के समर्थक थे तथा चर्च की बढ़ती हुई सत्ता के पक्ष में नहीं थे। प्राकृतिक विज्ञानों और दर्शन का उन्हें अच्छा ज्ञान था लेकिन इतिहास, अर्थशास्त्र या साहित्य में उनकी अधिक रूचि नहीं थी। उनके प्रभाव से सोलह वर्ष की आयु होने तक हरबर्ट स्पेन्सर को गणित और प्राकृतिक विज्ञानों का अच्छा ज्ञान हो सका। नीतिशास्त्र और राजनीति में भी हरबर्ट स्पेन्सर की रुचि बनी रही यद्यपि उन्हें इन विषयों का कोई समुचित प्रशिक्षण नहीं मिल सका। एक निर्धन परिवार से सम्बन्धित होने अपनी आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए हरबर्ट स्पेन्सर ने सत्रह वर्ष की आयु से लन्दन तथा बर्मिघम रेल-रोड कम्पनी में एक इन्जीनियर के रूप में काम करना शुरू कर दिया। सन् 1841 में जब यह परियोजना पूरी हो गयी, स्पेन्सर पुन: अपने गृहनगर डर्बी में वापस आ गए। यहाँ आकर उन्होंने अनेक व्यावसायिक पत्रिकाओं के लिए इन्जीनियरिंग पर लेख लिखना आरम्भ किया लेकिन जल्दी ही उनकी रुचि सामाजिक और राजनैतिक विषयों की ओर बढ़ने लगी। इसके फलस्वरूप उन्होंने सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र से जुड़ी

पत्र-पत्रिकाओं में अपने लेख प्रकाशित करना शुरू कर दिये। इस अवधि में उनके द्वारा लिखा गया एक लेख 'सरकार का समुचित कार्य-क्षेत्र (The Proper Sphere of Government) काफी उत्तेजक होने के बाद भी बहुत लोकप्रिय हुआ। लगभग सात वर्ष तक परिवर्तनवादी पत्रकारियों से जुड़े रहने के बाद सन् 1848 में वह लन्दन की सबसे प्रमुख पत्रिका 'इकोनॉमिस्ट' के सह-सम्पादक नियुक्त हो गये।

दो वर्ष बाद ही सन् 1850 में हरबर्ट स्पेन्सर द्वारा लिखित उनकी प्रथम पुस्तक Social statics प्रकाशित हुई जो राजनैतिक दर्शन से सम्बन्ति थी। क्रान्तिकारी बौद्धिकता के क्षेत्र में उनका यह अपूर्व योगदान था। एक समय प्रगति अथवा Progress एक ऐसा सामान्य शब्द था जिसका परिवर्तनकारी विचारकों सहित कॉम्ट ने भी व्यापक उपयोग किया था। उन्होंने इस शब्द को बहुत भ्रामक बताते हुए इसके स्थान पर Evolution (उद्‌विकास) शब्द के उपयोग पर अधिक बल दिया। इस समय तक हरबर्ट स्पेन्सर डार्विन के प्राणीशास्त्र उद्‌विकास से परिचित हो चुके थे यद्यपि वह इससे सहमत नहीं थे। इसके बाद भी वह डार्विन के इस विचार में प्रभावित हुए कि जैविक रचना में होने वाला परिवर्तन असम्बद्ध समानता (incoherent homogencity) में सम्बद्ध भिन्नता (coherent heterogeneity) की ओर होता है। यह एक ऐसी दशा है जिसे प्रगति शब्द के द्वारा स्पष्ट न करके उद्‌विकास के द्वारा ही स्पष्ट किया जा सकता है।

अपने आरम्भिक जीवन में प्राकृतिक विज्ञानों से जुड़े रहने के कारण स्पेन्सर ने सामाजिक उद्‌विकास तथा स्वतन्त्र राजनीति की विवेचना प्राकृतिक विज्ञानों के सन्दर्भ में ही करना आरम्भ कर दी ।

सन् 1853 में हरबर्ट स्पेन्सर के चाचा थॉमस जिन्होंने उन्हें गणित और प्राकृतिक विज्ञानों में प्रशिक्षित किया था की मृत्यु हो गयी। उनसे स्पेन्सर को एक अच्छी धनराशि प्राप्त हो गयी। स्पेन्सर की सदैव से यह इच्छा रही थी कि वे जीवन भर अविवाहित रहकर एक स्वतन्त्र अध्येता के रूप में जिन्दगी व्यतीत करें। यह धनराशि मिल जाने से स्पेन्सर की यह इच्छा पूरी हो गयी तथा उन्होंने Economist के सह-सम्पादक के पद के त्यागपत्र देकर स्वतन्त्र चिन्तन और लेखन करना शुरू कर दिया। अगले वर्ष ही 1854 में उनकी पुस्तक The principles of Pshychology (मनोविज्ञान के सिद्धान्त) प्रकाशित हुई लेकिन अधिकांश विचारकों ने इसमें दिये गये स्पेन्सर के विचारों को स्वीकार नहीं किया। इससे स्पेन्सर को इतनी निराशा हुई कि अब्राहम तथा मार्गन के अनुसार वह अनेक वर्ष तक अफीम का सेवन करने के आदी बन गये। सन् 1852 में अपने एक लेख में पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं। इसी पुस्तक के बाद स्पेन्सर ने योग्यतम की विजय (Survival of the Fiticst) की अवधारणा का व्यापक रूप से उपयोग करना आरम्भ कर दिया। उनका मानना था कि इसी अवधारणा के द्वारा समाज विरोधी तत्वों के ऊपर सामाजिक तत्वों तथा समाज से कम अनुकूलन करने वाले लोगों की तुनला में अधिक अनुकूलन करने वाले लोगों की श्रेष्ठता को समझा जा सकता है। यहीं से उनका चिन्तन सामाजिक उद्‌विकास के एक ऐसे सार्वभौमिक नियम की खोज पर आधारित हो गया जिसकी सहायता से सभी सामाजिक विज्ञानों के बीच एक समन्वय स्थापित किया जा सकता है।

सन् 1862 में हरबर्ट स्पेन्सर की अत्यधिक महत्वपूर्ण पुस्तक First Principles (प्रथम सिद्धान्त) हुई तथा सन् 1867 में एक अन्य पुस्तक Principles of Bioloty (जीवशास्त्र के सिद्धान्त) का अनेक में प्रकाशन हुआ। सन् 1872 में उनकी पुस्तक Principles of Psychology) (मनोविज्ञान के सिद्धान्त) में अनेक भागों में प्रकाशित हुई। इसके बाद सन् 1873 में जब उनकी पुस्तक The Studey of Sociology समाजशास्त्र का अध्ययन) प्रकाशित हुई, तब ऐसा लगा कि स्पेन्सर की रुचि दर्शन जीवनशास्त्र और मनोविज्ञान के समाजशास्त्र की ओर बढ़ रही है। इस पुस्तक में उन्होंने पहली बार इस बात पर बल दिया कि समाजशास्त्र को तब तक पूर्ण मान्यता नहीं मिल सकती जब तक सामाजिक व्यवस्था को समझने के लिए प्राकृतिक नियमों के आधार न माना जाय। इसके बाद स्पेन्सर अपनी पुस्तक Descriptive Sociology समाजशास्त्र) लिखने में लग गये जो सन् 1873 से 1894 के बीच आठ भागों में प्रकाशित हुई। इसी के साथ उन्होंने एक अन्य पुस्तक Principles of Socilogy (समाजशास्त्र के सिद्धान्त) भी लिखना शुरू की जो अनेक खण्डों में सन् 1896 में प्रकाशित हुई। इस तरह सन् 1870 के बाद से स्पेन्सर को इंग्लैण्ड अमेरिका और यूरोप के अन्य दूसरे हिस्सों के बुद्धिजीवियों और विद्वानों द्वारा मान्यात दी जाने लगी। अपने समय के प्रख्यात विद्वानों जॉन स्टुअर्ट मिल (J.S. Mill) थॉमस हक्सले (Thomal Huxley), टेन्डॉल (Tyndall) तथा जॉर्ज इलियट (George Eliot) से उनका घनिष्ठ सम्पर्क रहने लगा। इस समय तक केवल इंग्लैण्ड और अमरीका में ही उनकी पुस्तकों को पढ़ने वालों की संख्या में वृद्धि नहीं हुई बल्कि अनेक पुस्तकों का जर्मन, स्पेनिश, इटेलियन और यहाँ तक कि रूसी भाषा में भी अनुवाद होने लगा।

उपर्युक्त पुस्तकों के अलावा स्पेन्सर ने कुछ अन्य पुस्तकों की भी रचना की। सन् 1902 में उनकी मृत्यु हो गयी। वास्तव में वह अपने समय के एक क्रियात्मक व्यक्ति होने के साथ ही मानवतावादी भावनाओं से परिपूर्ण थे। विभिन्न मानवतावादी संगठनों के सदस्य के रूप में उन्होंने साम्राज्यवादी परम्पराओं का विरोध करके व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को विशेष महत्व दिया। समाजशास्त्र से सम्बन्धित अपने अधिकांश विचारों में उनका चिन्तन कॉम्ट से अलग था। उन्होनें अपने ग्रन्थ समाजशास्त्र के सिद्धान्त में जो विचार प्रस्तुत किये उनमें से अधिकांश विचार कॉम्ट द्वारा पहले ही प्रस्तुत किये जा चुके थे। यहाँ तक कि उनकी प्रथम पुस्तक सामाजिक स्थितिकी (Social Statics) में भी जो विचार दिये गये वे एक बड़ी सीमा तक कॉम्ट द्वारा प्रकाशित ओप्सक्यूल (Opuscules) से अधिक भिन्न नहीं हैं। वास्तविकता यह है कि केवल कुछ विचारों की समानता के आधार पर ही स्पेन्सर को कॉम्ट से प्रभावित मान लेना उचित नहीं है। स्पेन्सर का चिन्तन मुख्यत: समाज के सावयवी सिद्धान्त तथा सामाजिक उद्विकास के सिद्धान्त पर ही आधारित रहा। इस दशा में यह जरूरी कि प्रस्तुत विवेचन में हम स्पेन्सर द्वारा प्रस्तुत सामाजिक डार्विनवाद, अधिसावयवी उद्विकास एवं सामाजिक उद्विकास के सिद्धान्त को विस्तार से समझने का प्रयत्न करें जिससे उनके चिन्तन के केन्द्र बिन्दु को समझा जा सके।

सामाजिक डार्विनवाद (Social Darwinism)

हरबर्ट स्पेन्सर के समाजशास्त्रीय चिन्तन में सामाजिक उद्विकास वह सबसे महत्वपूर्ण आधार है जिसके कारण पूरी दुनिया में उन्हें एक प्रतिष्ठित समाजविज्ञानी के रूप में मान्यता

मिल सकी। सामाजिक उद्विकास के बारे में स्पेन्सर के विचार एक बड़ी सीमा तक डार्विन (Darwin) द्वारा प्रस्तुत उद्विकास की अवधारणा से प्रभावित हुए। फलस्वरूप डार्विन की उद्विकासवादी विचारधारा के आधार पर स्पेन्सर ने सामाजिक उद्विकास से सम्बन्धित जो विचार प्रस्तुत किये, उन्हीं को सामाजिक डार्विनवाद कहा जाता है। सामाजिक डार्विनवाद को समझने के लिए यह जरूरी है कि सबसे पहले उद्विकास की अवधारणा तथा उद्विकास के बारे में डार्विन के विचारों को संक्षेप में स्पष्ट किया जाय।

उद्विकास का अर्थ (Meaning of Evolution)

शाब्दिक रूप से अंग्रेजी के शब्द Evolution की उत्पत्ति लैटिन भाषा के शब्द Evolvere से मानी जाती है। 'E' का अर्थ है। 'बाहर की ओर' (out) तथा 'volvere' का अभिप्राय 'फैलने' या 'प्रकट होने' (to unfold) से है। इससे स्पष्ट होता है कि किसी वस्तु के फैलने या बढ़ने की प्रवृत्ति को ही उद्विकास कहा जाता है। इसके बाद भी प्रत्येक वस्तु का बढ़ना या फैलना उद्विकास नहीं होता। उदाहरण के लिए मिट्टी के बढ़ते हुए ढेर को हम उद्विकास नहीं कहेंगे। वैज्ञानिक अर्थ में उद्विकास एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक क्रमिक प्रक्रिया के अन्तर्गत कोई सरल विशेषता धीरे-धीरे जटिल रूप लेती जाती है। इस आशय को स्पष्ट करते हुए हरबर्ट स्पेन्सर ने लिखा है, ''उद्विकास कुछ तत्वों का एकीकरण तथा उससे सम्बन्धित वह गति है जिसके दौरान कोई तत्व एक अनिश्चित और असम्बद्ध समानता से निश्चित और सम्बद्ध भिन्नता में बदल जाता है।'' उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि उद्विकास एक ऐसा बदलाव है जिसके अन्तर्गत किसी वस्तु या विशेषता में होने वाला परिवर्तन अनेक स्तरों के माध्यम से होता है तथा प्रत्येक आगामी स्तर में उस वस्तु या विशेषता का रूप पहले से अधिक जटिल होता जाता है।

मैकाइवर और पेज ने उद्विकास के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है, ''जब परिवर्तन में केवल निरन्तरता ही नहीं होती बल्कि परिवर्तन की एक दिशा भी होती है, तब ऐसे परिवर्तन से हमारा तात्पर्य उद्विकास से होता है मैकाइवर ने यह भी स्पष्ट किया कि उद्विकास एक ऐसा परिवर्तन है जो किसी वस्तु के अन्दर विद्यमान कुछ आन्तरिक शक्तियों के प्रभाव से उसमें परिवर्तन पैदा करता है। आगबर्न तथा निमकॉफ ने एक विशेष दिशा की ओर होने वाले क्रमिक परिवर्तन को उद्विकास के नाम से सम्बोधित किया।

इन कथनों से स्पष्ट होता है कि उद्विकास एक विशेष दिशा की ओर होने वाला वह क्रमिक परिवर्तन है जो कुछ आन्तरिक शक्तियों के फलस्वरूप उत्पन्न होता है तथा इसकी प्रवृत्ति सरलता से जटिलता की ओर बड़ने की होती है।

डार्विन का उद्विकास का सिद्धान्त (Darwin's Theory of Evolution)

उद्विकास के सिद्धान्त को मुख्य रूप से डार्विन के नाम से जाना जाता है। डार्विन एक जीवशास्त्री थे जिनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'The Origin of Species' (प्राणियों की उत्पत्ति) सन् 1859 में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक के प्रकाशन से पहले सभी तरह के जीवों और पेड़-पौधों की उत्पत्ति को एक अलौकिक रचना के रूप में ही देखा जाता था डार्विन ने गहन अध्ययन के पश्चात यह स्पष्ट किया कि आरम्भ में पृथ्वी पर किसी तरह का जीवन

नहीं था। धीरे-धीरे विभिन्न रासायनिक प्रक्रियाओं के कारण पृथ्वी पर बहुत सरल प्रकृति के जीवों का जन्म होना शुरू हुआ। समय बीतने के साथ ही इन जीवों की शारीरिक रचना में भी परिवर्तन होने लगा।

NOTES

अपने अध्ययन के आधार पर डार्विन ने यह स्पष्ट किया कि शुरू में प्रत्येक जीवित वस्तु का रूप बहुत सरल होता है। यह दशा अनिश्चित और असम्बद्ध समानता (indefinite and incoherent homogeneity) की दशा होती है। इसका तात्पर्य है कि आरम्भिक स्तर पर एक जीव के विभिन्न अंग एक दूसरे के इतने समान होते हैं कि उन्हें एक-दूसरे से पृथक कर सकना बहुत कठिन होता है। आगामी स्तरों पर जैसे-जैसे जीव का विकास होता जाता है उसके विभिन्न अंग एक-दूसरे से भिन्न दिखायी देने लगते हैं तथा उन अंगों के बीच पाये जाने वाले सम्बन्ध को समझना भी सम्भव हो जाता है। उदाहरण के लिए हम एक बीज को ले सकते है जिसका रूप शुरू में बहुत सरल होता है तथा हम यह भी नहीं जानते कि एक पौधे के रूप में इसका आगामी रूप कैसा होगा। दूसरे स्तर पर जब वह बीज एक पौधे या पेड़ के रूप में बदल जाता है, तब उसके सभी अंग, जैसे—जड़े, तना, शाखाएँ और पत्तियाँ एक-दूसरे से अलग हो जाती है। इस प्रकार अनिश्चित रूप निश्चित रूप में और समानता की दशा भिन्नता के रूप में सामने आने लगती है। साथ ही पौधे या वृक्ष के सभी अंग अलग-अलग कार्यों के द्वारा उसके पोषण में सहायता देते हैं। उदाहरण के लिए जड़ों से पेड़ को भोजन मिलता है, टहनियाँ उसकी वृद्धि में सहायता करती है, छाल से पेड़ पर गर्मी-सर्दी का अधिक प्रभाव नहीं पड़ता तथा पत्तियाँ धूप और वायु को ग्रहण करके उसके स्वास्थ्य को बनाये रखती है। इस प्रकार जो वस्तु शुरू में असम्बद्ध होती है, आगामी स्तरों पर उसके अंगों के बीच परस्पर निर्भरता या सम्बद्धता विकसित होने लगती है। इसी को डार्विन ने अनिश्चित और असम्बद्ध समानता से निश्चित और सम्बद्ध भिन्नता की ओर होने वाला परिवर्तन कहा।

डार्विन के अनुसार उद्विकास एक क्रमिक प्रक्रिया है जो अनेक स्तरों के द्वारा किसी वस्तु या जीव में परिवर्तन की दशा पैदा करती है। उदाहरण के लिए मानव की आरम्भिक रचना नर-वानर, जैसे—चिम्पांजी, ओरंगउतान या गोरिल्ला के रूप में थीं। मानव नर-वानर के रूप में ही सभी तरह की क्रियाएँ और व्यवहार करता था। दूसरे स्तर पर जब मानव ने दो पैरों पर खड़े होकर चलना आरम्भ किया तो उसके पैरों की बनावट में परिवर्तन होने लगा तथा पेट का आकार बहुत सन्तुलित हो गया। आगामी स्तर में नीचे का ओर लटका हुआ मुँह चपटे आकार का हो गया तथा नाक और कान की बनाबट में भी बदलाव स्पष्ट होने लगे। इस स्तर पर अधिकांश काम हाथों के द्वारा करने के कारण उँगलियाँ अधिक पतली और सन्तुलित बनने लगी। मुँह के हिस्से पर रक्त का अधिक दबाव न रहने से मानव की जीभ इतनी पतली हो गयी कि वह स्पष्ट रूप से कुछ शब्दों का उच्चारण करने लगा। इस प्रकार लाखों वर्षों की अवधि में मानव की जीव-रचना एक अनिश्चित और असम्बद्ध समानता से निश्चित तथा सम्बद्ध भिन्नता में बदल गयी। आरम्भिक स्तर पर जिस मानव का जीवन बहुत सरल था विकास के प्रत्येक अगले स्तर पर उसका जीवन लगातार पहले की तुलना में अधिक जटिल होता गया।

उद्विकास की प्रकृति को स्पष्ट करते हुए डार्विन ने यह भी बतलाया कि उद्विकास की प्रक्रिया किसी वस्तु अथवा जीव की रचना से सम्बन्धित आन्तरिक शक्तियों के प्रभाव से आगे बढ़ती है। इसका अर्थ है कि सरलता से जटिलता की ओर होने वाला परिवर्तन किसी बाहरी दशा के प्रभाव से नहीं होता बल्कि जीव रचना के अन्दर छिपी हुई आन्तरिक शक्तियों के प्रभाव से ही कार्य करता है। संक्षेप में, यही डार्विन का उद्विकासवादी सिद्धान्त है।

स्पेन्सर द्वारा प्रस्तुत अधिसावयवी उद्विकास
(Super-Organic Evolution Peresented by Spencer)

हरबर्ट स्पेन्सर ने डार्विन के विचारों के आधार पर सावयव और समाज के बीच जिन समानताओं को स्पष्ट किया, उसी को स्पेन्सर का सामाजिक डार्विनवाद (Social Darwinism) कहा जाता है। इसके पश्चात भी स्पेन्सर ने यह स्पष्ट किया कि सामाजिक उद्विकास की प्रक्रिया सावयवी उद्विकास से भिन्न तथा उससे कुछ उच्च स्तर की होती है। इसी कारण उनके विचारों को अधिसावयवी उद्विकास के रूप में भी जाना जाता है।

मौलिक रूप से स्पेन्सर को एक व्यक्तिवादी तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता में विश्वास करने वाला विचारक माना जाता है लेकिन उन्होंने सावयव (जीव-रचना) तथा समाज के बीच अनेक समानताओं को स्पष्ट करके यह निष्कर्ष दिया कि समाज एक सावयव के ही समान है इसलिए समाज का अध्ययन उन्हीं नियमों के आधार पर होना चाहिए जो नियम सावयव पर लागू होते हैं। सच तो यह है कि स्पेन्सर द्वारा प्रस्तुत उद्विकास का सामान्य सिद्धान्त ही उनके सावयवी सादृश्यता के सिद्धान्त पर आधारित है। उन्होंने अपने प्रमुख ग्रन्थ 'Principles of Sociology' (समाजशास्त्र के सिद्धान्त) में लिखा, ''व्यक्ति जीव-रचना तथा समाज के संगठन में इतनी समानता देखने को मिलती है कि इसे हम एक सादृश्यता की दशा कह सकते हैं। जैवकीय तथा सामाजिक सावयव के जीवन पर समान दशाएँ लागू होती है। जब हम एक समाज की उत्पत्ति, विकास, परिपक्वता और पतन की प्रक्रिया को देखते हैं, यह स्पष्ट हो जाता है कि यह उन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित है जो जीवन-रचना की उत्पत्ति, विकास एवं मृत्यु को स्पष्ट करते हैं...........यही वह दृष्टिकोण है जो हमें समाज की वैज्ञानिक विवेचना की ओर ले जाता है। संक्षेप में स्पेन्सर के यही विचार उनके सावयवी सादृश्यता के सिद्धान्त का आधार है।

इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना जरूरी है कि स्पेन्सर को समाज की सावयवी विवेचना का जनक नहीं कहा जा सकता। स्पेन्सर से पहले प्राचीन और मध्य युग के अनेक विचारकों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से समाज और सावयवी संरचना के बीच पायी जाने वाली समानता को स्पष्ट किया था। स्पेन्सर का मुख्य योगदान यह है कि उन्होंने इन सभी धारणाओं का पुन: संयोजन करके समाज सावयव की समानता को कही अधिक व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत किया। स्पेन्सर द्वारा प्रतिपादित समाज और सयावयव की समानता को निम्नांकित तीन प्रमुख क्षेत्रों में देखा जा सकता है:

(1) **समाज व सावयव के नियमों में समानता** (Analogy between Social and Natural Laws—स्पेन्सर के शब्दों में समाज ओर सावयव के बीच सबसे प्रमुख

समानता यह है कि दोनों ही समान प्राकृतिक नियमों से संचालित होते हैं। ''जब कोई जीव एक भ्रूण (embryo) के रूप में होता है, तब उसमें किसी तरह की विभिन्नता नहीं होती लेकिन जैसे-जैसे उसका विकास होता है, उसके विभिन्न अंग स्पष्ट होने लगते है तथा उनमें विभेदीकरण बढ़ने लगता है। समाज का संगठन भी इसी नियम से संचालित होता है। शुरू में समाज का रूप सरल होने पर इसके विभिन्न समूहों अथवा इकाइयों में काफी समानता और अस्पष्टता की विशेषताएँ होती हैं लेकिन जैसे-जैसे समाज का आकार बढ़ता जाता है, यह अनेक स्पष्ट भागों और उप-भागों में विभाजित होने लगता है । जिस तरह सावयव में विभेदीकरण की यह प्रक्रिया तभी रुकती है जब वह परिपक्वता तक पहुँच जाता है, उसी तरह समाज में भी विभेदीकरण की प्रक्रिया इसकी परिपक्वता या पतन की ओर बढ़ने पर ही समाप्त होती है। अपने इस कथन को स्पष्ट करने के लिए स्पेन्सर ने अनेक ऐसे नियम प्रस्तुत किये जो समाज और सावयव की समानता को स्पष्ट करते है:

(i) समाज तथा सावयव के आरम्भिक स्तर पर दोनों का रूप बहुत सरल, अनिश्चित और असम्बद्ध समानता (Indefinite, incoherent homogeneity) का होता है। जैसे-जैसे उनका आकार बढ़ता है, उनकी संरचना जटिल, निश्चित और सम्बद्ध भिन्नता को प्रदर्शित करने लगती है।

(ii) समाज तथा सावयव दोनों का विकास धीरे-धीरे कुछ आन्तरिक शक्तियों के प्रभाव से होता है। इस प्रकार विकास की प्रक्रिया के दृष्टिकोण से समाज और सावयव दोनों की प्रकृति जड़ पदार्थों से भिन्न होती है।

(iii) समाज तथा सावयव अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए समान नियमों से प्रभावित होते हैं। सावयव का अस्तित्व पाचन क्रिया पर निर्भर होता है। जब हम भोजन करते हैं तो पाचन क्रिया के द्वारा भोजन से खून बनता है जो शरीर के विभिन्न अंगों में पहुँचकर सावयव के अस्तित्व को बनाये रखता है। समाज में यह कार्य संचार और वितरण की प्रक्रिया के द्वारा होता है। संचार से हम एक-दूसरे की क्रियाओं का अर्थ समझते है जबकि वस्तुओं और धन के वितरण द्वारा होता है। संचार से हम एक-दूसरे की क्रियाओं का अर्थ समझते है जबकि वस्तुओं और धन के वितरण द्वारा उन इकाइयों की आवश्यकताएँ पूरी होती है जो समाज के अस्तित्व को बनाये रखने में अपना योगदान करती है।

(iv) जिस प्रकार सावयव का निर्माण अनेक कोशिकाओं (cells) से होता है, उसी तरह समाज का निर्माण करने मं अनेक व्यक्तियों का योगदान होता है।

(v) सावयव में कौन-सा अंग किस कार्य को पूरा करेगा, इसका संचालन मस्तिष्क के द्वारा किया जाता है। समाज का संचालन करने के लिए यह कार्य सरकार द्वारा किया जाता है।

स्पष्ट है कि सावयव और समाज के विकास और संचालन के नियम सावयव या दूसरे शब्दों में प्राकृतिक नियमों के ही समान है। इस दशा को हम आदिम युग से

लेकर आज तक समाज का विभिन्न अवस्थाओं के उदाहरण द्वारा सरलतापूर्वक समझ करते हैं। अत्यधिक आदिम युग में समाज का रूप बहुत छोटा और सरल था। इसके विभिन्न अंग एक-दूसरे से इतने घुले-मिले थे कि उन्हें पूरी तरह अलग कर सकना सम्भव नहीं था। यह अनिश्चित और असम्बद्ध समानता की दशा थी। जैसे-जैसे समाजों का आकार बढ़ा, लोगों के ज्ञान और अनुभवों में वृद्धि होती गयी, साथ ही समाजिक जीवन के विभिन्न अंग एक-दूसरे से अलग होते गये। परिवार गाँव, नगर, धार्मिक संगठन, औद्योगिक इकाइयाँ, विभिन्न प्रकार के हित समूह तथा राज्य आदि के कार्य एक-दूसरे से अलग हो गये। यह एक निश्चित और सम्बद्ध भिन्ता की दशा है। इसके स्पष्ट होता है कि जिस तरह सावयव में होने वाला परिवर्तन समानता से भिन्नता की दिशा में होता है, उसी तरह समाज में होने वाला परिवर्तन थी अनेक स्तरों के द्वारा समानता से असमानता की ओर होता है।

(2) **इकाइयों के बीच विभेदीकरण तथा पारस्परिक निर्भरता** (Differentiation and Inter dependence of Units)—समाज और सावयव की समानता को स्पष्ट करने के लिए स्पेन्सर ने यह स्पष्ट किया कि जिस तरह सवायव के विभिन्न अंगों की प्रकृति एक-दूसरे से भिन्न होने के पश्चात भी वे एक-दूसरे पर निर्भर करते है, उसी तरह समाज का निर्माण करने वाली इकाइयों के बीच विभेदीकरण होने के बाद भी सभी इकाइयाँ एक-दूसरे को सहयोग देकर अपनी आवश्यकताओं को पूरा करती हैं। दूसरे शब्दो में यह कहा जा सकता है सावयव तथा समाज में प्रकार्यात्मक एकता की प्रकृति एक जैसी होती है। इसे स्पष्ट करने के लिए स्पेन्सर ने लिखा कि जैसे-जैसे किसी समाज का विकास होता है, उसके विभिन्न अंग एक-दूसरे से अलग होते जाते हैं तथा प्रत्येक अंग के कार्य भी एक-दूसरे से अलग होने लगते हैं। उदाहरण के लिए परिवार, राज्य, शिक्षा संस्थाओं, आर्थिक संगठनों तथा धार्मिक समितियों के कार्य एक-दूसरे से अलग हो जाते है। इस विभेदीकरण के बाद भी समाज का कोई अंग दूसरे के सहयोग के बिना अपना कार्य नहीं कर सकता। जैसे-जैसे विभेदीकरण बढ़ता है, समाज के विभिन्न अंगों की पारस्परिक निर्भरता बढ़ती जाती है। ठीक इसी प्रकार जैसे-जैसे सावयव का विकास होता है, इसके विभिन्न अंगों के कार्य एक-दूसरे से अलग होने लगते हैं लेकिन कोई भी अंग दूसरे की सहायता के बिना अपना कार्य नहीं कर सकता। इसका तात्पर्य है कि प्रकार्यात्मक आधार पर समाज और सावयव एक-दूसरे के समान है। नियन्त्रण के दृष्टिकोण से भी समाज और सावयव के बीच एक स्पष्ट समानता पायी जाती है। सावयव के विभिन्न अंगों को मस्तिष्क के द्वारा नियन्त्रित किया जाता है, जबकि समाज को नियन्त्रित करने का कार्य सरकार का है।

(3) **विकास तथा ह्रास में समानता (Similarity in Development and Decay)**—समाज तथा सावयव की सादृश्यता इस तथ्य से भी स्पष्ट होती है कि इनके बीच विभेदीकरण की प्रक्रिया तभी रुकती है जब समाज या सावयव परिपक्वता की स्थिति तक पहुँचकर ह्रास की ओर बढ़ने लगता है। इसका अर्थ है कि सावयव और समाज की वृद्धि तथा ह्रास को भी समान नियमों के आधार पर ही समझा जा सकता

है। कोई सावयव जब एक भ्रूण के रूप में होता है तो वह केवल माँस के एक मामूली पिण्ड की तरह होता है जिसके अंगों में किसी तरह की विभिन्नता दिखायी नहीं देती। विकास के साथ इसके विभिन्न अंग स्पष्ट होने लगते हैं तथा जन्म के बाद शिशुकाल से लेकर इसके विभिन्न अंगों के बीच तब तक विभेदीकरण लगातार बढ़ता रहता है जब तक सावयव या शरीर-रचना दुर्बलता या ह्रास की ओर आगे न बढ़ने लगे। ठीक यही स्थिति समाज की है। अपने आरम्भिक रूप में समाज का रूप बहुल सरल होता है। विकास के प्रत्येक आगामी स्तर में इसके विभिन्न अंगों के बीच विभेदीकरण की प्रक्रिया बढ़ती रहती है। जब एक समाज पूरी तरह परिपक्वता की दशा में पहुँच जाता है तथा उसका और आगे विकास होना सम्भव नही रह जाता, तब विभेदीकरण की प्रक्रिया रूक जाती है। यही से समाज का ह्रास या पतन होने लगता है। स्पेन्सर ने संसार के अनेक समाजों का उदाहरण देते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि विभिन्न सभ्यताओं में होने वाला पतन समाज के ह्रास और विनाश की प्रक्रिया को ही स्पष्ट करता है। इससे यह भी स्पष्ट होत है कि जिस तरह एक सावयव जन्म, शिशुकाल, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था, वृद्धावस्था और मृत्यु जैसे विभिन्न स्तरों में से होकर गुजराता है उसी तरह समाज भी विभिन्न स्तरों में से गुजरते हुए आगे बढ़ता है तथा परिपक्वता की दशा में पहुँच जाने के पश्चात उसका ह्रास होने लगता है। सभ्यता और संस्कृति का विनाश समाज की मृत्यु को ही स्पष्ट करते हैं।

समाज तथा सावयव की सादृश्यता के साथ ही स्पेन्सर ने समाज और सावयव के बीच पायी जाने वाली कुछ मौलिक असमानताओं को भी स्पष्ट किया। उन्होंने यह स्वीकार किया कि अनेक समानताओं के बाद भी प्राणी के सावयव और समाज को बिल्कुल समान नहीं माना जा सकता क्योंकि सावयव के अंगों और समाज की संरचना के बीच अनेक अन्तर विद्यमान हैं। स्पेन्सर ने प्राणी-सावयव और समाजिक संरचना के बीच जिन प्रमुख भिन्नताओं का उल्लेख किया है वे, इस प्रकार हैं:

(1) सावयव का प्रत्येक अंग दूसरे अंगों से मिलकर एक समग्र सावयव का निर्माण करता है। इसका तात्पर्य है कि एक सावयव से सम्बन्धित विभिन्न अंगों का अपना कोई पृथक अस्तित्व नहीं होता। इसके विपरीत, समाज का निर्माण जिन अंगों से होता है, उनमें व्यक्ति, संस्थाएँ, समूह और विभिन्न संगठन आदि प्रमुख है। एक-दूसरे से सम्बन्धित रहने के बाद भी यह अंग एक-दूसरे से स्वतन्त्र रहकर भी कुछ सीमा तक विचार करने, निर्णय लेने एवं काम करने की क्षमता रखते हैं।

(2) स्पेन्सर के शब्दों में, ''एक सावयव का निर्माण करने वाले विभिन्न अंग एक-दूसरे के स्थायी सम्पर्क में रहने के कारण एक-दूसरे से बँधे रहते हैं। समाज के अंग के रूप में विभिन्न इकाइयों का एक-दूसरे के घनिष्ठ और स्थायी सम्पर्क में रहना आवश्यक नहीं होता—अक्सर यह इकाइयाँ एक-दूसरे से दूर स्थित होती है। स्पष्ट है कि सावयव और समाज के विभिन्न अंगों के बीच घनिष्ठता के आधार पर एक स्पष्ट भेद किया जा सकता है।

NOTES

(3) प्राणी के सावयव की सम्पूर्ण चेतना मस्तिष्क में केन्द्रित रहती है। मस्तिष्क के द्वारा ही सावयव के विभिन्न अंग विभिन्न कार्यों को पूरा करते है। इसके विपरीत, सामाजिक संरचना की चेतना विभिन्न अंगों में विकेन्द्रित होती है। यही कारण है कि समाज के अंगों के द्वारा किये जाने वाले कार्यों की कोई निश्चित भविष्यवाणी नहीं की जा सकती है। स्पेन्सर ने लिखा है, '' एक सावयव की चेतना उसके बहुत छोटे से भाग अर्थात् मस्तिष्क में निहित रहती है। सामजिक सावयव में यह चेतना विभिन्न भागों में फैली रहती है जिसके फलस्वरूप विभिन्न भागों के सुख और दुःख अथवा सफलता या असफलता किसी न किसी रूप में एक-दूसरे से भिन्न देखने को मिलते हैं।''

(4) सावयव अथवा जीव-रचना के सभी अंगों द्वारा किये जाने वाले कार्यों का उद्देश्य सम्पूर्ण सावयव को स्वस्थ या संगठित बनाये रखना होता है। इसके विपरीत, समाज के विभिन्न अंग साधारणतया वे कार्य करते हैं जो स्वयं उनके लिए उपयोगी होते हैं या उनकी सुरक्षा के लिए जरूरी होते है। इसका अर्थ है कि ''समाज के अंग के रूप में इसके सदस्य स्वयं समाज के लाभ के लिए उतने अधिक सचेत नहीं रहते जितना स्वयं समाज अपने सदस्यों के कल्याण के लिए जागरूक रहता है।

(5) सावयव का विकास कुछ आन्तरिक शक्तियों (internal Forces) के अनुसार स्वयं होता रहता है। आयु बढ़ने के साथ सावयव में होने वाला परिवर्तन स्वतः चलित होता है। दूसरी ओर समाज का विकास मुनष्यों के जागरूक प्रयत्नों पर निर्भर होता है। मनुष्यों के कम या अधिक प्रयत्नों के अनुसार ही सामाजिक विकास की गति अधिक या कम हो सकती है।

उपरोक्त भिन्नताओं के आधार पर स्पेन्सर ने यह स्पष्ट किया कि उद्‌विकास के रूप में समाज में जो बदलाव होता है, वह प्राणी की जीव-रचना में होने वाले परिवर्तन की तुलना में कहीं अधिक जटिल और उच्च स्तर का होता है। स्पेन्सर ने लिखा है कि समाज और सावयव की समानता को स्पष्ट करने के पीछे उनका उद्देश्य केवल यह बताना है कि समाज की संरचना की प्रकृति को समझने के लिए जीव-विज्ञान के कुछ नियम सहायता अवश्य कर सकते हैं लेकिन केवल इसी आधार पर सामाजिक उद्‌विकास को नहीं समझा जा सकता। अपनी बाद की रचनाओं में स्पेन्सर ने लिखा, ''सावयवी सादृश्यता को स्पष्ट करने के पीछे उनका प्रमुख उद्देश्य समाजशास्त्रीय विवेचना के लिए इसी प्रकार एक आधार तैयार करना है जिस प्रकार एक मकान बनाने के लिए हमें पहले से ही उसकी एक अस्थायी संरचना का निर्माण करना होता है।'' सावयवी सादृश्यता के सिद्धान्त के द्वारा स्पेन्सर एक ऐसा वैज्ञानिक आधार स्पष्ट करना चाहते थे जिसकी सहायता से वह अपने उद्‌विकास के सिद्धान्त को स्पष्ट कर सकें।

समालोचना (Criticism)

सामान्य दृष्टिकोण से देखने पर ऐसा लगता हे कि प्राणी के सावयव एवं समाज की सरंचना में कोई मूलभूत अन्तर नहीं है। दूसरे शब्दों में समाज, जीव-रचना के ही समान है। समाज का निर्माण जिन सामजिक सम्बन्धों, संस्थाओं तथा समूहों द्वारा होता है, उनकी प्रकृति को

जैविक नियमों के आधार पर नहीं समझा जा सकता। आलोचकों का कहना है कि स्पेन्सर द्वारा प्रस्तुत सावयवी सादृश्यता का सिद्धान्त शब्द-विन्यास और अलंकारपूर्ण भाषा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। एक आलोचना यह की जाती है कि अपनी विभिन्न रचनाओं में स्पेन्सर ने स्वयं को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का पक्ष लेने वाले विचारक के रूप में स्थापति किया। इसके विपरीत, यदि सावयवी सादृश्यता को मान लिया जाय तो समाज में व्यक्ति की कोई स्वतन्त्रता नहीं रह जाती। वह उसी तरह यन्त्रवत हो जाता है जिस तरह शरीर के विभिन्न अंग मस्तिष्क के निर्देश के अनुसार काम करते रहते हैं। यह एक तरह का अन्त विरोध है जिसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस सिद्धान्त के एक आलोचक ने यहाँ तक लिखा है कि सावयवी सादृश्यता के आधार पर स्पेन्सर का वैज्ञानिक चिन्तन सन्देहपूर्ण बन जाता है। उनका यह सिद्धान्त एक प्रागैतिहासिक अवशेष की तरह है जिसे पढ़ने में किसी की रुचि नहीं है। इसके पश्चात् भी स्पेन्सर द्वारा प्रस्तुत सावयवी सादृश्यता का सिद्धान्त इस आधार पर अधिक उपयोगी है कि एक आरम्भिक समाजशास्त्री के रूप में स्पेन्सर ने कुछ स्पष्ट नियमों की सहायता से समाज का विश्लेषण करने का प्रयत्न किया।

सामाजिक उद्विकास (Social Evolution)

हरबर्ट स्पेन्सर के समाजशास्त्रीय चिन्तन में सामाजिक उद्विकास वह सबसे महत्वपूर्ण आधार है जिसने उन्हें सम्पूर्ण विश्व में एक प्रतिष्ठित समाजविज्ञानी बना दिया। अपने अधिकांश चिन्तन में स्पेन्सर यह सिद्ध करना चाहते थे कि सभी सामाजिक संरचनाओं और सामाजिक संस्थाओं में होने वाला परिवर्तन उद्विकास (Evolution) के रूप में होता है। उनके अनुसार सामाजिक उद्विकास एक ऐसा प्राकृतिक नियम है जिसकी सहायता से ही 'प्रगति' की आवधारणा को सही रूप से समझा जा सकता है। उन्होंने यह माना कि बहुत प्राचीन काल से ही विभिन्न समाजों में मुनष्य आगे बढ़ने के लिए तरह-तरह के प्रयास करते रहे हैं लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि मानवीय प्रयत्नों के परिणामस्वरूप होने वाले बदलाव को प्रगति कहा जा सकता है अथवा नही। इतना अवश्य है कि ऐसे सभी प्रयत्न सामाजिक संरचना को सरलता से जटिलता की ओर ले जाते है। उन्होंने कॉम्ट के इस विचार को स्वीकार नहीं किया कि सामाजिक विकास कुछ निश्चित स्तरों के द्वारा होता है तथा प्रत्येक आगामी स्तर पहले की तुलना में अधिक उन्नत या अच्छा होता है। वास्तव में उद्विकास एक ऐसा परिवर्तन है जो सरलता से जटिलता की दिशा में उसी प्रकार होता है जिस तरह आयु बढ़ने के साथ जीव-रचना में होने वाले परिवर्तन सरलता से जटिलता की दिशा में होते हैं। वास्तव में उद्विकास एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा प्रत्येक आगामी परिवर्तन बढ़ते हुए विभेदीकरण को स्पष्ट करता है। परिवर्तन का यह रूप इतना सर्वव्यापी है कि इसे सभी जैविक, निर्जीव और समाजिक क्षेत्रों में देखा जा सकता है। यदि हम समाज में हाने वाले विभिन्न परिवर्तनों को समझना चाहते है तो इन्हें सामाजिक उद्विकास के सार्वभौमिक नियम के आधार पर ही समझा जा सकता है। यहाँ तक कि हमारे राजनैतिक, धार्मिक और आर्थिक जीवन पर भी उद्विकास का नियम ही लागू होता है।

हरबर्ट स्पेन्सर ने उद्विकास को सम्पूर्ण जगत में व्याप्त एक सार्वभौतिक प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया। उन्होंने अपनी पुस्त 'प्रथम सिद्धान्त' (First Principles) में लिखा, "उद्विकास सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में विद्यमान एक ऐसी प्रक्रिया है जो सामाजिक और

सांस्कृतिक जीवन में क्रियाशील रहने के साथ ही सावयवी और निर्जीव जगत में भी चलती रहती है।'' उद्विकास के विभिन्न पक्षों के आधार पर इसे परिभाषित करते हुए स्पेन्सर ने लिखा है, ''उद्विकास पदार्थ (Matter) का समन्वय और उससे सम्बन्धित गति है जिसके दौरान कोई पदार्थ एक अनिश्चित और असम्बद्ध समानता से निश्चित और सम्बद्ध भिन्नता में बदल जाता है। स्पेन्सर द्वारा दी गई यह परिभाषा भौतिक उद्विकास को ध्यान में रखते हुए दी गयी, यद्यपि इसी के आधार पर बाद में उन्होंने सामाजिक उद्विकास के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इस दृष्टिकोण से स्पेन्सर के सामाजिक उद्विकास को समझने से पहले यह आवश्यक है कि उनके द्वारा प्रस्तुत भौतिक उद्विकास (Physical Evolution) तथा 'जैविक उद्विकास' (Biological Evolution) के नियम को समझ लिया गया।

भौतिक उद्विकास का निमय (Law of Physical Evolution)

भौतिक उद्विकास के नियम को स्पष्ट करने के लिए स्पेन्सर ने तीन मुख्य नियमों तथा चार सहायक मान्यताओं का उल्लेख किया। उनके द्वारा प्रस्तुत यह नियम और मान्यताएँ इस प्रकार है:

(1) शक्ति के स्थायित्व का नियम (Law of Peristence of Force)—इस नियम के द्वारा स्पेन्सर ने स्पष्ट किया कि जगत के प्रत्येक पदार्थ में एक शक्ति निहित होती है जो कभी समाप्त नहीं होती। यही शक्ति सभी तरह के पदार्थों में होने वाले बदलाव का वास्तविक कारण है। इस शक्ति को स्पेन्सर ने एक 'अज्ञेय शक्ति' (unknowable force) कहा क्योंकि किस वस्तु में कितनी शक्ति है, इसे सरलता से नहीं जाना जा सकता।

(2) पदार्थ के अविनाशी होने का नियम (Law of Indestructibility of Matter)—स्पेन्सर के अनुसार सम्पूर्ण भौतिक जगत पदार्थ और शक्ति के सम्मिलिन से बना है। सम्पूर्ण जड़ और चेतन जगत में जितने भी पदार्थ विद्यमान हैं, वे कभी नष्ट नहीं होते। अधिक से अधिक पदार्थ का रूप बदल सकता है लेकिन वह खत्म नहीं होता। उदाहरण के लिए, लकड़ी को जलाने पर वह कोयले के रूप में परिवर्तित हो जाती है। लेकिन उसका अस्तित्व समाप्त नहीं होता। (इस नियम को आधुनिक भौतिक विज्ञानी स्वीकार नहीं करते)।

(3) गति की निरन्तरता का नियम (Law of Continuity of Motion)—शक्ति की एक प्रमुख विशेषता यह है कि वह सदैव गतिमान होती है। इस गति अथवा ऊर्जा (energy) के रूप में परिवर्तन हो सकता है लेकिन यह पदार्थ में सदैव बनी रहती है।

भौतिक उद्विकास को स्पष्ट करने के लिए स्पेन्सर ने इससे सम्बन्धित जिन चार गौण-मान्यताओं (secondary propositions) का उल्लेख किया वे इस प्रकार हैं:

(1) पहली मान्यता यह है कि विभिन्न पदार्थों में जो शक्ति निहित होती है, उनके बीच सदैव एक स्थायी सम्बन्ध बना रहता है। इसी कारण सभी स्थानों पर भौतिक उद्विकास का नियम समान रूप से काम करता है स्पेन्सर ने इसे शक्ति सम्बन्धों के बीच स्थायित्व

NOTES

की मान्यता कहा। (2) दूसरी मान्यता शक्ति के रूपान्तरण तथा सन्तुलन (Transformation and Equivalence of Force) से सम्बन्धित है। इसका अर्थ है कि पदार्थ की शक्ति गति को तथा गति की शक्ति पदार्थ को प्रभावित करती है। इस रूपान्तरण के बाद भी शक्ति के सन्तुलन में किसी तरह की कमी नहीं आती। उदाहरण के लिए, पानी में एक विशेष शक्ति निहित है लेकिन यदि वह पानी भाप, बर्फ या पुन: बर्फ से पानी बन जाये तो उसकी शक्ति उसी तरह की बनी रहेगी। (3) तीसरी मान्यता यह है कि पदार्थ में न्यूनतम प्रतिरोध और अधिकतम आकर्षण (Least Resistance and Greatest Attrection in Force) की प्रवृत्ति होती है। प्रत्येक पदार्थ उस दिशा में तेजी से आगे बढ़ता है जहाँ उसका कम से कम प्रतिरोध होता है। उदाहरण के लिए, पानी समतल जगह की तुलना में ढलान की ओर तेजी से बहता है। दूसरी विशेषता यह है कि जहाँ पर कोई पदार्थ पहले से ही जाम होता है, शेष पदार्थ भी वहीं पर एकत्रित होने लगते हैं। (4) यह सच है कि गति की निरन्तरता कभी समाप्त नहीं होती लेकिन गति में कुछ कमी अथवा तीव्रता होते रहने की पूरी सम्भावना रहती है। इसे स्पेन्सर ने 'गति में परिवर्तनशीलता की मान्यता' (Proposition of Alteration of Motion) कहा।

यह इन सभी नियमों के आधार पर भौतिक उद्विकास को संक्षेप में स्पष्ट किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि शुरू में विभिन्न पदार्थ एक ढेर या समग्रता के रूप में स्थित थे। पदार्थों के इस ढेर या एकत्रीकरण में एक शक्ति और गति होने के कारण समय बीतने के साथ उनका रूप बदलता गया और वे एक-दूसरे से अलग हो गये। इस पृथकता के बाद भी उनके बीच एक सम्बद्धता और पारस्परिक निर्भरता बनी रही। सूर्य से अलग होने वाले विभिन्न ग्रहों और नक्षत्रों का निर्माण इसी प्रक्रिया के द्वारा हुआ। इन सभी ग्रहों और नक्षत्रों के बीच एक निश्चित सम्बद्धता, निर्भरता और निश्चितता इसी कारण है कि यह भौतिक उद्विकास के उक्त तीनों प्रमुख नियमों और चार सहायक मान्यताओं के अधीन हैं।

जैविकीय उद्विकास का नियम (Law of Biological Evolution)

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, स्पेन्सर द्वारा प्रस्तुत सामाजिक उद्विकास का सिद्धान्त भौतिक उद्विकास तथा जैविक उद्विकास के नियम पर आधारित है। अत: प्रस्तुत विवेचन में उन नियमों को समझना भी जरूरी है जो जैविकीय अथवा प्राणीशास्त्रीय उद्विकास से सम्बन्धित हैं। साधारणतया प्राणीशास्त्रीय उद्विकास के जनक के रूप में डार्विन (Darwin) को मान्यता दी जाती है लेकिन स्पेन्सर ने यह दावा किया कि उन्होंने सन् 1859 में डार्विन की पुस्तक ओररिजिन ऑफ स्पेसीज' (Origin of Species) प्रकाशित होने से पहले ही अपने कुछ लेखों में उन मान्यताओं को स्पष्ट किया था जिनका डार्विन द्वारा उपयोग किया गया। इस विवाद में न पड़कर यह समझना जरूरी है कि स्पेन्सर ने प्राणीशास्त्रीय उद्विकास को स्पष्ट करने के लिए जिस नियम को सबसे अधिक महत्व दिया उसे **'योग्यतम का अतिजीवन'** (Survival of the Fittest) कहा जाता है।

डार्विन ने अनेक प्राणियों और उनके अवशेषों का अध्ययन करके अस्तित्व के लिए संघर्ष (Struggle for Exiztenc) का नियम प्रस्तुत किया था। इसके अनुसार सभी प्राणी प्रकृति और

अपनी भौतिक दशाओं से अनुकूलन करने के लिए हमेशा संघर्ष करते रहते हैं। इस संघर्ष में जो प्राणी जीत जाते हैं, वे जीवित रहते हैं तथा शेष प्राणी नष्ट हो जाते हैं। यही वह नियम है जिसकी सहायता से प्राणियों की उत्पत्ति, विकास और विनाश को समझा जा सकता है। स्पेन्सर ने अस्तित्व के लिए संघर्ष की जगह योग्यतम का अतिजीवन (Survival of the Fittest) तथा **प्राकृतिक चयन की प्रक्रिया'** (Process of Natural Selection) जैसे शब्दों का प्रयोग किया। इन्हें स्पष्ट करते हुए स्पेन्सर ने लिखा कि प्राणीशास्त्रीय जगत में सभी प्राणियों को जीवित रहने के लिए प्रकृति से संघर्ष करना पड़ता है। इस संघर्ष में केवल वे प्राणी ही जीवित रहते हैं जो जीवित रहने के लिए सबसे अधिक योग्य होते हैं। स्पेन्सर का निश्चित मत है कि सामाजिक उद्‌विकास की प्रक्रिया भी उन्हीं नियमों से संचालित होती है जो नियम भौतिक तथा प्राणीशास्त्रीय उद्‌विकास का आधार हैं। इसी दृष्टिकोण से स्पेन्सर ने सामाजिक उद्‌विकास का एक व्यवस्थित सिद्धान्त प्रस्तुत किया।

NOTES

सामाजिक उद्‌विकास का सिद्धान्त (Theory of Social Evolution)

स्पेन्सर ने भौतिक उद्‌विकास तथा प्राणीशास्त्रीय उद्‌विकास के नियमों के आधार पर समाज की संरचना में होने वाले परिवर्तन के जिस रूप को स्पष्ट किया, उसी को उनका 'सामाजिक उद्‌विकास का सिद्धान्त' कहा जाता है। उन्होंने स्पष्ट किया कि जिस तरह भौतिक उद्‌विकास की दशा में पदार्थ के अन्दर विद्यमान शक्ति और गति के स्रोत्र कभी स्पष्ट नहीं होते, उसी तरह सामाजिक संरचना का निर्माण करने वाले तत्वों में कुछ परिवर्तन तो होता है लेकिन उनका सन्तुलन और निरन्तरता समाप्त नहीं होती। डार्विन की कुछ मान्यताओं को स्वीकार करते हुए स्पेन्सर ने लिखा कि समाज के अनुकूलन करने की प्रक्रिया में विभिन्नता आने से ही सामाजिक संरचना में बदलाव होने लगता है तथा यह परिवर्तन एक बड़ी सीमा तक प्राणीशास्त्रीय उद्‌विकास के समान होता है। इस प्रकार भौतिक और प्राणीशास्त्रीय उद्‌विकास के आधार पर स्पेन्सर ने दो प्रमुख नियमों का प्रतिपादन करके सामाजिक उद्‌विकास की प्रकृति को स्पष्ट किया। इनमें से पहला नियम 'सरलता से जटिलता का नियम' है तथा दूसरे को 'योग्यतम का अतिजीवन' कहा जाता है। इन्हीं के आधार पर स्पेन्सर के सामाजिक उद्‌विकास के सिद्धान्त को समझा जा सकता है।

I. सरलता से जटिलता का नियम (Law of Simple to Complex)

स्पेन्सर ने स्पष्ट किया या आरम्भिक युग में समाज की संरचना आज से बहुत भिन्न थी। अत्यधिक प्राचीनकाल में समाज एक आदिम दशा में था जिसमें लोग खाने योग्य पदार्थों की तलाश में इधर-उधर घूमते रहते थे। रहने की लिए गुफाओं और शरीर को ढँकने के लिए पत्तों और दूसरी वस्तुओं का उपयोग किया जाता था। सम्पूर्ण समाज बहुत सरल और असंगठित था। लोगों के जीवन को एक-दूसरे से जोड़ने वाले कोई नियम नहीं थे। व्यक्तियों के बीच विभिन्नताओं का पूरी तरह अभाव था। यह अनिश्चित और असम्बद्ध समानता की दशा थी। तब से लकर आज तक समाज अनेक स्तरों से गुजरते हुए एक जटिल समाज के रूप में बदल सका है। समाज का उद्‌विकास किन अवस्थाओं में से गुजर कर हुआ,

NOTES

इसे स्पष्ट करने के लिए स्पेन्सर ने समाज के चार विभिन्न स्तरों का उल्लेख किया जो निम्नांकित हैं :

(1) सबसे आरम्भिक समाजों को हम सरल समाज कह सकते हैं। समाज का यह रूप समरूप homogeneous) था जिसमें व्यक्तियों के बीच किसी तरह की असमानता या ऊँच-नीच नहीं थीं। सामाजिक संरचना में निहित शक्तियों के कारण लोगों की आवश्कताओं ने उन्हें इस बात के लिए मजबूर किया कि वे समूह में रहना आरम्भ करें। (2) इसके फलस्वरूप जब अनेक सरल समाज मिलकर साथ-साथ रहने लगे तब दूसरे स्तर पर संश्लिष्ट समाजों (Compound Societies) का निर्माण होना आरम्भ हुआ। कुछ समय तक संश्लिष्ट समाजों का अस्तित्व बना रहने के बाद उनके अन्दर चलने वाली उद्‌विकासीय प्रक्रिया के प्रभाव से समाज की संरचना में पुन: परिवर्तन होना आरम्भ हुआ। (3) तीसरे स्तर पर जब अनेक संश्लिष्ट समाज मिलकर एक-एक बड़े दल (clan) के रूप में संगठित होने लगे, तब उनकी। जटिलता में और अधिक वृद्धि हो गयी। स्पेन्सर ने ऐसे समाजों को दोहरे संश्लिष्ट समाज Double Compound Society) कहा। समाज का आकार बढ़ने के साथ ही उनमें एक स्पष्ट राजनीतिक संगठन भी विकसित होने लगा। विभिन्न व्यक्तियों और समूहों की प्रस्थिति में भी कुछ परिवर्तन था। (4) कालान्तर में दोहरे संश्लिष्ट समाजों अथवा अनेक बड़े-बड़े दलों ने मिलकर जिस वृहत् समाज का निर्माण किया उसने एक राज्य का रूप ले लिया। ऐसे समाज को स्पेन्सर ने **'त्रि-संश्लिष्ट समाज'** (Trebly Compound Society) कहा है। यही समाज का वर्तमान रूप है जिसकी एक पृथक प्रभुसत्ता, संस्कृति, अर्थव्यवस्था ओर सामाजिक संरचना होती है। आधुनिक समाज इस त्रि-संश्लिष्ट समाज का ही प्रतिधित्व करते हैं। इनकी सरंचना काफी कठिन होती है तथा अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सभी व्यक्ति एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं।

स्पेन्सर का मानना है कि सामाजिक उद्‌विकास के प्रत्येक आगामी स्तर पर समाज की संरचना सरलता से जटिलता की ओर बढ़ने लगती है। जैसे-जैसे समाज पहले की तुलना में अधिक जटिल होता जाता है, उसमें विभेदीकरण की प्रक्रिया भी बढ़ती जाती है। विभेदीकरण के कारण समाज में समानता की जगह विभिन्नता के तत्व बढ़ने लगते हैं। इसके पश्चात भी सामाजिक संगठन अनिश्चित न रहकर निश्चित प्रकृति का बनता जाता है क्योंकि सभी व्यक्तियों और समूहों को कुछ निश्चित नियमों के अनुसार व्यवहार करना जरूरी हो जाता है। इसका तात्पर्य है कि सरलता से जटिलता, समरूपता से विषमरूपता और अनिश्चित से निश्चित अन्तिम स्तर के समाज की प्रमुख विशेषताएँ होती है। कोई समाज जब सरलता से जटिलता की ओर बढ़ता है, तब उसमें कुछ अन्य विशेषताओं का भी समावेश हो जाता है। इनमे स्पेन्सर ने निम्नांकित तीन विशेताओं को अधिक महत्व दिया है:

(1) पहली विशेषता का सम्बन्ध सामाजिक जीवन के आन्तरिक नियम से है। आन्तरिक नियमन का अर्थ यह है कि विभिन्न व्यक्ति राज्य के प्रति विभिन्न संगठनों के प्रति तथा एक-दूसरे के प्रति किस तरह की अन्त: क्रिया करेंगे। इसे स्पष्ट करने के लिए स्पेन्सर ने सैनिक और औद्योगिक समाज का उदाहरण दिया। सामाजिक उद्‌विकास के क्रम में सैनिक समाज दोहरे संश्लिष्ट समाजों की प्रकृति को स्पष्ट करते हैं,

जबकि औद्योगिक समाज वर्तमान सामाजिक संरचना से सम्बन्धित हैं। सैनिक समाजों में सरकार का रूप केन्द्रीयकृत होता है। सभी लोगों से यह आशा की जाती है कि वे राज्य के हित में काम करें। दूसरी और औद्योगिक समाजों में स्वतन्त्र व्यापार, ऐच्छिक संगठन और सत्ता का विकेन्द्रीकरण कुछ प्रमुख विशेषताएँ हैं। ऐसे समाज में राज्य का कार्य व्यक्तियों का अधिक से अधिक कल्याण करना और उनके हितों का संरक्षण करना होता है। स्पष्ट है कि सामाजिक उद्‌विकास एक ऐसी प्रक्रिया है जो सामाजिक सरंचना के बदलते हुए आन्तरिक नियमन को स्पष्ट करती है।

NOTES

(2) स्पेन्सर के अनुसार सरल समाजों की एक प्रमुख विशेषता लोगों के बीच अनिवार्य सहयोग (Compulsory co-operation) होना है। सरल समाज जब जटिल समाज में बदल जाता है, तब लोगों के बीच ऐच्छिक सहयोग (voluntary co-operation) बढ़ने लगता है। स्पष्ट है कि सैनिक समाजों में अनिवार्य सहयोग की प्रधानता होती है, जबकि औद्योगिक समाजों में ऐच्छिक सहयोग की प्रधानता हो जाती है।

(3) सरलता से जटिलता की दिशा में होने वाले बदलाव के फलस्वरूप सामाजिक सरंचना का निर्माण करने वाली इकाइयों की संख्या बढ़ने लगती है तथा उनके प्रकार्य एक निश्चित रूप लेने लगते हैं। इसी को स्पेन्सर ने अनिश्चितता से निश्चितता की ओर होने वाला परिवर्तन कहा।

II. योग्यतम का अतिजीवन (Survival of the Fittest)

स्पेन्सर के सामाजिक उद्‌विकास का दूसरा पक्ष 'योग्यतम की विजय' से सम्बन्धित है। उन्होंने डार्विन के विचारों से प्रभावित होकर यह स्पष्ट किया कि प्रकृति का यह नियम है कि केवल उन्हीं प्राणियों को जीवित रहने का अवसर दिया जाता है जो जीवित रहने के लिए सबसे अधिक योग्य है। जीवित रहने के लिए अयोग्य व्यक्तियों से स्पेन्सर का तात्पर्य निर्धन अथवा नैतिक रूप से हीन व्यक्तियों से नहीं है बल्कि शारीरिक रूप से कमजोर तथा सामाजिक मानदण्डों से अनुकूलन न कर सकने वाले लोगों से है। मूर्ख, मानसिक रूप से विकृत और अविवेकी लोग भी समाज में रहने के अयोग्य होते है। स्पेन्सर का विचार है कि योग्य लोगों की दशाओं में सुधार करने के लिए राज्य को किसी तरह का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। सामाजिक उद्‌विकास का रूप तभी स्वस्थ रह सकता है जब लोगों को प्राणीशास्त्रीय रूप से योग्य बनने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय। स्पेन्सर का यहाँ तक विचार था कि उद्‌विकास की प्रक्रिया को स्वाभावित से क्रियाशील बनाए रखने के लिये यह है कि सभी लोग अपने व्यक्तिगत हितों के अनुसार आर्थिक क्रियाएँ करें। इसी में अर्थव्यवस्था का स्वाभाविक विकास हो सकता है।

विभिन्न समाजों में उद्‌विकास की प्रक्रिया की सार्वभौमिकता को स्पष्ट करते हुए स्पेन्सर ने लिखा कि ईसा से 2000 वर्ष पहले मेसोपोटामिया के लोगों ने लोहे को गलाकर उससे हथियार बनाना सीख लिया था लोहे का आविष्कार होने के कारण मेसोपोटामिया का दुनिया के लगभग दो-तिहाई हिस्से पर अधिकार हो गया। दूसरी ओर, जो समाज अपने आप को समय के अनुसार नहीं बदल सके, उनकी संस्कृति धीरे-धीरे नष्ट हो गयी। इससे स्पष्ट

NOTES

होता है कि समाज मे उद्विकास की प्रक्रिया के लिए यह जरूरी है कि लोगों में अपनी प्राणीशास्त्रीय और प्राकृतिक दशाओं से अनुकूलन करने की अधिक से अधिक योग्यता हो।

अपने उद्विकास के सिद्धान्त के बारे में स्पेन्सर ने यह निष्कर्ष दिया कि जिस दशा को हम अक्सर 'सामाजिक प्रगति' कह देते हैं, वह प्रगति न होकर केवल एक उद्विकासीय परिवर्तन होता है। ऐसे परिवर्तन कभी एक निश्चित रेखा के रूप में नहीं होते बल्कि विभिन्नतायुक्त होते हैं। दूसरा तथ्य यह है कि समाज का विकास कभी भी पहले से ही निर्धारित कुछ विशेष स्तरों के माध्यम से नहीं होता बल्कि यह विकास लोगों के सामाजिक तथा प्राकृतिक पर्यावरण से किये जाने वाले अनुकूलन के अनुसार होता है। यही स्पेन्सर का सामाजिक उद्विकास का सिद्धान्त है।

आलोचनात्मक मूल्यांकन (Critcal Evaluation)

स्पेन्सर द्वारा प्रतिपादित विचारों में सामाजिक उद्विकास का सिद्धान्त सबसे महत्वपूर्ण माना जाता है। इसके बाद भी यह सच है कि आज अधिकांश सामाजिक विचारक स्पेन्सर के सामाजिक उद्विकास के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते। जिन विशेष आधारों पर इस सिद्धान्त की आलोचना की जाती है, उन्हें संक्षेप में समझना आवश्यक है।

(1) बोआस ने लिखा है कि स्पेन्सर ने समाज के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख करते हुए जिस क्रम मे उनके विकास को स्पष्ट किया है, वह पूरी तरह काल्पनिक हैं। सभी समाज एक ही नियम के अधीन एक निश्चित क्रम मे विकसित नहीं होते।

(2) यह कहना कि सैनिक और औद्योगिक समाजों की तुलना करने से सरल और जटिल समाजों की विशेषताओं को स्पष्ट किया जा सकता है, सही नहीं है। अनेक सैनिक समाजों में सामाजिक जटिलता और विभिन्नता से सम्बन्धित वे सभी विशेषताएँ देखने को मिलती हैं जिन्हें स्पेन्सर ने औद्योगिक समाजों से सम्बन्धित माना है।

(3) सामाजिक संरचना की आन्तरिक शक्तियों के रूप में स्पेन्सर ने विभिन्न मानव-प्रजातियों की भिन्नता, एक समुदाय की दूसरे समुदाय की दूसरे समुदाय से निकटता, प्रजातियों के मिश्रण तथा पर्यावरण से किये जाने वाले अनुकूलन की भिन्नता को प्रमुख स्थान दिया है। ऐसे विचार न तो प्राकृतिक नियमों पर आधारित हैं और न ही इनके आधार पर सामाजिक उद्विकास को स्पष्ट किया जा सकता है।

(4) स्पेन्सर ने सामाजिक उद्विकास के लिए उन व्यक्तियों को किसी तरह का सरंक्षण न देने को उचित हराया है जो दुर्बल होने के कारण जीवित रहने के लिए अयोग्य हैं। यह विचार वर्तमान युग के कल्याण राज्य की अवधारणा और सामाजिक न्याय के सिद्धान्त के बिल्कुल विपरीत है।

(5) यह सच है कि सामाजिक उद्विकास को एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में स्पष्ट किया जा सकता है। जिसमें होने वाले परिवितर्न सरलता से जटिलता और समानता से असमानता की ओर होते हैं

अध्याय का संक्षिप्त सार—

सामाजिक उद्विकास पर स्पेन्सर के विचारों तथा इनसे सम्बन्धित आलोचनाओं से यह स्पष्ट हो जाता हैं कि स्पेन्सर के सिद्धान्त में कुछ कमियाँ जरूर हैं लेकिन केवल इसी कारण स्पेन्सर को एक कल्पनावादी विचारक नहीं कहा जा सकता। स्पेन्सर ने सामाजिक उद्विकास से स्पष्ट करने के लिए जिन नियमों का उल्लेख किया उन्होंने सामाजिक विचारधारा को एक नया मोड़ देने में महत्वपूर्ण योगदान किया है। सांस्कृतिक मानवशास्त्र से सम्बन्धित अनेक विद्वान एक लम्बे समय तक स्पेन्सर के विचारों के आधार पर जनजातीय समाजों में होने वाले परिवर्तन की विवेचना करते रहे। स्पेन्सर के चिन्तन से यदि कुछ अन्तर्विरोधों को अलग कर दिया जाय तो वर्तमान समाजों को समझने के लिए सामाजिक उद्विकास के सिद्धान्त को निश्चय ही एक महत्वपूर्ण आधार माना जा सकता है।

परीक्षापयोगी प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न—

1. हरबर्ट स्पेन्सर का जीवन चरित्र लिखिए तथा उनकी कृतियों का उल्लेख कीजिए।
2. उद्विकास का अर्थ स्पष्ट कीजिए तथा डार्विन का उद्विकास का सिद्धान्त समझाइये।
3. स्पेन्सर हरबर्ट द्वारा प्रस्तुत अधिसावयवी उद्विकास की विवेचना कीजिए।
4. स्पेन्सर का सामाजिक उद्विकास का सिद्धान्त क्या है? विस्तृत वर्णन कीजिए।

लघुउत्तरीय प्रश्न—

1. समाज तथा सावयव के नियमों में क्या समानता है? स्पष्ट कीजिए।
2. ''सामाजिक उद्विकास को सम्पूर्ण जगत में व्याप्त एक सार्वभौमिक प्रक्रिया के रूप में माना है।'' इस कथन को स्पष्ट कीजिए।
3. जैविकीय उद्विकास का नियम समझाइये।
4. सामाजिक उद्विकास का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न—

1. हरबर्ट स्पेन्सर ने समाज के उद्विकास की कितनी अवस्थाओं का उल्लेख किया—

   (अ) चार　　(ब) तीन

   (स) सात　　(द) दस।

NOTES

2. डार्विन के उद्विकास के सिद्धान्त के आधार पर सामाजिक उद्विकास के सिद्धान्त की प्रस्तुत करने वाले विचारक का नाम है—

(अ) इमाइल दुर्खीम (ब) मैक्स वेवर

(स) हरबर्ट स्पेन्सर (द) कॉम्टे।

3. हरबर्ट स्पेन्सर किस देश के निवासी थे—

(अ) फ्रान्स (ब) इंग्लैण्ड

(स) जापान (द) भारत।

4. प्रिंसिपल्स ऑफ सोशियोलॉजी के नाम से पहली पुस्तक लिखने वाले विचारक का नाम है—

(अ) परेटो (ब) कार्ल मार्क्स

(स) मैकाइवर (द) हरबर्ट स्पेन्सर।

5. उद्विकास किसी जीव रचना या पदार्थ में निहित आन्तरिक शक्तियों के प्रभाव से होने वाला परिवर्तन है। यह कथन है—

(अ) सत्य (ब) दुर्खीम के अनुसार सत्य

(स) असत्य (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं।

6. स्पेन्सर के अनुसार जब अनेक सरल समाज मिलकर साथ-साथ रहते है, तब ऐसे समाज को कहा जाता है—

(अ) जटिल (ब) समरूप समाज

(स) संश्लिष्ट समान (द) उपर्युक्त सभी।

7. 'द ओरिजीन ऑफ स्पेसीज' के लेखक कौन हैं-

(अ) मार्गन (ब) स्पेन्सर

(स) डार्विन (द) पेरोटो

8. हरबर्ट स्पेंसर की प्रथम पुस्तक कौन-सी है-

(अ) समाजशास्त्र के सिद्धान्त (ब) सामाजिक स्थिति-विज्ञान

(स) प्रथम सिद्धान्त (द) प्राणीशास्त्र के सिद्धान्त

उत्तर— 1. (अ) 2. (स) 3. (ब) 4. (द) 5. (अ) 6. (स) 7. (स) 8. (ब)।

4 इमाइल दुर्खीम : सामाजिक एकता

NOTES

अध्याय में सम्मिलित विषय सामग्री

- उद्देश्य
- प्राक्कथन
- दुर्खीम का जीवन परिचय
- दुर्खीम की कृतियाँ
- समाजशास्त्र के लिए दुर्खीम का योगदान
- सामाजिक एकता का सिद्धान्त
- सामाजिक एकता की अवधारणा
- यान्त्रिक एकता
- यान्त्रिक एकता की विशेषताएँ
- सावयवी एकता
- यान्त्रिक तथा सावयवी एकता में अन्तर
- अध्याय का संक्षिप्त सार
- परीक्षोपयोगी प्रश्न

उद्देश्य :

इस अध्याय अध्ययन के पश्चात् आप निम्न तथ्यों को समझ सकेंगे—

- प्राक्कथन।
- दुर्खीम का जीवन परिचय
- दुर्खीम की कृतियाँ
- समाजशास्त्र के लिए दुर्खीम का योगदान
- सामाजिक एकता का सिद्धान्त
- सामाजिक एकता की अवधारणा
- यान्त्रिक एकता
- यान्त्रिक एकता की विशेषताएँ
- सावयवी एकता
- यान्त्रिक तथा सावयवी एकता में अन्तर

NOTES

प्राक्कथन

फ्रांस के सामाजिक विचारकों में आगस्त कॉम्ट के पश्चात इमाइल दुर्खीम को ही सबसे महत्वपूर्ण समाजशास्त्री माना जाता है। कॉम्टे ने अपने विभिन्न विचारों के द्वारा एक विज्ञान के रूप में जिस समाजशास्त्र की कल्पना की थी, दुर्खीम ने उसे व्यवस्थित रूप देने तथा समाजशास्त्र की विषय-वस्तु का निर्धारण करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। यह सच है कि कॉम्टे को 'समाजशास्त्र का जनक' माना जाता है लेकिन अपने जीवन काल में कॉम्टे को बौद्धिक और शैक्षणिक धरातल पर कोई विशेष मान्यता प्राप्त नहीं हो सकी। इसके विपरीत, दुर्खीम वह अपने विचारक थे जिन्होंने अपनी बौद्धिक प्रतिभा के साथ ही शैक्षणिक स्तर पर भी विशेष सम्मान पाने में सफलता प्राप्त की। उन्हें फ्रांस में समाजशास्त्र का प्रथम प्रोफेसर बनने का गौरव प्राप्त हुआ। इसी कारण दुर्खीम को फ्रांस का पहला 'शैक्षणिक समाजशास्त्री' (academic sociologist) भी कहा जाता है। यह सत्य है कि दुर्खीम से पहले कॉम्ट तथा स्पेन्सर ने समाजशास्त्र को एक स्वतन्त्र विज्ञान के रूप में स्थापित करने से भरसक प्रयत्न किये थे लेकिन दुर्खीम वह पहले विद्वान थे जिन्होंने समाजशास्त्र को एक वैध रूप देने तथा विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के बीच इसे एक स्वतन्त्र विज्ञान के रूप में मान्यता दिलवाने में सफलता प्राप्त की।

दुर्खीम का दृढ़ विश्वास था कि समाजशास्त्र को एक विज्ञान तभी बनाया जा सकता है जब इसके अध्ययन में उन्हीं पद्धतियों को अपनाया जाये जिनका उपयोग भौतिक विज्ञानों के अध्ययन में किया जाता है। इस अर्थ में दुर्खीम भी कॉम्ट के समान एक प्रत्यक्षवादी थे। उन्होंने भौतिक विज्ञानों की तरह समाजशास्त्रीय अध्ययनों के लिए भी अवलोकन, वर्गीकरण प्रयोग एवं तुलना पर विशेष जोर दिया। समाजशास्त्र की विषय-वस्तु को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा कि समाजशास्त्र वह विज्ञान है जिसमें सामाजिक तथ्यों (Social facts) का अध्ययन किया जाता है। दुर्खीम के अनुसार, "सामाजिक तथ्यों का सम्बन्ध कार्य करने, विचार करने तथा अनुभव करने के उन सभी तरीकों से है जो व्यक्तिगत चेतना के बाहर स्थित होते हैं तथा जिनमें दबाब की इतनी शक्ति होती है कि वे व्यक्तियों के आचरणों को नियन्त्रित करते रहते है।" दुर्खीम ने सबसे पहले यह अनुभव किया कि 'सामाजिक' शब्द एक ऐसा विशेषण है जब 'सामाजिक' शब्द की विवेचना समाजशास्त्र के सन्दर्भ में की जाये। उनके अनुसार कोई भी वह घटना या मानसिक क्रिया जो समाज में घटित होती है उसे सामाजिक नहीं कहा जा सकता। फ्रांसीसी परम्परा के सन्दर्भ में दुर्खीम ने स्पष्ट किया कि 'सामाजिक' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में ही किया जा सकता है—पहला अर्थ यह है कि 'सामाजिक' शब्द का अभिप्राय किसी सांस्कृतिक दशा से होता है, मानसिक दशा से नहीं। उदाहरण के लिए, मनुष्य के जो व्यवहार जन्मजात या वंशानुगत होते हैं, वे मानसिक व्यवहार है, अत: उन्हें सामाजिक व्यवहार नहीं कहा जा सकता। दूसरी ओर, जिन व्यवहारों का सम्बन्ध सांस्कृतिक सीख, जैसे—धर्म, भाषा या नैतिक नियमों आदि से होता है, वे सांस्कृतिक व्यवहार हैं। इस कारण इन्हें 'सामाजिक व्यवहार' कहा जायेगा। 'सामाजिक' शब्द का दूसरा अर्थ सामूहिक जीवन से है, वैयक्तिक जीवन से नहीं। इसका अर्थ है कि केवल उन्हीं घटनाओं को सामाजिक घटनाएँ कहा जा सकता है। जिनकी प्रकृति सामूहिक होती है। अपने इसी तर्क के आधार पर दुर्खीम ने बताया कि जीवशास्त्र

अथवा मनोविज्ञान में जिन तथ्यों का अध्ययन किया जाता है, वे वैयक्तिक जीवन से सम्बन्धित होने के कारण समाजशास्त्र विषय-वस्तु से भिन्न हैं।

NOTES

समाजशास्त्र को एक अलग सामाजिक विज्ञान के रूप में स्थापित करने के लिए दुर्खीम ने जो योगदान दिया, उससे स्पष्ट होता है कि उनमें एक विलक्षण तर्क-शक्ति थी। दुर्खीम के जीवन, कृतियों तथा समाजशास्त्र के लिए उनके योगदान को समझने से पहले यह ध्यान रखना आवश्यक है कि प्रत्येक विचारक के चिन्तन पर अपने समय की सामाजिक एवं राजनीतिक दशाओं का प्रभाव अवश्य पड़ता है। दुर्खीम के समय में फ्रांस का सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक वातावरण परिवर्तन के दौर से गुजर रहा था। उस समय एक ओर औद्योगिक विकास तथा वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण पुरानी मान्यताएँ कमजोर पड़ती जा रही थीं तो दूसरी ओर समाज का एक बड़ा वर्ग परम्परागत धार्मिक विश्वासों तथा कल्पना पर आधारित साहित्य को ही विद्वत्ता का वास्तविक आधार मानने के पक्ष में था। इन दिशाओं के बीच दुर्खीम ने यह स्पष्ट किया कि नैतिकता से बढ़कर धर्म का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता। नैतिकता सामूहिक जीवन की एक आधारभूत विशेषता है तथा उसका सम्बन्ध समाज की तत्कालीन दशाओं से सामंजस्य स्थापित करके मानव व्यवहारों को नियन्त्रित करना हैं इस दृष्टिकोण से नैतिकता भी एक सामाजिक तथ्य है। उन्होंने इस बात पर जोर बल दिया कि समाजशास्त्र को एक नये विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित करके ही एक व्यावहारिक नैतिकता को विकसित किया जा सकता है। सामाजिक एकता, धर्म आत्महत्या तथा सामूहिक चेतना जैसे विषयों पर दुर्खीम के विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक घटनाओं के अध्ययन के लिए वह अवलोकन, वर्गीकरण तथा तुलना को ही वैज्ञानिक पद्धति आधार मानते हुए इसी के द्वारा सामाजिक घटनाओं के अध्ययन के पक्ष में थे।

दुर्खीम का जीवन-परिचय एवं कृतियाँ

इमाइल दुर्खीम का जन्म 15 अप्रैल, सन् 1858 में पूर्वी फ्रांस के लॉरेन (Lorraine) प्रान्त में स्थित इपिनाल (Epinal) नामक नगर में एक यहूदी परिवार में हुआ था। फ्रांस के इतिहास में लॉरेन का महत्वपूर्ण स्थान रहा है क्योंकि इस क्षेत्र के यहूदियों ने फ्रांस के सांस्कृतिक तथा राजनीतिक जीवन में सदैव रचनात्मक भूमिका निभाई। फ्रांस का एक अल्पसंख्यक समुदाय होने के बाद भी यहूदी वर्ग धार्मिक एवं राष्ट्रवादी विचारों युक्त रहा। यह सच है कि फ्रांस के कुछ भागों में यहूदियों के साथ काफी भेदभाव किया जाता था लेकिन न प्रान्त में यहूदियों के साथ ईसाइयों का व्यवहार बहुत उदारता और सहयोग का था। दुर्खीम की पारिवारिक परम्परा में यहूदी दर्शन (Rabbi tradition) की प्रधानता थी, इसलिए अपने आरम्भिक जीवन में दुर्खीम ने यहूदी धर्म की परम्परा का पालन करना आरम्भ कर दिया। उन्होंने एक ओर हिब्रू भाषा के माध्यम से यहूदी धर्म न को समझा तो दूसरी ओर, कैथॉलिक धर्म को मानने वाली अपनी एक शिक्षिका के प्रभाव से ईसाई धर्म शिक्षाओं को भी समझना आरम्भ कर दिया। असके बाद भी दुर्खीम ने जल्दी ही अपने आपको विभिन्न अंध विश्वासों से अलग करके एक अज्ञेयवादी (agnostic) के रूप में धर्म को एक सामाजिक तथ्य के रूप रखना आरम्भ कर दिया।

दुर्खीम की प्रारम्भिक शिक्षा एपिनाल के एक स्थनीय कॉलेज में हुई प्रारम्भ से ही वह एक प्रतिभाशाली परिश्रम विद्यार्थी रहे तथा समय-समय पर उन्हें बहुत-से पुरुस्कार प्राप्त होते रहे। अपने आरम्भिक जीवन की दुर्खीम की इच्छा एक सफल प्राध्यापक बनने की थी। अत: एपिनाल के कॉलेज से स्नातक की उपाधि के बाद प्रयत्न करना आरम्भ कर दिया। उन दिनों इकोल अकादमी से डिग्री लेकर निकलने वाले छात्रों को ही विश्वविद्यालयों तथा दूसरे उच्च पदों पर नियुक्ति के लिए सबसे अधिक उपयुक्त समझा जाता था। संस्था में प्रवेश पाना सरल नहीं था। स्वयं दुर्खीम भी प्रवेश-परीक्षा में दो बार असफल रहने के बाद अन्तत: 1879 में इकोल अकादमी में प्रवेश पा सके। इकोल अकादमी में ही दुर्खीम का सम्पर्क उन अनेक प्रतिभावान से हुआ जिन्होंने आगे चलकर फ्रांस के बौद्धिक जीवन में अपना विशेष योगदान दिया। फ्रांस के महान निक हेनरी बर्गसन (Henri Bergson) तथा समाजवादी नेता जीन जॉरस (Jean Jaures) उनसे एक आगे थे, जबकि ब्लोन्देल (Blondel) जैसे प्रख्यात दार्शनिक ने दुर्खीम से दो वर्ष बाद प्रवेश लिया था। इसके अतिरिक्त, मनोवैज्ञानिक पीयर जेनेट (Pierre Janet) तथा दार्शनिक गोबलोट (Goblot) उनके सहपाठी थे। लेवी बूल तथा एस्पिनॉस (Espinas) जैसे होनहर समाजशास्त्री भी दुर्खीम के सहपाठी थे। यद्यपि किसी भी युवा के जीवन में इकोल अकादमी में प्रवेश पाना एक उपलब्धि माना जाता था। दुर्खीम इस अकादमी की कार्य-पद्धति से अधिक सन्तुष्ट नहीं थे। उनकी आरम्भ से ही नैतिक सिद्धान्तों तथा वैज्ञानिक विकास की नयी उपलब्धियों में रुचि थी। इसके विपरीत, अकादमी में फ्रेंच, लैटिन और ग्रीक दर्शन तथा साहित्य के अध्ययन पर बल दिया जाता था। सम्भवत: यही कारण था कि दुर्खीम इस अकादमी में अपने सहपाठियों के बीच कुछ अलग-थलग पड़ गये। उन्होंने सन् 1882 में जब स्नातक की उपाधि प्राप्त की तब शिक्षकों द्वारा भी उन्हें उत्तीर्ण विद्यार्थियों में बहुत निम्न स्थान दिया गया। इसका अर्थ यह नहीं है कि इकोल अकादमी में अपने तीन वर्ष के अध्ययनकाल में दुर्खीम अपने शिक्षकों और सहपाठियों से पूरी तरह अप्रभावित रहे हों। जिन शिक्षकों से दुर्खीम अधिक प्रभावित हुए, उनमें से एक प्रत्यक्षवादी इतिहासकार एफ. डी. कुलान्गेस (F. D. Coulanges) तथा दूसरे इमाइल बुत्रोक्स (Emile Boutroux) जैसे महान दार्शनिक थे। प्रोफेसर कुलान्गेस ने सन् 1880 में अकादमी का निदेशक बनने पर वहाँ के पाठ्यक्रम में अनेक ऐसे परिवर्तन किये थे जो दुर्खीम की रूचि और प्रतिभा के अनुकूल थे। प्रोफेसर कुलान्गेस से ही दुर्खीम ने ऐतिहासिक शोध की आलोचनात्मक पद्धति को सीखा। बाद में दुर्खीम ने लैटिन भाषा में मॉटेस्क्यु (Montesquieu) पर जब अपना शोध प्रबन्ध लिखा तो उसे उन्होंने प्रोफेसर कुलान्गेस को ही आदर के रूप में समर्पित किया। अकादमी में अपने शोध अध्ययन के दौरान दुर्खीम ने विभिन्न विषयों पर जो लेख लिखे, उनसे प्रभावित होकर प्रोफेसर इमाइल बुत्रोक्स ने उन्हें अपने निर्देशन में पी. एच. डी. की उपाधि के लिए थीसिस लिखने को आमान्त्रित किया। प्रोफेसर बुत्रोक्स समग्र की इकाइयों का पृथक् अध्ययन करने (Atomism) के विरोधी थे। उनका तर्क था कि कोई भी अध्ययन किसी तथ्य की समग्रता के आधार पर ही किसा जा सकता है क्योंकि विभिन्न इकाइयों की अन्त:क्रिया और सम्मिलन से एक नयी वस्तु के रूप में समग्र का निर्माण होता है। बुत्रोक्स के अनुसार समाज स्वयं में एक वास्तविक सत्ता है जिसकी व्याख्या मनोवैज्ञानिक या जैविकीय तथ्यों के आधार पर नहीं की जा सकती। दुर्खीम पर प्रोफेसर बुत्रोक्स के इन

विचारों का बहुत प्रभाव पड़ा। इसी के फलरूवरूप दुर्खीम ने सामाजिक तथ्य (Social fact) तथा सामाजिक यथार्थवाद (Social realism) जैसे सिद्धान्तों की रूपरेखा बनाना शुरू कर दिया। बाद में जब उन्होंने सन् 1893 में डॉक्टर प्रोफेसर बुत्रोक्स को ही प्रबन्ध 'The Division of Labour in Society' को प्रभावित करवाया, तब इसे उन्होंने प्रोफेसर बुत्रोक्स को ही श्रद्धा के रूप में समर्पित किया। निश्चित रूप से यह दुर्खीम के जीवन पर इकोल अकादमी का प्रभाव था।

वास्तविकता यह है कि स्नातक की उपाधि करने के समय से ही दुर्खीम अपने आपको किसी ऐसे विषय के अध्ययन में लगाना चाहते थे जिसके द्वारा वह कुछ प्रमुख नैतिक प्रश्नों का उत्तर ढूँढ सके तथा जो उनका विश्वास था कि केवल एक ठोस वैज्ञानिक प्रशिक्षण के द्वारा ही यह सब कर पाना सम्भव है। दुर्खीम समाजशास्त्रीय आधार पर एक ऐसा वैज्ञानिक अध्ययन करना चाहते थे जिसे समाज के नैतिक विकास का एक साधन बनाया जा सके। उनका यह वह लक्ष्य था जिससे दुर्खीम फिर कभी अलग नहीं हुए। इसके पश्चात् भी उस समय स्कूल अथवा विश्वविद्यालय स्तर पर शिक्षा में समाजशास्त्र जैसे किसी विषय को मान्यता प्राप्त नहीं थी। फलस्वरूप सन् 1882 से 1887 के बीच दुर्खीम ने पेरिस के समीपवर्ती अनेक स्कूलों में दर्शनशास्त्र के शिक्षक के रूप में कार्य किया। इसी बीच वह एक वर्ष का अवकाश लेकर अपने आगामी अध्ययन के लिए पेरिस और जर्मनी में भी रहे। जर्मनी में उन्होंने दर्शनशास्त्र के अतिरिक्त दूसरे सामाजिक विज्ञानों, जैसे—अर्थशास्त्र, सांस्कृतिक मानवशास्त्र तथा मनोविज्ञान का अध्ययन किया। उनका अधिकतर समय बर्लिन तथा लेपजिक नगरों में व्यतीत हुआ। लेपजिक में वह अपने समय के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक **विलहेम वुण्ट** (Wilhelm Wundt) के सम्पर्क में आये जिनके प्रभाव से उन्हें यह समझने की प्रेरणा मिली कि नैतिकता की सामाजिक जड़ें क्या हैं तथा किस प्रकार नीतिशास्त्र को एक स्वतन्त्र और वैज्ञानिक विषय बनाया जा सकता है। उन्होंने जर्मनी के बौद्धिक जीवन पर अपनी जो रिपोर्ट लिखी, उसके कारण दुर्खीम को 29 वर्ष की अवस्था में ही समाज विज्ञानों तथा सामाजिक दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में मान्यता मिलने लगी। जर्मनी के समाजशास्त्रियों जैसे **गुम्प्लोविज** तथा **शैफिल** (Gumplowiez and Shaeffle) की रचनाओं पर दुर्खीम ने जो समालोचनात्मक लेख लिखे, उनसे भी प्रसिद्धि बढ़ने लगी। इसके परिणामस्वरूप सन् 1887 में दुर्खीम बोर्डियाक्स विश्वविद्यालय में शिक्षक के रूप में नियुक्त हो गये। बोर्डियाक्स विश्वविद्यालय में दुर्खीम की नियुक्ति दर्शनशास्त्र विभाग में हुई थी लेकिन उच्च शिक्षा की संस्तुति पर उनके लिए इसी विभाग में समाज विज्ञान का पाठ्यक्रम भी शुरू कर दिया गया। यह एक आश्चर्यजनक घटना थी क्योंकि लगभग 10 वर्ष पहले इसी विश्वविद्यालय में दुर्खीम के समकालीन समाजशास्त्री एल्फ्रेड एस्पिनाज (Alfred Espinas) के शोध प्रबन्ध पर इसलिए आपत्ति गयी थी कि उन्होंने इसकी भूमिका में से आगस्त कॉम्ट के नाम को निकालना स्वीकार नहीं किया था।

बोर्डियाक्स विश्वविद्यालय में अध्यापन के दौरान ही दुर्खीम का **लूसी ड्रेफू** (Louise Dreyfus) से विवाह हुआ। पुत्री मेरी तथा पुत्र आन्द्रे उनकी दो सन्तानें थीं। दुर्खीम के पारिवारिक जीवन के बारे में बहुत कम जानकारी मिलती है, यद्यपि यह अवश्य ज्ञात है कि दुर्खीम की पत्नी ने यहूदी परिवार की परम्परा का निर्वाह करते हुए अपना सम्पूर्ण समय

परिवार को व्यवस्थित करने तथा दुर्खीम के विभिन्न कार्यों में उनकी सहायता करने में बिताया। बोर्डियाक्स विश्वविद्यालय में दुर्खीम का समय गहन चिन्तन और रचनात्मक लेखन का काल था। यहाँ उन्होंने टॉनीज तथा अनेक दूसरे विद्वानों के लेखों की समालोचना की तथा अपने अनेक व्याख्याओं को लेखों के रूप में प्रकाशित करवाया। सन् 1893 में उन्होंने फ्रेंच भाषा में अपनी पी-एच.डी. की थीसिस *'The Division of Labour in Society'* (समाज में श्रम-विभाजन) तथा लैटिन भाषा में मॉण्टेस्क्यू पर शोध प्रबन्ध प्रकाशित करवाया। इसके दो वर्ष पश्चात ही उनकी पुस्तक *'The Rules of Sociological Method'* (समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम) प्रकाशित हुई जिसने समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिए एक नयी दिशा दी। दो वर्ष बाद ही सन् 1897 में उनकी पुस्तक *'The Suicide'* (आत्महत्या) का प्रकाशन हुआ। इन तीन प्रमुख पुस्तकों से फ्रांस के बौद्धिक जगत में दुर्खीम को एक प्रतिभाशाली विद्वान के रूप में देखा जाने लगा। फ्रांस में जब समाजशास्त्र के प्रति विद्वानों की रुचि बढ़ने लगी तो इसका और अधिक विकास करने के लिए दुर्खीम ने सन् 1898 से *'L Annee Sociologique'* नामक समाजशास्त्रीय पत्रिका का सम्पादन करना शुरू कर दिया। यह एक उच्च कोटि की समाजशास्त्रीय पत्रिका थी जिसके माध्यम से रुचि रखने वाले युवा विद्वानों को अपने विचार स्पष्ट करने का मौका मिल गया। साथ ही इस पत्रिका में प्रकाशित विचारों से एक नये समाजशास्त्रीय सम्प्रदाय का विकास हुआ जिसे **'दुर्खीम सम्प्रदाय'** के नाम से जाना जाता है।

बोर्डियाक्स विश्वविद्यालय में 9 वर्ष तक दर्शन विभाग से सम्बद्ध रहने के बाद सन् 1896 में दुर्खीम को समाज विज्ञान का प्रोफ़ेसर बना दिया गया। इस पद पर वह वहाँ 6 वर्ष तक कार्य करते रहे। इस समय तक दुर्खीम की गणना फ्रांस के प्रमुख विद्वान तथा शिक्षाशास्त्री के रूप में की जाने लगी। फलस्वरूप सन् 1902 में उन्हें पेरिस विश्वविद्यालय में शिक्षाशास्त्र के प्रोफेसर के पद के लिए आमन्त्रित किया गया। समाजशास्त्र की ओर दुर्खीम की ओर बढ़ती हुई रुचि तथा उनकी उपलब्धियों को देखते हुए सन् 1913 में दुर्खीम द्वारा संचालित विभाग का नाम बदलकर **'शिक्षाशास्त्र एवं समाजशास्त्र विभाग'** कर दिया गया। इस प्रकार सन् 1838 में कॉम्ट ने फ्रांस में **'समाजशास्त्र'** के नाम से जिस नये विज्ञान की कल्पना की थी, सन् 1913 में दुर्खीम ने फ्रांस में समाजशास्त्र का पहला प्रोफेसर बनकर उसे एक मान्यता प्राप्त विषय का रूप देना शुरू कर दिया।

पेरिस में रहते हुए भी दुर्खीम ने अपनी पत्रिका *'L'Annee Sociologique'* का सम्पादन जारी रखा। इसमें उन्होंने नीतिशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, धर्म, राजनीतिक दर्शन तथा सेण्ट साइमन और कॉम्ट के विचारों से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों का विद्वत्तापूर्ण विश्लेषण प्रस्तुत किया। इस समय राबर्ट्सन, स्मिथ तथा मानवशास्त्र के ब्रिटिश सम्प्रदाय से प्रभावित होकर दुर्खीम की रुचि धार्मिक तथ्यों के अध्ययन में बढ़ने लगी थी। परिणामस्वरूप उन्होंने पहले जनजातीय धर्म पर अनेक लेख लिखे तथा बाद में इन्हीं लेखों पर आधारित उनकी अन्तिम महत्वपूर्ण पुस्तक सन् 1912 में *'The Elementary Forms of Religious Life'* (धार्मिक जीवन के प्रारम्भिक स्वरूप) नाम से प्रकाशित हुई। दुर्खीम केवल एक महान विचारक ही नहीं थे बल्कि वह एक गम्भीर तथा सफल शिक्षक भी थे। कठिन-से-कठिन विषयों को भी सरल, तार्किक और आकर्षक ढंग से स्पष्ट करने की उनमें अपूर्व क्षमता थी। विभिन्न

विषयों पर उनका भाषण बहुत प्रभावपूर्ण था। दुर्खीम के बारे में उनके एक विद्यार्थी की टिप्पणी, का उल्लेख करते हुए **हेरी एल्पर्ट** (Harry Alpert) ने लिखा है, "जो व्यक्ति उनके प्रभाव से बचना चाहते हैं, उन्हें या तो उनके पाठ्यक्रम से अलग होना पड़ेगा अथवा इच्छा या अनिच्छा से उनकी विद्वत्ता को स्वीकार करना होगा।" सच तो यह है कि दुर्खीम ने केवल विश्वविद्यालय के अन्दर ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण पेरिस के बौद्धिक जीवन में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। विश्वविद्यालय व्यवस्था को पुनर्संगठित करने में दुर्खीम के विचारों को बहुत महत्व दिया जाता था। अप्रत्यक्ष रूप से दुर्खीम शिक्षा मन्त्रालय के सलाहकार थे; उन्होंने स्कूल स्तर के पाठ्यक्रम में समाजशास्त्र विषय को सम्मिलित करने में योगदान किया तथा नागरिक प्रशिक्षण में समाजशास्त्र की भूमिका को प्रमाणित किया।

जीवन के अन्तिम वर्षों में अनेक दु:खद अनुभवों के बाद भी दुर्खीम ने एक देशभक्त समाजशास्त्री की भूमिका निभाई। सन् 1914 में जब प्रथम विश्वयुद्ध शुरु हुआ, तब देश की रक्षा के लिए बहुत से युवा बुद्धिजीवी विश्वविद्यालयों और पुस्तकालयों को छोड़कर युद्ध-क्षेत्र में उतर आये। अनेक होनहार समाजशास्त्रियों और रॉबर्ट हर्ट्ज (Robert Hertz), एम. डेविड (M. David) तथा जीन रेनियर (Jean Reynier) की युद्ध में मृत्यु हो गयी। दुर्खीम को भी युद्ध के बारे में विभिन्न प्रपत्रों तथा अध्ययन सामग्री को प्रकाशित करने वाली समिति का सचिव नियुक्त किया गया। दुर्खीम ने अपना सम्पूर्ण समय युद्ध सम्बन्धी प्रचार सामग्री के सम्पादन एवं प्रकाशन कार्य पर लगाने के साथ ही जनता को 'धैर्य, प्रयत्न और विश्वास' का नारा दिया। दिसम्बर, 1915 में दुर्खीम को यह सूचना मिली कि उनका पुत्र आन्द्रे लड़ाई के मैदान में बुरी तरह घायल हुआ तथा बल्गेरिया के एक अस्पताल में उसकी मृत्यु हो गयी। अपने पिता की तरह आन्द्रे ने भी इकोल अकादमी में शिक्षा प्राप्त करके समाजशास्त्र तथा भाषाशास्त्र में नाम रोशन किया था। एकमात्र पुत्र के रूप में आन्द्रे से दुर्खीम को न केवल बहुत-सी आशाएँ थीं बल्कि उन्हें उस पर बहुत गर्व भी था। आन्द्रे की मृत्यु दुर्खीम पर एक ऐसा आघात था जिससे वह उबर नहीं सके। सन् 1917 में दुर्खीम ने पुन: नीतिशास्त्र पर कुछ लिखना शुरू किया लेकिन अन्दर से बुरी तरह टूट जाने के कारण 15 नवम्बर, सन् 1917 को 59 वर्ष की आयु में दुर्खीम की मृत्यु हो गयी।

दुर्खीम की कृतियाँ

समाजशास्त्र को एक अलग विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित करने तथा समाजशास्त्रीय अध्ययनों के लिए वैज्ञानिक आधार देने के लिए दुर्खीम ने अनेक महत्वपूर्ण पुस्तकें लिखीं। इनमें से कुछ पुस्तकों का प्रकाशन उनके जीवन काल में ही हो चुका था, जबकि कुछ पुस्तकों का प्रकाशन दुर्खीम द्वारा सम्पादित शोध-पत्रिका *'L'Annee Sociologique'* में प्रकाशित उनके लेखों के आधार पर दुर्खीम की मृत्यु के बाद किया गया। इनमें से कुछ प्रमुख रचनाएँ इस प्रकार हैं—

(1) **समाज में श्रम-विभाजन**—दुर्खीम द्वारा लिखित इस पुस्तक का प्रकाशन सन् 1893 में हुआ। यह पुस्तक डॉक्टरेट की उपाधि के लिए लिखे गये शोध प्रबन्ध पर आधारित थी। साधारणतया श्रम-विभाजन को एक आर्थिक विषय माना जाता है। इसके विपरीत, दुर्खीम ने इस पुस्तक में श्रम-विभाजन के सामाजिक कारणों तथा

प्रभावों का उल्लेख करते हुए इसके सामाजिक पक्ष को स्पष्ट किया। **रेमण्ड एरों** के अनुसार, "दुर्खीम द्वारा लिखित यह पुस्तक व्यक्ति और समूह के बीच पाये जाने वाले अन्तर्सम्बन्धों को स्पष्ट करती है।" इसी पुस्तक में उन्होंने सामाजिक एकता की अवधारणा के साथ यान्त्रिक एकता और सावयवी एकता की प्रकृति को स्पष्ट किया। पुस्तक के प्रथम खण्ड में उन्होंने श्रम-विभाजन के प्रकार्यों और प्रभावों की विवेचना की, जबकि दूसरे खण्ड में इसके सामाजिक कारकों पर प्रकाश डाला। सावयवी एकता को उन्होंने श्रम-विभाजन के एक अनिवार्य परिणाम के रूप में स्पष्ट किया। अप्रत्यक्ष में रूप दुर्खीम के द्वारा प्रतिपादित सामाजिक उद्विकास की प्रक्रिया की रूपरेखा की विवेचना भी इसी पुस्तक में की गयी है।

(2) **समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम**—इस पुस्तक का प्रकाशन सन् 1895 में हुआ। इस पुस्तक को लिखने का उद्देश्य दुर्खीम द्वारा यह स्पष्ट करना था कि अन्य विज्ञानों की तरह कुछ वैज्ञानिक पद्धतियों की सहायता से सामाजिक घटनाओं का भी पक्षपातरहित होकर अध्ययन किया जा सकता है। दुर्खीम का दूसरा उद्देश्य समाजशास्त्र की अध्ययन-वस्तु का इस तरह निर्धारण करना था जिससे समाजशास्त्र को एक अलग विज्ञान की मान्यता मिल सके। इसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए दुर्खीम ने अपनी इस पुस्तक के आरम्भ में ही यह स्पष्ट किया कि समाजशास्त्र की वास्तविक अध्ययन-वस्तु सामाजिक तथ्य हैं। उन्होंने सर्वप्रथम सामाजिक तथ्यों की प्रकृति और विशेषताओं की इस तरह विवेचना की जिससे उन्हें भौतिक, जैविकीय तथा वैयक्तिक तथ्यों से अलग करके उनका अध्ययन किया जा सके। पुस्तक के दूसरे अध्याय में उन्होंने उन नियमों की व्याख्या की जिनके द्वारा सामाजिक तथ्यों का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन किया जा सकता है। तीसरे अध्ययन में दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यों का वर्गीकरण तथा चौथे अध्याय में समाज के विभिन्न प्रकारों का वर्गीकरण प्रस्तुत करते हुए आगामी विवेचन में सामाजिक घटनाओं के कारण तथा प्रकार्यों की विवेचना की। अन्तिम अध्याय में उन्होंने तुलनात्मक पद्धति की रूपरेखा प्रस्तुत करके यह स्पष्ट किया कि सामाजिक तथ्यों का वैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए यही सबसे उपयुक्त पद्धति है। इस प्रकार दुर्खीम वह पहले समाजशास्त्री थे जिन्होंने समाजशास्त्र को एक दृढ़ वैज्ञानिक आधार प्रदान किया।

(3) **आत्महत्या**—फ्रेंच भाषा में दुर्खीम की इस पुस्तक का प्रकाशन सन् 1897 में हुआ। इस पुस्तक में उन्होंने आत्महत्या को एक सामाजिक तथ्य मानते हुए इसके विभिन्न प्रकारों को विस्तार से स्पष्ट किया। आत्महत्या का अध्ययन करने के लिए दुर्खीम ने पहली बार आनुभविक (empirical) तथा संख्यात्मक आँकड़ों का उपयोग किया। इसी के फलस्वरूप समाजशास्त्रीय अध्ययनों में आनुभविक अध्ययन की परम्परा आरम्भ हो सकी।

(4) **धार्मिक जीवन के प्रारम्भिक स्वरूप**—यह पुस्तक सन् 1912 में प्रकाशित हुई जो दुर्खीम के जीवन में प्रकाशित होने वाली उनकी अन्तिम पुस्तक थी। इस पुस्तक को आज भी 'धर्म के समाजशास्त्र' का प्रमुख आधार माना जाता है। दुर्खीम ने जनजातीय

धर्म को धार्मिक जीवन तथा उससे सम्बन्धित विभिन्न प्रकार के विश्वासों और अनुष्ठानों को धर्म का प्रारम्भिक स्वरूप मानते हुए इस पुस्तक में धर्म के प्रकार्यों की विस्तृत विवेचना की। उस समय जर्मनी में मैक्स वेबर तथा इटली के पेरेटो भी धर्म तथा समाज के पारस्पारिक सम्बन्धों का अध्ययन कर रहे थे लेकिन दुर्खीम ने अपनी पुस्तक में धर्म की विवेचना बिल्कुल नये ढंग से प्रस्तुत की।

उपर्युक्त पुस्तकों के अतिरिक्त दुर्खीम द्वारा प्रमुख पत्रिका 'L 'Annee Sociologique' की सन् 1898 में स्थापना की गयी थी, उसमें दुर्खीम द्वारा लिखे गये विभिन्न लेखों का भी समाजशास्त्रीय साहित्य में विशेष स्थान हैं इन्हीं लेखों के आधार पर उनकी मृत्यु के बाद उनकी पत्नी तथा अनुयायियों तथा कुछ दूसरी पुस्तकों का भी प्रकाशन करवाया गया। इनमें से कुछ प्रमुख पुस्तकें इस प्रकार हैं—

1. शिक्षा तथा समाजशास्त्र (Education and Sociology, 1922),

2. समाजशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र (Sociology and Philosophy, 1924),

3. शिक्षा नीति (Education Morale, 1925) एवं

4. फ्रांस में शिक्षाशास्त्र का उद्विकास (The Evolution of Pedagogy in France, 1938)।

इन सभी पुस्तकों के अतिरिक्त दुर्खीम ने विभिन्न विद्वानों की पुस्तकों तथा लेखों की जो समीक्षाएँ लिखीं, उनका भी समाजशास्त्रीय जगत् में महत्वपूर्ण स्थान है।

समाजशास्त्र के लिए दुर्खीम का योगदान

दुर्खीम एक मौलिक विचारक थे। वह अनेक दूसरे विद्वानों से प्रभावित अवश्य हुए लेकिन उन्होंने सभी विचारों को एक नया रूप देकर समाजशास्त्र को वास्तविक अर्थों में एक वस्तुनिष्ठ विज्ञान बनाने का प्रयास किया। समाजशास्त्र की व्यावहारिकता को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा, "समाजशास्त्र का मूल्य तभी तक है जब तक उसका उपयोग तात्कालिक समाज के सुधार में किया जा सके।" शुरू में दर्शनशास्त्र के अध्येयता और शिक्षक के रूप में उनका दार्शनिक दृष्टिकोण भी बहुत व्यावहारिक था। इसी कारण दुर्खीम ने समाज को नैतिकता पर आधारित मानते हुए विचार व्यक्त किया कि नैतिक व्यवस्था के बिना किसी भी समाज में सामाजिक एकता में वृद्धि नहीं की जा सकती। **दुर्खीम** के शब्दों में, "समाज कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसका नैतिकता पर गौण प्रभाव पड़ता हो—यदि सामाजिक जीवन समाप्त हो जायेगा तो उद्देश्यों का अभाव हो जाने के कारण नैतिक जीवन अपने आप समाप्त हो जायेगा।" अपने चिन्तन में दुर्खीम ने रहस्यवाद अधि-प्राकृतिकवाद और परम्परावाद का सदैव विरोध किया तथा सामूहिकता और सामाजिक मूल्यों को सामाजिक जीवन का वास्तविक आधार माना। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि दुर्खीम सामाजिक घटनाओं की विवेचना में दार्शनिक आधार को अधिक महत्वपूर्ण मानत थे। उन्हीं के शब्दों में, "समाजशास्त्र को दार्शनिक पूर्व-कल्पनाओं अथवा भावनाओं पर आधारित नहीं होना चाहिए चाहे वे किसी भी रूप में हों। समाजशास्त्र को दर्शनशास्त्र से अलग रखकर ही उसे विकसित किया जा सकता है।"

दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यों के अध्ययन के लिए सदैव वैज्ञानिक विधि के प्रयोग पर जोर दिया। उनका मानना था कि जिस तरह प्राकृतिक घटनाएँ कुछ निश्चित नियमों के आधार पर घटित होती हैं, उसी प्रकार सामाजिक घटनाओं होने के भी कुछ निश्चित नियम होते हैं। यदि इन नियमों को समझकर एक वैज्ञानिक विधि के द्वारा सामाजिक घटनाओं की विवेचना की जाये तो समाजशास्त्र भी एक निश्चित विज्ञान बन सकता है। इसके साथ ही दुर्खीम ने समाजशास्त्र की अध्ययन-वस्तु का भी निर्धारण किया। उन्होंने दूसरे विद्वानों से भिन्न विचार प्रस्तुत करते हुए श्रम-विभाजन को एक सामाजिक तथ्य मानते हुए उसके कारण तथा परिणामों की व्याख्या की। श्रम-विभाजन को उन्होंने सामाजिक एकता का आधार मानते हुए एक निष्कर्ष दिया कि यान्त्रिक एकता से सावयवी एकता की ओर होन वाला समाज का विकास श्रम-विभाजन का ही परिणाम है। दुर्खीम वह पहले समाजशास्त्री थे जिन्होंने आनुभाविक आधार पर आत्महत्या का अध्ययन करके इसका सामाजिक आधार पर विश्लेषण किया। धर्म के समाजशास्त्र के रूप में उन्होंने समाजशास्त्र की एक नयी शाखा विकसित की। दुर्खीम के इसी योगदान को स्पष्ट करते हुए **हैरी एल्पर्ट** (Harry Alpert) ने लिखा है, "दुर्खीम यदि समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के विकास के लिए एक वैज्ञानिक और सामाजिक दृष्टिकोण न देते तो सामाजिक व्यवहारों को समझने के लिए एक विचारयुक्त प्रथा तार्किक पद्धति का व्यवस्थित प्रयोग सम्भव नहीं हो पाता।" इस सन्दर्भ में समाजशास्त्र के लिए दुर्खीम के योगदान को संक्षेप में निम्नांकित रूप से समझा जा सकता है—

(1) **समाजशास्त्र में वैज्ञानिक विधि का प्रयोग**—अपनी पुस्तक **'समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम'** में दुर्खीम ने सबसे पहले यह स्पष्ट किया कि सामाजिक घटनाओं के अध्ययन के लिए एक वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग करना आवश्यक है। दुर्खीम से पहले कॉम्ट तथा स्पेन्सर ने भी सामाजिक घटनाओं की विवेचना के लिए वैज्ञानिक पद्धति के प्रयोग पर जोर दिया था लेकिन दुर्खीम ने विभिन्न घटनाओं के कारण और परिणामों को समझने के लिए ऐतिहासिक और प्रयोगात्मक पद्धतियों को उपयुक्त नहीं माना। दुर्खीम ने तुलनात्मक विधि के प्रयोग को सबसे अधिक महत्व दिया। यह वह विधि है जिसके द्वारा समाज में घटित होने वाली विभिन्न घटनाओं की तुलना करके तथा एक घटना से दूसरी घटना के सह-सम्बन्ध को स्थापित करके उनके कारण को जानने का प्रयत्न किया जाता है। **दुर्खीम** ने लिखा है कि इस पद्धति के उपयोग के लिए आवश्यक है कि किसी सामाजिक घटना की व्याख्या उसके सम्पूर्ण सामाजिक परिवेश में की जाये तथा विभिन्न प्रकार के समाजों में किसी सामाजिक घटना का अध्ययन तुलनात्मक आधार पर किया जाये।

(2) **समाजशास्त्र की अध्ययन-वस्तु का निर्धारण : सामाजिक तथ्य**—दुर्खीम वह पहले समाजशास्त्री थे जिन्होंने समाजशास्त्र को एक स्वतन्त्र रूप देने के लिए इसकी अध्ययन-वस्तु का निर्धारण किया। उनके अनुसार समाजशास्त्र की वास्तविक अध्ययन-वस्तु सामाजिक तथ्य हैं। सामाजिक तथ्यों को वैज्ञानिक रूप से अध्ययन करने के लिए **दुर्खीम** ने लिखा कि "पहला और सबसे मौलिक नियम यह है कि सामाजिक तथ्यों पर वस्तु के रूप में विचार किया जाये।" इसका अर्थ है कि जिस प्रकार किसी वस्तु को उसी रूप में देखा जाता है जैसा कि वह वास्तव में है, उसी

NOTES

प्रकार सामाजिक घटनाओं अथवा तथ्यों का भी पक्षपातरहित होकर अवलोकन करना जरूरी है। सामाजिक तथ्यों को परिभाषित करते हुए **दुर्खीम** का कथन है, "सामाजिक तथ्य कार्य करने, विचार करने तथा अनुभव करने के वे तरीके हैं जो व्यक्ति की चेतना से बाहर स्थित होते हैं तथा जिनमें दबाव की इतनी क्षमता होती है कि वे व्यक्ति के व्यवहारों को नियन्त्रित करते रहते हैं।" इस प्रकार सभी नैतिक नियम, सामाजिक मर्यादाएँ, धार्मिक प्रतिमान, वैधानिक, नियम, भाषा और आर्थिक व्यवस्था आदि सामाजिक तथ्यों के उदाहरण हैं। दुर्खीम के अनुसार सामाजिक तथ्यों को इनकी दो प्रमुख विशेषताओं के आधार पर पहचाना जा सकता है—पहली विशेषता यह है कि यह व्यक्ति की चेतना और प्रभाव से बाह्य होते हैं तथा दूसरी विशेषता यह है कि सामाजिक तथ्यों में बाध्यता का गुण होता है। सामाजिक तथ्य व्यक्ति से इसलिए बाह्य हैं कि यह किसी व्यक्ति की इच्छा के आधार पर नहीं बनते बल्कि इनकी उत्पत्ति स्वतन्त्र रूप से होती है। साथ ही यह इतने शक्तिशाली होते हैं कि व्यक्ति इन्हीं के अनुसार एक विशेष ढंग से व्यवहार करने के लिए बाध्य होता है। वास्तविकता यह है कि सामाजिक तथ्यों की प्रकृति सामूहिक होती है तथा इनकी व्यक्तियों की अन्तर्क्रियाओं के फलस्वरूप होती है। इसी कारण यह सामूहिक जीवन की स्थायी विशेषता बनकर व्यक्तियों की आदत के रूप में स्पष्ट होने लगते हैं।

अपनी पुस्तक **'द रूल्स'** के दूसरे अध्याय में दुर्खीम ने उन नियमों की चर्चा की जिनकी सहायता से सामाजिक तथ्यों का वैज्ञानिक ढंग से अवलोकन करके समाजशास्त्र को वैज्ञानिक बनाया जा सकता है। इसके लिए यह पहला नियम यह है कि सामाजिक घटनाओं का यथार्थ रूप से अवलोकन करके वर्गीकरण व तुलना की सहायता से उनकी प्रकृति को समझा जाये। इसके लिए जरूरी है कि हम अपनी पूर्व-धारणाओं से प्रभावित न हों, व्यक्तिगत भावनाओं को कोई महत्व न दें, प्रत्येक सामाजिक तथ्य की बाह्य विशेषताओं को परिभाषित करें, विभिन्न घटनाओं का समुचित रूप से वर्गीकरण करें ताकि उनकी पारस्परिक तुलना करके विभिन्न घटनाओं के कारणों तथा प्रकार्यों को समझने का प्रयत्न करें। पुस्तक के आगामी विवेचन में दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यों को दो भागों में विभाजित किया—**(अ) सामान्य सामाजिक तथ्य,** तथा **(ब) व्याधिकीय सामाजिक तथ्य।** सामान्य सामाजिक तथ्यों का तात्पर्य उन घटनाओं से है जो विभिन्न समाजों में लगभग निश्चित दर से घटित होती रहती हैं तथा जिनकी समाज को संगठित बनाने में एक उपयोगी भूमिका होती है। दुर्खीम ने यह भी स्पष्ट किया कि विभिन्न समाजों में कौन-से सामाजिक तथ्य उपयोगी हैं, इसका निर्धारण वहाँ के मूल्यों तथा सामाजिक संगठन की प्रकृति के अनुसार होता है। इसलिए एक विशेष समाज की विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए ही यह जाना जा सकता है कि किन सामाजिक घटनाओं को सामान्य माना जाय और किन्हें व्याधिकीय।

सामाजिक तथ्यों की वैज्ञानिक विवेचना के लिए दुर्खीम ने तीन नियम बताये। पहला-नियम यह है कि किसी भी सामाजिक तथ्य की व्याख्या करते समय उसके कारण और प्रकार्य दोनों को ही स्पष्ट किया जाये। दूसरा नियम यह है कि किसी

सामाजिक तथ्य का प्रकार्य जानने के लिए यह देखना जरूरी है कि वह किस सीमा तक हमारी सामाजिक जरूरतों को पूरा करता है, व्यक्तिगत आवश्यकताओं को नहीं। इस प्रकार सामाजिक तथ्यों की विवेचना व्यक्तिगत इच्छाओं के सन्दर्भ में नहीं की जानी चाहिए। दुर्खीम के अनुसार सामाजिक तथ्यों की व्याख्या का तीसरा नियम यह है कि सामाजिक घटनाएँ जिन सामाजिक प्रक्रियाओं को जन्म देती हैं, उन प्रक्रियाओं की प्रकृति को एक समाज-विशेष के सामाजिक परिवेश में ही देखना जरूरी है। इसका तात्पर्य है कि सामाजिक बदलाव के कारणों को ऐतिहासिक अथवा उद्विकासीय आधार पर नहीं समझा जा सकता बल्कि इनकी व्याख्या एक विशेष सामाजिक परिवेश के आधार पर ही की जानी चाहिए। इस प्रकार सामाजिक तथ्यों की प्रकृति को विस्तार से स्पष्ट करके दुर्खीम ने समाजशास्त्र की अध्ययन-वस्तु का निर्धारण करने का महत्वपूर्ण कार्य किया।

(3) **अपराध की नयी व्याख्या**—साधारणतया सभी विद्वानों ने अपराध को एक विघटनकारी व्यवहार के रूप में स्पष्ट किया है। दुर्खीम ने बिल्कुल भिन्न विचार देते हुए एक बड़ी सामाजिक समस्या का निदान ढूँढ़ने का प्रयास किया। उन्होंने विस्तार से यह प्रमाणित किया कि अपराध एक सामान्य सामाजिक तथ्य है कि तथा यह एक स्वस्थ समाज का लक्षण है। उन्होंने तर्क दिया कि यह मानना गलत है कि अपराध से सामूहिक जीवन को सदैव हानि होती है। वास्तविकता यह है कि समाज की नैतिकता और उपयोगी कानूनों के विकास में अपराध का विशेष योगदान होता है। किसी समाज में अपराध होते हैं, तब वहाँ की सामूहिक भावना सामाजिक परिवर्तन के लिए तैयार हो जाती है। इसी से समाज में एक नयी नैतिकता का विकास होता है। एक उदाहरण के द्वारा इसे प्रमाणित करते हुए दुर्खीम ने लिखा कि एथेन्स के कानूनों में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को मान्यता नहीं दी गयी थी। इसके बाद भी सुकरात ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर जोर दिया जिसे उस समय अपराध मानकर सुकरात को दण्डित किया गया। कुछ समय पश्चात सुकरात का वही अपराध एथेन्स में एक ऐसी नैतिकता को विकसित करने में बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ जो वैयक्तिक स्वतन्त्रता के पक्ष में थी। अपराध और दण्ड के सम्बन्ध को भी दुर्खीम ने भिन्न प्रकार से स्पष्ट किया। उनके अनुसार अपराध दण्ड व्यवस्था को पैदा नहीं करता बल्कि दण्ड व्यवस्था से अपराध पैदा होते हैं। किसी समाज में दण्ड व्यवस्था जितनी अधिक कठोर होती है, वहाँ अपराधों की दर उतनी ही अधिक हो जाती है। इसका तात्पर्य है कि दण्ड व्यवस्था सामाजिक न्याय तथा क्षतिपूर्ति के नियम पर आधारित होनी चाहिए, दमनकारी कानूनों पर आधारित नहीं। आधुनिक लोकतान्त्रिक समाजों में दुर्खीम के यह विचार बहुत व्यावहारिक तथा उपयोगी सिद्ध हो रहे हैं।

(4) **श्रम-विभाजन का सिद्धान्त**—दुर्खीम से पहले अनेक विद्वानों, जैसे—एडम स्मिथ, स्पेन्सर तथा जॉन स्टुअर्ट मिल ने आर्थिक आधार पर श्रम-विभाजन की विवेचना की थी। इनके विपरीत, दुर्खीम ने श्रम-विभाजन का एक सामाजिक सिद्धान्त प्रस्तुत किया। उनके अनुसार श्रम-विभाजन प्रत्येक युग में सभी समाजों की अनिवार्य विशेषता रही है। वास्तव में, श्रम-विभाजन का सम्बन्ध जनसंख्या के आकार में होने

वाली वृद्धि से है तथा यह एक ऐसी नैतिक दशा है जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक सम्बन्धों की प्रकृति में परिवर्तन होने लगता है। श्रम-विभाजन सामाजिक एकता को बढ़ाने वाला एक प्रमुख आधार है। जिस तरह समाज के नैतिक नियम सामाजिक संगठन में वृद्धि करते हैं, उसी तरह श्रम-विभाजन से भी पारस्परिक सहयोग, पारस्परिक निर्भरता और व्यक्तिगत कार्यकुशलता में वृद्धि होती है। श्रम-विभाजन से समाज में एक ऐसी एकता का विकास होता है जो स्वाभाविक और स्थायी होती है। सामाजिक बदलाव लाने तथा सामाजिक मूल्यों में समय वे अनुकूल परिवर्तन उत्पन्न करने में भी श्रम-विभाजन का महत्वपूर्ण योगदान होता है। इसी के आधार पर उन्होंने यान्त्रिक एवं सावयवी एकता की अवधारणा को प्रस्तुत किया। इस प्रकार दुर्खीम ने श्रम-विभाजन के सामाजिक पक्ष को स्पष्ट करके सामाजिक विचारधारा को एक नया रूप दिया।

(5) **धर्म की समाजशास्त्रीय विवेचना**—अपनी पुस्तक **'धार्मिक जीवन के प्रारम्भिक स्वरूप'** में दुर्खीम ने धर्म की उत्पत्ति तथा सामाजिक प्रकार्यों को सामाजिक आधार पर स्पष्ट करके धर्म की एक नयी विवेचना प्रस्तुत की। उन्होंने प्राकृतिक घटनाओं अथवा आत्मा सम्बन्धी विश्वासों के आधार पर धर्म की उत्पत्ति की आलोचना करते हुए लिखा कि यदि ईश्वर ही धर्म की उत्पत्ति का आधार होता तो धर्म में कभी कोई बदलाव नहीं हो पाता। उन्होंने ऑस्ट्रेलिया की अरुण्टा जनजाति का आनुभाविक अध्ययन करके यह बताया कि धर्म की उत्पत्ति तथा इसके प्रकार्यों को सामाजिक आधार पर ही समझा जा सकता है। वास्तव में, धर्म का सम्बन्ध कुछ वस्तुओं और व्यवहारों को पवित्र मानने से है। विभिन्न अनुष्ठानों, निषेधों तथा विश्वासों के द्वारा पवित्र वस्तुओं से उन वस्तुओं को अलग रखा जाता है जिन्हें हम अपवित्र या साधारण (profane) मानते हैं। पवित्रता की धारणा ही समाज में उसकी सामूहिक चेतना को स्पष्ट करती है। उदाहरण के लिए, अरूण्टा जनजाति में लोग जिस वस्तु को अपना टोटम (totem) मानते हैं, उसे पवित्र समझकर सदैव उसकी रक्षा करते हैं। टोटम उनकी सामूहिक चेतना को स्पष्ट करती है तथा टोटम के आधार पर ही अरूण्टा जनजाति के लोग एक नैतिक बन्धन से बँधे रहते हैं। इसका तात्पर्य है कि "धर्म पवित्र वस्तुओं से सम्बन्धित अनेक विश्वासों और आचरणों की वह व्यवस्था है जो अपने से सम्बन्धित लोगों को एक नैतिक समुदाय से जोड़ती है।" इस तरह धर्म का प्रकार्य समूह की एकता को बढ़ाना तथा अपने मानने वालों को अनुशासित व्यवहार करने की प्रेरणा देकर उनकी सामूहिक चेतना को बढ़ाना होता है। इस प्रकार धर्म एक विभेदकारी तथ्य नहीं है बल्कि सामाजिक संगठन में वृद्धि करने वाला एक प्रमुख आधार है।

(6) **प्रकार्यवाद की नवीन व्याख्या**—दुर्खीम से पहले अनेक मानवशास्त्रियों ने प्रकार्यवाद के आधार पर जनजातीय सामाजिक संगठन की विशेषताओं को स्पष्ट किया था। दुर्खीम ने प्रकार्यवाद को एक ऐसे रूप में स्पष्ट किया जिसे आज तक समाजशास्त्रियों द्वारा महत्वपूर्ण माना जाता है। दुर्खीम से पहले के विद्वान किसी घटना अथवा विशेषता के लक्ष्य तथा उसके उद्देश्यों को स्पष्ट करने के लिए 'प्रकार्य' शब्द का

प्रयोग करते थे। दुर्खीम का यह मानना था कि समाज अथवा सामाजिक घटनाएँ व्यक्तियों की इच्छा से बनती या उत्पन्न नहीं होतीं। इस दृष्टिकोण से 'प्रकार्य' शब्द का प्रयोग प्रभाव के अर्थ में ही किया जा सकता है। इसका अर्थ है कि प्रत्येक सामाजिक घटना का कोई-कोई प्रकार्य अवश्य होता है तथा यही प्रकार्य उसके व्यक्तित्व को बनाये रखता है। इस तरह सामाजिक घटनाओं के प्रकार्यों को समझकर ही उनके वैज्ञानिक रूप को समझा जा सकता है। किसी सामाजिक घटना के प्रकार्य को जानने का सबसे सरल तरीका यह है कि हम यह जान लें कि एक विशेष सामाजिक घटना समाज की सामान्य जरूरतों को किस सीमा तक पूरा करती है। इस प्रकार टोटम का प्रकार्य पवित्रता की धारणा और समुदाय को एक नैतिक बन्धन में बँधना है, जबकि है, जबकि श्रम-विभाजन का प्रकार्य विशेषीकरण को प्रोत्साहित करना तथा सावयवी एकता में वृद्धि करना है। इसी तरह अपराध का प्रकार्य एक नयी नैतिकता को विकसित करना होता है। यहाँ तक कि आत्महत्याएँ भी व्यक्ति की आत्म-अनुभूति की जरूरत को पूरा करती हैं। इस प्रकार प्रकार्यवाद एक ऐसा आधार है जिसकी सहातया से विभिन्न सामाजिक घटनाओं के कारणों और परिणामों की विवेचना की जा सकती है।

(7) **मूल्यों की समाजशास्त्रीय विवेचना** —दुर्खीम ने अपनी पुस्तक 'समाजशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र' में सामाजिक मूल्यों को दर्शनशास्त्र की विषय-वस्तु से अलग करके इनकी सामाजिक प्रकृति को स्पष्ट किया। आपके अनुसार, सामाजिक मूल्यों का जन्म सामूहिक विशेषताओं के आधार पर होता है और प्रत्येक सामाजिक मूल्य एक समुदाय के सामूहिक जीवन की विशेषता को ही स्पष्ट करता है। प्रत्येक समाज में जब कभी भी व्यवहार सम्बन्धी कुछ समस्याएँ पैदा होती हैं तो उनका समाधान करने के लिए कुछ ऐसे आदर्श नियम विकसित हो जाते हैं जो सामूहिक इच्छा का प्रतिनिधित्व करते हैं। यही आदर्श नियम सामाजिक मूल्यों का रूप ले लेते हैं। इस तरह सामाजिक मूल्यों का कार्य समुदाय में लोगों के व्यवहारों को नियमित बनाना तथा सामाजिक संगठन को सुदृढ़ करना होता है। सामूहिक जीवन में जो आदर्श नियम जितना अधिक उपयोगी होता है, उसे उतने ही महत्वपूर्ण सामाजिक सामाजिक मूल्य के रूप में देखा जाने लगता है। इस प्रकार सामाजिक मूल्यों के बीच भी उपयोगिता के आधार पर एक संस्तरण विकसित हो जाता है। दुर्खीम यह मानते हैं कि विभिन्न मूल्यों के आधार पर किसी समुदाय के सामूहिक जीवन की विशेषताओं को भी सरलतापूर्वक समझा जा सकता है।

उपर्युक्त योगदान के अतिरिक्त 'सामूहिक प्रतिनिधान की अवधारणा' को विकसित करना और 'ज्ञान के समाजशास्त्र' के रूप में समाजशास्त्र की एक नयी शाखा की प्रारम्भिक रूपरेखा प्रस्तुत करना भी समाजशास्त्र को दुर्खीम द्वारा दिया जाने वाला एक महत्वपूर्ण योगदान है। इसी योगदान के कारण कुछ विद्वान यहाँ तक मानते हैं कि कॉम्ट यदि समाजशास्त्र के जनक हैं तो दुर्खीम को समाजशास्त्र के पितामह के रूप में देखा जाना चाहिए।

सामाजिक एकता का सिद्धान्त

NOTES

दुर्खीम ने अपनी सबसे पहले प्रकाशित होने वाली पुस्तक **'समाज में श्रम विभाजन'** में यान्त्रिक तथा सावयवी एकता की अवधारणा को विस्तार को स्पष्ट किया। उनका मानना था कि यान्त्रिक और सावयवी एकता दशाएँ सामाजिक संगठन के दो भिन्न स्वरूपों को स्पष्ट करती हैं। दुर्खीम के अनुसार सामाजिक एकता समाज की एक नैतिक जरूरत है तथा जब किसी समाज अथवा समुदाय की आवश्यकताएँ बदलने लगती हैं तो सामाजिक एकता की प्रकृति में भी स्पष्ट परिवर्तन दिखायी देने लगता है। उन्होंने श्रम-विभाजन को एक ऐसे तथ्य के रूप में स्वीकार किया जो एक विशेष प्रकार की सामाजिक एकता को जन्म देता है। इसका अर्थ है कि श्रम-विभाजन के पहले और बाद में जिस सामाजिक एकता के दर्शन होते हैं, उसकी प्रकृति में काफी भिन्नता देखने को मिलती है। बाहरी तौर पर श्रम-विभाजन एक ऐसी दशा है जिसमें विभिन्न लोग अलग-अलग कार्यों के द्वारा अपनी आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। कार्यों के विभाजन के कारण श्रम-विभाजन को अक्सर सामाजिक एकता के विरुद्ध समझ लिया जाता है। वास्तविकता यह है कि श्रम-विभाजन का मुख्य प्रकार्य एक-दूसरे से भिन्न कार्यों को करने वाले व्यक्तियों के जीवन में एकता उत्पन्न करता है क्योंकि एक-दूसरे की सहायता के बिना कोई भी व्यक्ति अपने उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर सकता। सामान्य जीवन में भी हम केवल उन्हीं व्यक्तियों से सम्बन्ध नहीं रखते जो हमारे समान होते हैं बल्कि उन व्यक्तियों से भी हमारे घनिष्ट सम्बन्ध हो सकते हैं जिनके विचार, मनोवृत्तियाँ और कार्य हमसे भिन्न हैं। इस दृष्टिकोण से दुर्खीम ने अपनी उपर्युक्त पुस्तक के प्रथम भाग में सामाजिक एकता की प्रकृति तथा दूसरे भाग में श्रम-विभाजन के विभिन्न पक्षों की विवेचना करके श्रम-विभाजन तथा सामाजिक एकता के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट किया। अत: आवश्यक है कि दुर्खीम के द्वारा प्रस्तुत सामाजिक एकता के सिद्धान्त को समझने के लिए सामाजिक एकता की अवधारणा के साथ यान्त्रिक एकता एवं सावयवी एकता की प्रकृति को स्पष्ट किया जाये।

सामाजिक एकता की अवधारणा

सभी विद्वान किसी-न-किसी रूप में सामाजिक एकता को सामाजिक जीवन की एक अनिवार्य विशेषता के रूप में स्वीकार करते हैं लेकिन दुर्खीम ने एक व्यवस्थित और तार्किक आधार पर सामाजिक एकता को एक ऐसे आधार के रूप में स्वीकार किया जिसकी प्रकृति के अनुसार ही विभिन्न समाजों की प्रकृति को समझा जा सकता है। दुर्खीम का विचार है कि समाज का विकास व्यक्तियों पर आधारित नहीं होता बल्कि व्यक्ति उस सामाजिक एकता के अधीन होते हैं जो समाज को संचालित तथा नियन्त्रित करती है। इसका तात्पर्य हैं क समाज का वास्तविक अस्तित्व उस सामूहिक चेतना में होता है जिसके आधार पर समाज में एक विशेष प्रकार की एकता विकसित होती है। एकता समाज की एक नैतिक आवश्यकता है। जैसे-जैसे सामाजिक जीवन की जरूरतों में परिवर्तन होता है, सामाजिक एकता की प्रकृति में भी परिवर्तन होने लगता है। इस प्रकार सामाजिक एकता एक परिवर्तनशील दशा है। विभिन्न समाजों में होने वाले परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुए दुर्खीम ने बताया कि **सामाजिक एकता में होने वाला परिवर्तन यान्त्रिक एकता से सावयवी**

एकता की ओर होता है। यह सामाजिक एकता लोगों की सामूहिक चेतना से सम्बन्धित होती है। सामाजिक चेतना के अर्थ को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा कि सामूहिक चेतना एक ऐसा तथ्य है जो किसी समाज में लोगों की सांस्कृतिक, नैतिक और बौद्धिक समानताओं से उत्पन्न होती है। यह सच है कि सामूहिक चेतना का माध्यम व्यक्ति है लेकिन सामूहिक चेतना की प्रकृति व्यक्तिगत चेतना से भी भिन्न होती है। आदिम समाजों से लेकर आज तक कोई भी समाज ऐसा नहीं मिलेगा जिसमें सामाजिक एकता का एक विशेष रूप न पाया जाता रहा हो। इसका कारण यह है कि सामाजिक एकता के बिना न तो लोगों के बीच व्यवस्थित सम्बन्धों का विकास हो सकता है और न ही उनकी जरूरतें पूरी हो सकती हैं। इससे स्पष्ट होता है कि सामाजिक एकता एक ऐसा तथ्य है जिसका सामूहिक चेतना से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।

दुर्खीम ने आदिम समाजों का उदाहरण देते हुए बताया कि इन समाजों में व्यक्तियों में बहुत अधिक समानताएँ होने के कारण उनमें सामूहिक चेतना बहुत विकसित रूप में देखने को मिलती है। इसका अर्थ है कि समाज में विभिन्न व्यक्तियों और समूहों के बीच समानताएँ जितनी बढ़ती हैं, सामूहिक चेतना का रूप उतना ही स्पष्ट और शक्तिशाली होता जाता है। आदिम समाजों में समुदाय की एकता सामुदायिकता की भावना पर ही आधारित होती है। इस प्रकार साधारण शब्दों में, सामुदायिकता की भावना को ही सामूहिक चेतना का दूसरा रूप कहा जा सकता है। दुर्खीम ने स्वीकार किया कि सामाजिक एकता को बनाये रखने के लिए समाज में नियन्त्रण की जिस व्यवस्था को लागू किया जाता है, उसे भी सामूहिक चेतना से अलग करके नहीं समझा जा सकता।

सामाजिक एकता की प्रकृति में होने वाले परिवर्तन को भी दुर्खीम ने सामूहिक चेतना की प्रकृति में होने वाले परिवर्तन के आधार पर स्पष्ट किया। उन्होंने उदाहरण दिया कि जब किसी समुदाय में सामूहिक चेतना बहुत शक्तिशाली होती है तो वहाँ अपनी एकता को लोग एक नैतिक तथ्य के रूप में स्वीकार करने लगते हैं। इसी कारण ऐसे समाजों में दमनकारी कानून लागू किये जाते हैं। यह वे कानून हैं जिनके द्वारा व्यक्तिगत की जगह सामूहिक हितों पर अधिक ध्यान दिया जाता है। जो लोग सार्वजनिक हितों को आघात पहुँचाते हैं, उन्हें शारीरिक यातना अथवा हत्या के रूप में कठोर दण्ड दिया जाता है। ऐसे कानूनों का आधार समूह की नैतिकता होती है, चाहे वह क्रूर हो अथवा कष्टकारी। यदि किसी समाज में लोगों के बीच एक ऐसी एकता विकसित होने लगती है जिसमें सामूहिक चेतना तुलनात्मक रूप से कम पायी जाती हो तो वहाँ प्रतिकारी कानून अथवा क्षतिपूर्ति करने वाले कानूनों के द्वारा लोगों के पारस्परिक सम्बन्धों में सन्तुलन प्रभावपूर्ण बनाया जाता है। दुर्खीम के अनुसार आदिम और सरल समाजों में जब श्रम-विभाजन का बहुत सरल रूप विद्यमान था, तब उनकी सामूहिक चेतना बहुत विकसित थी। इसी कारण इन समाजों में दमनकारी कानूनों पर आधारित सामाजिक एकता की प्रधानता थी। इसके बाद जैसे-जैसे श्रम-विभाजन का रूप जटिल और व्यापक होता गया, सामूहिक चेतना कमजोर पड़ जाने के कारण प्रतिकारी कानूनों पर आधारित सामाजिक एकता में वृद्धि होने लगी। इस प्रकार सामाजिक एकता को श्रम-विभाजन, सामूहिक चेतना की प्रकृति तथा नियन्त्रण की व्यवस्था से अलग करके नहीं समझा जा सकता।

यान्त्रिक एकता

NOTES

दुर्खीम के अनुसार सामाजिक एकता का पहला मुख्य स्वरूप यान्त्रिक एकता है। यह वह एकता है जो आदिम, सरल तथा परम्परागत समाजों में पायी जाती है। यान्त्रिक एकता को दुर्खीम ने **'समानता की एकता'** कहा है। इसका तात्पर्य है कि किन समाजों में लोगों के विचारों, विश्वासों, जीवन-शैली, नैतिकता और भूमिका में काफी कुछ समानता होती है, वहाँ सभी लोग एक ऐसी सामूहिक चेतना को बनाये रखने का प्रयास करते हैं जिस पर धार्मिक नियमों, परम्पराओं और जनमत का प्रभाव होता है। ऐसी सामूहिक चेतना के द्वारा जिस एकता का विकास होता है, प्रत्येक व्यक्ति को उसी के अनुसार विचार करना और कार्य करना जरूरी होता है। दुर्खीम ने इसे 'यान्त्रिक एकता' इस कारण कहा कि **इसके अन्तर्गत व्यक्ति एक मशीन की तरह बिना अपनी इच्छा पर ध्यान दिये कार्य करता रहता है।** इस प्रकार जो समाज जितना अधिक समरूप होता है, उसमें यान्त्रिक एकता उतनी ही अधिक पायी जाती है।

आदिम समाजों में यान्त्रिक एकता की प्रकृति को स्पष्ट करते हुए दुर्खीम ने लिखा कि ये समाज आकार में बहुत छोटे थे। इन समाजों में सदस्यों की आवश्यकताएँ बहुत कम थीं। सभी सदस्यों के कार्यों तथा विचारों में समरूपता पायी जाती थी। समाज में श्रम-विभाजन भी केवल आयु और लिंग पर आधारित था। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए दूसरे व्यक्तियों पर निर्भर रहता था। धार्मिक विश्वास, परम्पराएँ तथा जनमत लोगों के व्यवहारों को नियन्त्रित करने का सबसे प्रभावशाली साधन थे। यह एक ऐसी एकता थी जिसमें दमनकारी कानूनों और कठोर दण्ड के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को सामूहिक जीवन के विरुद्ध कोई भी कार्य करने से रोक दिया जाता था। अपराध का तात्पर्य उन कार्यों से समझा जाता था जो समूह की नैतिकता के विरुद्ध हों। जब व्यक्ति कोई अपराध करता था तो समूह के सभी लोग दण्ड के रूप में उससे बदला लेने की बात सोचते थे। यह दशा समूह के सभी सदस्यों के बीच मानसिक एकता में वृद्धि करने लगती है। स्पष्ट है कि आदिम समाजों में सामाजिक चेतना का एक उच्च स्तर देखने को मिलता था। इसी सामूहिक चेतना से जिस सामाजिक एकता का विकास हुआ, उसी को दुर्खीम के अनुसार यान्त्रिक एकता कहा जाता है। यान्त्रिक एकता की प्रमुख विशेषताओं को संक्षेप में निम्नांकित रूप से समझा जा सकता है—

(1) **समाज में समरूपता**—यान्त्रिक एकता की पहली विशेषता यह है कि इसका सबसे स्पष्ट रूप केवल उन्हीं समाजों में देखने को मिलता है जो अपनी प्रकृति से समरूप होते हैं। समरूप समाज वे हैं जिनमें व्यक्तियों के विचारों, विश्वासों, नैतिकता और जीवन-शैली में काफी समानता होती है। इन समाजों में सभी व्यक्ति समान प्रकार के सामाजिक मूल्यों में हिस्सा लेते हैं तथा उनके संवेगों में भी बहुत कुछ समानता देखने को मिलती है।

(2) **सामाजिक संस्तरण का अभाव**—दुर्खीम के अनुसार यान्त्रिक एकता वाले समाजों को एकीकृत अथवा अखण्डित समाज कहा जा सकता है। इसका तात्पर्य है कि ये वे समाज हैं जिनमें सदस्यों को विभिन्न खण्डों में विभाजित करने वाली कोई

निश्चित व्यवस्था नहीं होती। सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक और आधार पर सभी व्यक्तियों की प्रस्थिति और भूमिका लगभग समान होती है। जब सम्पूर्ण समाज एकीकृत इकाई के रूप में कार्य करता है तो किसी भी व्यक्ति को अपने समूह के नियमों से भिन्न व्यवहार करने की अनुमति नहीं मिलती। यही दशाएँ यान्त्रिक एकता में वृद्धि करती हैं।

(3) **सामूहिक चेतना की प्रधानता**—दुर्खीम के अनुसार यान्त्रिक एकता तथा सामाजिक चेतना के बीच एक घनिष्ठ और पारस्परिक सम्बन्ध है। जिन समाजों में यान्त्रिक एकता पायी जाती है, उनमें सामूहिक चेतना बहुत शक्तिशाली होती है। सामूहिक चेतना के रूप में व्यवहार के जिन तरीकों, नियमों तथा विश्वासों को मान्यता दी जाती है, कोई भी व्यक्ति उनके विरुद्ध कार्य या व्यवहार नहीं कर सकता। यहीं पर दुर्खीम ने सामूहिक चेतना और व्यक्तिगत चेतना के अन्तर को स्पष्ट करते हुए यह बताया कि यान्त्रिक एकता की दशा में व्यक्ति की इच्छा पर आधारित चेतना का कोई महत्व नहीं होता। **दुर्खीम** के शब्दों में, "आदिम समाजों में सामूहिक चेतना इतने स्पष्ट और प्रबल रूप में होती है कि यह अपने सदस्यों के बीच विचारों की भिन्नता और विवादों को स्वयं ही समाप्त कर देती है।" इससे स्पष्ट होता है कि यान्त्रिक एकता से सामूहिक चेतना शक्तिशाली बनती है, जबकि सामूहिक चेतना यान्त्रिक एकता को प्रभावपूर्ण बनाती है।

(4) **जनमत की शक्ति**—यान्त्रिक एकता वाले समाजों में प्रत्येक व्यक्ति को जनमत के अनुसार कार्य करना आवश्यक होता है। ऐसे जनमत की प्रकृति औपचारिक नहीं होती बल्कि अनौपचारिक रूप से समूह द्वारा जो निर्णय लिये जाते हैं, वही आदिम समाजों में जनमत की आधारशिला होते हैं। यह जनमत चाहे सहयोग और प्रेम पर आधारित हो अथवा घृणा और हिंसा पर, उसी के अनुसार व्यवहार करना व्यक्ति का नैतिक कर्त्तव्य होता है। इस नैतिकता का उल्लंघन करने वाले व्यक्ति को सामाजिक एकता के विरुद्ध मानकर समूह के सभी लोग उससे प्रतिशोध लेने का प्रयास करते हैं।

(5) **व्यक्तिवादिता में कमी**—यान्त्रिक एकता एक ऐसी दशा को स्पष्ट करती है जिसमें सामूहिकता तथा व्यक्तिवादिता के बीच विरोधी सम्बन्ध होता है। इसका तात्पर्य है कि किसी समाज में जैसे-जैसे यान्त्रिक एकता बढ़ती जाती है, उस समाज में व्यक्तिवाद का प्रभाव कम होने लगता है। व्यक्तिवाद का आधार व्यक्तिगत इच्छा और व्यक्तिगत हितों को सन्तुष्ट करना है। इसके विपरीत, जब यान्त्रिक एकता प्रभाव बढ़ता है तो वैयक्तिक इच्छाएँ सामूहिक चेतना अथवा समूह की इच्छाओं में समाहित हो जाती है।

(6) **अपराध की सामाजिक प्रकृति**—दुर्खीम ने यह स्पष्ट किया कि यान्त्रिक एकता एक ऐसी दशा है जिसमें अपराध को समूह की भावनाओं पर आघात करने वाला कार्य माना जाता है। इसका तात्पर्य है कि कोई व्यक्ति समूह के नैतिक नियमों, आदेशों या विश्वासों के विरुद्ध कार्य करता है तो सभी सदस्यों द्वारा उसे समूह के

विरुद्ध मानकर उससे प्रतिशोध लेने का प्रयत्न किया जाता है। समूह में अपराध न हों, इसके लिए प्रत्येक व्यक्ति दूसरे प्रत्येक व्यक्ति के व्यवहारों पर निगाह रखता है। फलस्वरूप कोई भी व्यक्ति अपराध की दशा में दण्ड से बच नहीं पाता। यह दशा की भी यान्त्रिक एकता को प्रभावपूर्ण बनाती है।

NOTES

इन सभी विशेषताओं के द्वारा दुर्खीम ने यह स्पष्ट किया कि यान्त्रिक एकता मुख्यत: आदिम तथा सरल समाजों की एक प्रमुख विशेषता रही है। आज भी जिन समुदायों का जीवन सरल और परम्परागत है, उनमें यान्त्रिक एकता से सम्बन्धित इन सभी विशेषताओं को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

सावयवी एकता

दुर्खीम के अनुसार सामाजिक एकता का दूसरा रूप सावयवी एकता है जो वर्तमान, जटिल तथा औद्योगिक समाजों की विशेषता है। दुर्खीम से पहले हरबर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) ने समाज की संरचना और प्राणी सावयव के बीच अनेक समानताओं का उल्लेख किया था। उन्होंने स्पष्ट किया था कि जिस तरह शरीर का निर्माण अनेक अंगों से होता है, उसी तरह समाज के निर्माण में भी अनेक इकाइयों का योगदान होता है। जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंग एक-दूसरे से भिन्न-भिन्न कार्य करने के पश्चात् भी एक-दूसरे से सम्बन्धित और एक-दूसरे पर निर्भर होते हैं, उसी प्रकार समाज का निर्माण करने वाली विभिन्न इकाइयाँ भी अलग-अलग प्रकार्य करने के पश्चात् भी एक-दूसरे की पूरक होती हैं। यह एक ऐसी एकता है जिसे सावयवी एकता कहा जा सकता है। दुर्खीम ने स्पेन्सर से 'सावयवी एकता' शब्द ग्रहण करने के बाद भी यह बताया कि सभी समाजों की संरचना को सावयवी संरचना नहीं कहा जा सकता। सावयवी संरचना और सावयवी एकता की दशा केवल आधुनिक समाजों की विशेषता है जिनमें श्रम-विभाजन और विशेषीकरण के कारण विभिन्न व्यक्ति एक-दूसरे से भिन्न कार्य करने के बाद भी अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं। **दुर्खीम** के अनुसार, **आधुनिक समाजों में जैसे-जैसे कार्यों की विभिन्नता, विशेषीकरण तथा व्यक्तिवाद में वृद्धि होने लगी, उनकी संरचना सावयवी रूप ग्रहण करने लगी।**

सामाजिक विकास के क्रम का उल्लेख करते हुए दुर्खीम ने लिखा है कि जब जनसंख्या वृद्धि के कारण समाजों का आकार बढ़ने लगा तो बढ़ी हुई जरूरतों को पूरा करने के लिए बड़ी मात्रा में उत्पादन शुरू किया गया। इससे समाज में श्रम-विभाजन और विशेषीकरण का महत्व बढ़ने लगा। अपने अलग-अलग हितों के कारण व्यक्तियों के विचारों, मनोवृत्तियों और कार्य के ढंगों में भी एक स्पष्ट भिन्नता उत्पन्न हो गयी। इस प्रकार सरल समाजों में जहाँ सामूहिक चेतना की प्रधानता थी, वहीं आधुनिक समाजों में वैयक्तिक चेतना का महत्व बढ़ने लगा। श्रम-विभाजन से लोग एक-दूसरे से भिन्न कार्य अवश्य करने लगे लेकिन प्रत्येक व्यक्ति दूसरा एक विशेष कार्य करने के कारण उन्हें अपनी दूसरी जरूरतों को पूरा करने के लिए अन्य व्यक्तियों पर निर्भर रहना अनिवार्य हो गया। इस प्रकार समाज में एक हित-प्रधान सहयोग में वृद्धि हुई। दुर्खीम के अनुसार यही सावयवी एकता की दशा है। ऐसी एकता के लिए 'सावयवी एकता' इसलिए एक उपयुक्त शब्द है कि इस तरह एक सावयव

के विभिन्न अंग भिन्न-भिन्न कार्य करने के बाद भी अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए सम्पूर्ण शरीर अथवा सावयव से जुड़े रहते हैं, उसी तरह वर्तमान जटिल समाजों में भी व्यक्ति एक-दूसरे को सहयोग दिये बिना अपनी आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकते। इस प्रकार **दुर्खीम ने सावयवी एकता को श्रम विभाजन के एक आवश्यक परिणाम के रूप में स्पष्ट किया।**

श्रम-विभाजन किस प्रकार सावयवी एकता में वृद्धि करता है ? इसे दुर्खीम ने अनेक दशाओं के द्वारा स्पष्ट किया। सर्वप्रथम, श्रम-विभाजन में वृद्धि होने से विशेषीकरण में भी वृद्धि होती है ? इसका अर्थ है कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा लम्बे समय तक एक विशेष कार्य करते रहने के कारण वे केवल उसी क्षेत्र में कुशलता अर्जित कर पाते हैं। स्वाभाविक है कि अपनी दूसरी आवश्यताओं को पूरा करने के लिए वे अन्य व्यक्तियों पर निर्भर हो जाते हैं। दूसरे, कार्यों के विभाजन से लोगों में व्यक्तिवादी भावनाओं का विकास होने लगता है। अपने हितों को पूरा करने के लिए समाज विभिन्न वर्गों में विभाजित होने लगता है। प्रत्येक वर्ग के सदस्यों के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वे अपने वर्ग के दूसरे सदस्यों को सहयोग देकर अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनायें। तीसरे, श्रम-विभाजन से लोगों के बीच तार्किक सम्बन्धों में वृद्धि होती है जो सावयवी एकता में वृद्धि करते हैं। चौथे, प्रतियोगिता में होने वाली वृद्धि भी श्रम-विभाजन का ही एक आवश्यक परिणाम है। समाज में जैसे-जैसे प्रतियोगिता बढ़ती है, समान कार्य में लगे हुए व्यक्तियों को एक-दूसरे को सहयोग देना आवश्यक हो जाता है। अन्त में, श्रम-विभाजन अस्तित्व के लिए संघर्ष की दशाएँ पैदा करके भी एक ऐसी एकता की अनिवार्यता को स्पष्ट करता है जिसे सावयवी एकता कहा जा सकता है। इस प्रकार दुर्खीम ने सावयवी एकता की अवधारणा को जिन विशेषताओं के आधार पर स्पष्ट किया, उन्हें निम्नांकित रूप से समझा जा सकता है—

(1) **व्यक्तिगत असमानताओं में वृद्धि**—यान्त्रिक एकता की मुख्य विशेषता जहाँ समानता है, वहीं सावयवी एकता की दशा में व्यक्तिगत असमानताओं में तेजी से वृद्धि होने लगती है। **दुर्खीम** ने लिखा है, "जहाँ एक ओर आदिम समाजों में लोगों की समानताओं से यान्त्रिक एकता का विकास होता है, वहीं आधुनिक समाजों के विभेदों के कारण सावयवी एकता विकसित होती है।" इसका अर्थ है कि जैसे-जैसे यान्त्रिक एकता दुर्बल पड़ने लगती है, उद्योगों से सम्बन्धित तरह-तरह के क्रियाकलापों में वृद्धि होने से लोगों के विचारों, कार्य करने के ढंगों और जीवन-शैली में एक स्पष्ट भिन्नता पैदा होने लगती है। इससे समाज विभिन्न प्रस्थितियों वाले समूहों में विभाजित होने लगता है। सामाजिक विभेदीकरण में जितनी ज्यादा वृद्धि होती है, यान्त्रिक एकता की जगह सावयवी एकता का महत्व बढ़ने लगता है।

(2) **विशेषीकरण**—सावयवी एकता की एक प्रमुख विशेषता समाज में विशेषीकरण वृद्धि होना है। **दुर्खीम** के शब्दों में, "श्रम-विभाजन के अन्तर्गत व्यक्ति पीढ़ी-दर-पीढ़ी एक ही कार्य करते रहने से अपने काम में कहीं अधिक कुशल हो जाते हैं जिससे विशेषीकरण की प्रक्रिया में वृद्धि होती है।" उदाहरण के लिए, उद्योग, व्यवसाय, शिक्षा, टेक्नोलॉजी तथा दूसरे क्षेत्रों में व्यक्ति केवल वही कार्य करता है जिसके लिए वह सबसे अधिक कुशल होता है। संरचनात्मक आधार पर भी कानूनों को बनाने,

कानूनों को लागू करने तथा न्याय देने का कार्य अलग-अलग संगठनों द्वारा किया जाने लगता है। इसके पश्चात भी ऐसे सभी कार्यों में लगे हुए लोग एक व्यवस्था से सम्बन्धित रहते हैं तथा एक-दूसरे को सहयोग देते हैं।

NOTES

(3) **हित-प्रधान निर्भरता**—सावयवी एकता का सम्बन्ध श्रम-विभाजन तथा विशेषीकरण से होने का यह अर्थ नहीं है कि विभिन्न व्यक्ति आवश्यक रूप से एक-दूसरे से विरोध करने लगें। अपनी विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सभी लोग एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं और इसी कारण एक-दूसरे को सहयोग देते रहते हैं। इसके बाद भी यह एक हित-प्रधान एकता होती है जिसका आधार सहयोग के द्वारा अपने स्वार्थों को पूरा करना होता है।

(4) **जटिलता में वृद्धि**—दुर्खीम ने स्पष्ट किया कि यान्त्रिक एकता वाले समाजों की प्रकृति तुलनात्मक रूप से कहीं अधिक जटिल होती है। एक ओर इन समाजों में व्यक्तियों की जरूरतें बहुत अधिक होने के कारण उद्योगों में वृद्धि होने लगती है तो दूसरी ओर, ऐसे संगठनों को प्रोत्साहन मिलने लगता है जिनकी प्रकृति औपचारिक होती है। इसके फलस्वरूप सावयवी एकता वाले समाजों की संरचना जटिल होने लगती है। सावयवी एकता को बनाये रखने के लिए जैसे-जैसे राज्य के कानूनों का विस्तार होता है, इस जटिलता में और अधिक वृद्धि होती जाती है।

(5) **सामूहिक चेतना में कमी—दुर्खीम** का कथन है कि सावयवी एकता तथा सामूहिक चेतना के बीच एक विपरीत सम्बन्ध होता है। इसका अर्थ है कि किसी समाज में जैसे-जैसे सावयवी एकता बढ़ती जाती है, वहाँ सामूहिक चेतना का प्रभाव कम होता जाता है। इसका कारण यह है कि दिशा में व्यक्ति अपने आपको सामूहिक सामूहिक इच्छा के अधीन नहीं समझता बल्कि उन कार्यों और व्यवहारों को अधिक महत्व देने लगता है जो उसके लिए अधिक लाभप्रद हों। इस तरह जैसे-जैसे व्यक्ति पर समूह का दबाव कम होता जाता है, वह सामूहिक चेतना की जगह व्यक्तिगत चेतना से अधिक प्रभावित होने लगता है।

(6) **संविदात्मक सम्बन्धों का महत्व**—सावयवी एकता के द्वारा भी सम्बन्धों को व्यवस्थित बनाने और सामाजिक संगठन को मजबूत करने का प्रयास किया जाता है लेकिन ऐसी एकता मुख्यत: संविदात्मक सम्बन्धों पर आधारित होती है। इसका तात्पर्य है कि विभिन्न व्यक्तियों एवं समूहों के पारस्परिक सम्बन्ध कानूनों के द्वारा परिभाषित होते हैं। व्यक्ति एक-दूसरे से उतने ही सम्बन्ध स्थापित करते हैं जिनकी सहायता से कानूनी शर्तों को पूरा किया जा सके। इस प्रकार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में समझौतों को महत्व बढ़ने लगता है। यही कारण है कि सावयवी एकता की दशा में समूह की नैतिकता की जगह व्यक्तिवादी नैतिकता का महत्व बढ़ने लगता है।

(7) **प्रतिकारी कानूनों की प्रधानता**—दुर्खीम ने स्पष्ट किया कि सावयवी एकता की दशा में सामूहिक इच्छा की तुलना में व्यक्तिगत इच्छाओं को महत्व अधिक हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप अपराध को सामूहिक जीवन के विरुद्ध किया जाने वाला कार्य न मानकर उसे व्यक्ति के विरुद्ध किया जाने वाला कार्य समझा जाने लगता

है। इस आधार पर सामाजिक नियन्त्रण के लिए ऐसे नियम तथा कानून बनाये जाने लगते हैं जिनके द्वारा अपराध के कारण व्यक्ति को होने वाली क्षति को पूरा किया जा सके। इन कानूनों को समूह के सदस्य लागू नहीं करते बल्कि इन्हें औपचारिक संस्थाओं, जैसे—न्यायालय, पंच, पुलिस तथा प्रशासन द्वारा लागू किया जाता है। इस प्रकार सावयवी एकता की दशा में सामाजिक नियन्त्रण का रूप यान्त्रिक एकता से भिन्न होता है।

यान्त्रिक तथा सावयवी एकता की प्रकृति को नष्ट करने के बाद **दुर्खीम** ने यह निष्कर्ष दिया कि "यह एक ऐतिहासिक नियम है कि यान्त्रिक एकता जो समाज में पहले स्थापित होती है, धीरे-धीरे कमजोर पड़ती जाती तथा उसके स्थान पर सावयवी एकता का प्रभाव बढ़ने लगता है। जब व्यक्तियों के बीच पायी जाने वाली एकता की प्रकृति परिवर्तित है तो विभिन्न समाजों की संरचना में भी बदलाव होने लगता है। जिस प्रकार एक सावयव का रूप भी बदल जाता है, उसी तरह सामाजिक एकता की बदलती हुई प्रकृति समाज की संरचना को भी बदल देती है।" इस प्रकार दुर्खीम ने सामाजिक एकता की प्रकृति में होने वाली परिवर्तन के आधार पर ही सामाजिक विकास की प्रकृति को स्पष्ट किया।

यान्त्रिक तथा सावयवी एकता में अन्तर

दुर्खीम ने समाज के विकास क्रम में यान्त्रिक एकता को आरम्भिक दशा तथा सावयवी एकता को वर्तमान समाजों की विशेषता के रूप में स्पष्ट किया है। यान्त्रिक एकता का आधार जहाँ सामूहिक चेतना है, वहीं सावयवी एकता वर्तमान समाजों में श्रम-विभाजन का परिणाम है। अनेक आधारों पर दुर्खीम ने यान्त्रिक तथा सावयवी एकता के बीच जिन भिन्नताओं का उल्लेख किया, उन्हें निम्नांकित रूप से समझा जा सकता है—

यान्त्रिक एकता	सावयवी एकता
1. यान्त्रिक एकता आदिम, सरल और प्राचीन समाजों में पायी जाती है जहाँ का जीवन परम्परागत होता है।	1. सावयवी एकता आधुनिक समाजों की विशेषता है जिनमें श्रम-विभाजन और विशेषीकरण का एक विकसित रूप पाया जाता है।
2. यान्त्रिक एकता समरूप समाजों की विशेषता है। ऐसे समाजों में लोगों की सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा आर्थिक विशेषताएँ बहुत कुछ समान होती हैं।	2. सावयवी एकता का सम्बन्ध विभिन्नतायुक्त समाजों से है। ऐसे समाज स्तरीकृत होते हैं और सभी लोगों के सामाजिक-आर्थिक जीवन में भारी विषमता देखने को मिलती है।
3. सामूहिक नैतिकता यान्त्रिक एकता की एक अनिवार्य दशा है। यह वह नैतिकता है जिसमें सामूहिक जीवन के सामने वैयक्तिक जीवन का कोई महत्व नहीं होता।	3. ऐसी एकता में व्यक्तिवादी नैतिकता का प्रभाव कहीं अधिक होता है। इसमें सामूहिक इच्छा के स्थान पर व्यक्तिगत इच्छा की प्रधानता होती है। व्यक्ति समूह में उतना ही सहभाग करता है जो उसके लिए लाभप्रद हो।

NOTES

4. इसके अन्तर्गत व्यक्तियों के विचार, व्यवहार तथा प्रवृत्तियाँ सामूहिक जीवन के अधीन होती हैं। सामूहिक जीवन से भिन्न विचारों तथा व्यवहारों को अपराध के रूप में देखा जाता है।	4. सावयवी एकता की दशा में विचारों की भिन्नता और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अधिक महत्व होता है। सामूहिक जीवन से भिन्न व्यवहारों को अपराध के रूप में नहीं देखा जाता।
5. स्पष्ट है कि यान्त्रिक एकता में सामूहिक चेतना का रूप बहुत दृढ़ होता है।	5. सावयवी एकता की स्थिति में सामूहिक चेतना व्यक्तिगत चेतना के रूप में बिखरने लगती है।
6. ऐसी एकता की दशा में श्रम-विभाजन का कोई स्पष्ट रूप विद्यमान नहीं होता। स्त्री तथा पुरुषों के बीच केवल आयु तथा लिंग के आधार पर ही कार्यों का एक सामान्य विभाजन पाया जाता है।	6. श्रम-विभाजन जीवन के प्रत्येक क्षेत्र की एक अनिवार्य विशेषता बन जाती है। ऐसे श्रम-विभाजन का आधार आयु अथवा लिंग न होकर वैयक्तिक कुशलता है। श्रम-विभाजन के कारण ही सभी व्यक्ति अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए दूसरों पर निर्भर रहते हैं।
7. यान्त्रिक एकता में व्यक्तिवादिता का अभाव होता है। प्रत्येक कार्य को करते समय व्यक्ति के लिए सम्पूर्ण समूह के हित को ध्यान में रखना आवश्यक है।	7. सावयवी एकता में सामूहिक हितों की जगह व्यक्तिगत हितों को अधिक महत्व दिया जाता है। इसी कारण इसे 'हित-प्रधान एकता' कहा जाता है।
8. यान्त्रिक एकता के अन्तर्गत समाज का रूप एकीकृत और अ-विभेदीकृत होता है। संस्कृति, सम्पत्ति, धर्म, भाषा तथा मनोवृत्तियों के आधार पर समाज को विभिन्न खण्डों में विभाजित नहीं किया जा सकता।	8. सावयवी एकता के अन्तर्गत मिश्रित एवं बहुखण्डीय समाजों का निर्माण होता है। ये वे समाज हैं जिन्हें विभिन्न वर्गों में विभाजित किया जा सकता है तथा जिनके निर्माण में एक-दूसरे से भिन्न विशेषताओं वाले अनेक खण्डों का योगदान होता है।
9. यान्त्रिक एकता में व्यक्ति का अपना कोई पृथक् व्यक्तित्व नहीं होता। व्यक्ति को मिलने वाली परिस्थिति भी उसे समाज द्वारा ही प्रदान की जाती है।	9. सावयवी एकता के अन्तर्गत वैयक्तिक योग्यता और कुशलता के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व एक-दूसरे से भिन्न होता है। सामाजिक-आर्थिक प्रतिस्थिति को भी व्यक्ति अपने प्रयासों से स्वयं अर्जित करता है।
10. यह एक ऐसी एकता है जो परम्पराओं को यन्त्रवत् दोहराने संरचना में किसी तरह के परिवर्तन की अनुमति नहीं देती।	10. इसके अनतर्गत विशेष योग्यता रखने वाले विभिन्न समूह एक दूसरे से तालमेल रखते हुए उन कार्यों को अधिक महत्व देते हैं जो समय की आवश्यकता के अनुकूल हों तथा लोगों की कार्य-कुशलता में वृद्धि कर सकें।

NOTES

11. यान्त्रिक एकता के अन्तर्गत व्यक्तियों के सम्बन्धों का निर्धारण परम्पराओं के आधार पर होता है। हाथ प्रत्येक व्यक्ति को बिना किसी शर्त के सभी को सहयोग देना जरूरी होता है।	11. इसके अन्तर्गत संविदात्मक सम्बन्ध अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। पारस्परिक सहयोग के लिए व्यक्ति दूसरों से उतरने ही सम्बन्ध स्थापित करते हैं जो उनके द्वारा किये गये समझौते के अन्तर्गत आते हों।
12. यान्त्रिक एकता का एक प्रमुख आधार दमनकारी कानून हैं। इनका उद्देश्य कठोर दण्ड के द्वारा अपराधी से इस तरह प्रतिशोध लेना है जिससे समूह को सन्तुष्ट किया जा सके।	12. सावयवी एकता प्रतिकारी कानूनों को अधिक महत्व देती है। इनका उदेश्य अपराध से व्यक्ति को होने वाली क्षति को पूरा करना हैं ऐसे कानूनों को औपचारिक संस्थाओं द्वारा लागू किया

अध्याय का संक्षिप्त सार

सामाजिक एकता के सिद्धान्त के द्वारा दुर्खीम ने यह स्पष्ट किया है कि सामाजिक विकास के प्रत्येक चरण में सामाजिक एकता हमेशा विद्यमान रहने वाली एक विशेषता है यद्यपि परिस्थितियों में बदलाव होने के साथ ही इसके रूप में भी परिवर्तन होता रहता है। सामाजिक एकता में होने वाला यह परिवर्तन यान्त्रिक एकता से सावयवी एकता की दशा में होता है तथा इसी के आधार पर सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को समझा जा सकता है। प्रारम्भिक समाजों का आकार छोटा होने तथा परम्पराओं का प्रभाव अधिक होने के कारण उनमें श्रम-विभाजन और विशेषीकरण का अभाव था। इसके परिणामस्वरूप एक ऐसी यान्त्रिक एकता विकसित हुई जिसमें व्यक्ति का जीवन सामूहिक चेतना के अधीन था तथा व्यक्ति एक मशीन तरह सामूहिक इच्छा के अनुसार ही सभी कार्य करता रहता था। जैसे-जैसे जनसंख्या में वृद्धि होने के कारण लोगों की आवश्यकताएँ बढ़ीं, श्रम-विभाजन और विशेषीकरण के द्वारा बड़ी मात्रा में उत्पादन करना जरूरी हो गया। श्रम-विभाजन से सामाजिक और आर्थिक विभिन्नताएँ बढ़ने लगीं। व्यक्तिगत कुशलता का महत्व बढ़ जाने से व्यक्तिवादिता में वृद्धि हुई। सामूहिक जीव का प्रभाव घटने के साथ कानूनों में भी इस तरह परिवर्तन होने लगे जिससे सामाजिक नियन्त्रण को अधिक प्रभावपूर्ण बनाया जा सके। इसके फलस्वरूप समाज में भिन्न प्रकार की एकता का विकास हुआ जिसे हम सावयवी एकता कहते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि सामाजिक एकता की प्रकृति में बदलाव होता रहता है लेकिन किसी भी समाज भी समाज के अस्तित्व के लिए सामाजिक एकता एक अनिवार्य दशा है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

दीर्घ उत्तरी प्रश्न

1. दुर्खीम का जीवन-परिचय देते हुए, उनकी प्रमुख रचनाओं पर प्रकाश डालिए।

2. समाजशास्त्र के लिए दुर्खीम का क्या योगदान रहा है ? संक्षेप में समझाइये।
3. सामाजिक एकता को अवधारणा को स्पष्ट करते हुए यान्त्रिक एकता की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
4. सावयवी एकता पर एक निबन्ध लिखिए।

लघुउत्तरी प्रश्न

1. धर्म तथा मूल्यों की समाजशास्त्रीय विवेचना विवेचना कीजिए।
2. सावयवी एकता की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
3. यान्त्रिक तथा सावयवी एकता में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
4. सामाजिक एकता पर सँक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'डिवीजन ऑफ लेबर इन सोसाइटी' पुस्तक के लेखक का नाम है—

   (अ) परेटो (ब) वेबर

   (स) दुर्खीम (द) ऑगस्त कॉम्ट

2. दुर्खीम के अनुसार आदिम समाजों में किस प्रकार की एकता पायी जाती है ?

   (अ) धार्मिक (ब) यान्त्रिक

   (स) सावयवी (द) पारिवारिक

3. दुर्खीम के अनुसार जिन समाजों में श्रम विभाजन और विशेषीकरण की प्रधानता होती है, उनमें सावयवी एकता पायी जाती है। यह कथन है—

   (अ) विवादपूर्ण (ब) सत्य

   (स) असत्य (द) आंशिक रूप से सत्य

4. यान्त्रिक एकता तथा सामाजिक एकता की अवधारणा प्रस्तुत की है—

   (अ) कॉम्ट (ब) इमाइल दुर्खीम

   (स) वेबर (द) कार्ल मार्क्स

5. इमाइल दुर्खीम ने सामाजिक एकता के सिद्धान्त को निम्नांकित में से अपनी किस पुस्तक में किया ?

   (अ) आत्महत्या (ब) समाजशास्त्रीय पद्धति

   (स) समाज में श्रम विभाजन (द) निम्न में से कोई नहीं

NOTES

6. यान्त्रिक एकता का सम्बन्ध निम्नांकित में से कौन-सी एक दशा से नहीं है ?

(अ) समाज में समरूपता (ब) सामूहिक चेतना की प्रधानता

(स) व्यक्तिवादिता में कमी (द) सुनिश्चित सामाजिक संस्तरण

7. इमाइल दुर्खीम का जन्म हुआ—

(अ) 15 अप्रैल, 1858 (ब) 15 अप्रैल 1860

(स) 15 अप्रैल 1958 (द) 15 अप्रैल 1898

8. आधुनिक समाजों में किस प्रकार की एकता पायी जाती है-

(अ) सामाजिक (ब) भावात्मक

(स) सावयवी (द) आर्थिक

9. यांत्रिक एकता किस प्रकार के समाजों में पायी जाती है-

(अ) आदिम (ब) औद्योगिक

(स) नगरीय (द) जटिल

10. दमनकारी कानून किस प्रकार की एकता वाले समाजों में पाये जाते हैं-

(अ) सावयवी एकता (ब) यांत्रिक एकता

(स) भावात्मक एकता (द) राष्ट्रीय एकता

11. सावयवी एकता वाले समाजों में किस प्रकार के कानून पाये जाते हैं-

(अ) प्रतिकारी (ब) दमनकारी

(स) वैधानिक (द) अनौपचारिक

12. व्यक्ति व समाज के बीच प्रत्यक्ष संबंध पाया जाता है-

(अ) यांत्रिक एकता में (ब) सावयवी एकता में

(स) भावात्मक एकता में (द) आर्थिक एकता में

उत्तर—1. (स), 2. (ब), 3. (ब), 4. (ब), 5. (स), 6. (द), 7. (अ), 8. (स), 9. (अ), 10. (ब), 11. (अ), 12. (अ)।

●●

5 दुर्खीम : आत्महत्या

NOTES

अध्याय में सम्मिलित विषय सामग्री

- उद्देश्य
- प्राक्कथन
- आत्महत्या की परिभाषा
- आत्महत्या की विशेषताएँ
- आत्महत्या के कारण
- सामाजिक क्रिया: एक वास्तविक आधार
- आत्महत्या के प्रकार
- परार्थवादी आत्महत्या
- अहंकारी और परार्थवादी आत्महत्या में अन्तर
- आत्महत्या की सामाजिक प्रकृति
- आत्महत्या के निवारण के उपाय
- दुर्खीम के आत्महत्या सिद्धान्त की समालोचना
- अध्याय का संक्षिप्त सार
- परीक्षोपयोगी प्रश्न

उद्देश्य :

इस अध्याय अध्ययन के पश्चात् आप निम्न तथ्यों को समझ सकेंगे—

- प्राक्कथन।
- आत्महत्या की परिभाषा
- आत्महत्या की विशेषताएँ
- आत्महत्या के कारण
- सामाजिक क्रिया: एक वास्तविक आधार
- आत्महत्या के प्रकार
- परार्थवादी आत्महत्या
- अहंकारी और परार्थवादी आत्महत्या में अन्तर
- आत्महत्या की सामाजिक प्रकृति
- आत्महत्या के निवारण के उपाय
- दुर्खीम के आत्महत्या सिद्धान्त की समालोचना

NOTES

प्राक्कथन

आत्महत्या (Le Suicide) जिसका अंग्रेजी अनुवाद 'The Suicide' है दुर्खीम की तीसरी प्रमुख कृति है जिसका प्रकाशन सन् 1897 में हुआ। इस ग्रन्थ में दुर्खीम ने समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण का तथ्यात्मक प्रमाण प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। यह पद्धति शास्त्रीय प्रयोगों की स्थापना तथा प्रमाणिकता की दृष्टि से उनकी प्रथम रचना मानी जा सकती है। दुर्खीम ने आत्महत्या को सामाजिक समस्या मानकर उस पर समाजशास्त्रीय दृष्टि से विचार किया है। अब तक आत्महत्या को एक वैयक्तिक समस्या ही माना जाता रहा है, लेकिन दुर्खीम ने समाज को आत्महत्या के लिए उत्तरदायित्व माना। आपके 'Le Suicide' नामक ग्रन्थ पर टिप्पणी करते हुए रेमण्ड ऐरन लिखते हैं, "आत्महत्या का अध्ययन आधुनिक समाजों के व्याधिकीय पक्ष तथा व्यक्ति और सामूहिकता के सम्बन्ध को अत्यन्त आकर्षक ढंग से प्रकाशित करने वाली घटना, दोनों की व्याख्या करता है।"

दुर्खीम के अनुसार समाज में ही कुछ ऐसी शक्तियाँ हैं जो मनुष्य को आत्महत्या करने की प्रेरणा देती हैं। यह सामाजिक शक्ति सामाजिक जीवन की परिस्थितियों में से उत्पन्न होती है। आत्महत्या व्यक्ति के व्याधिकीय जीवन का दु:खद अध्याय है। व्याधिकीय दशाओं के लिए भी सामाजिक परिस्थितियां ही उत्तरदायी हैं। समाज ही ऐसी शक्ति है जो व्यक्ति के लिए उपयोगी तथा लाभदायक हैं, वही व्यक्ति को नैतिक आधार पर संयमित तथा अनुशासित करती है। जब समाज की शक्ति एवं नियंन्त्रण व्यक्ति पर शिथिल हो जाता है तो आत्महत्या की दर प्रभावित होती है। दुर्खीम कहता है कि पूर्णरूप से गोपनीय तथा व्यक्तिगत क्रियाओं में भी सामूहिक वास्तविकता व्यक्ति को प्रभावित करती है। रेमण्ड एरन कहता है "जब कोई व्यक्ति अपने आप को मारने के लिए पर्याप्त एकाकी और निराश होता है, तो भी दुर्खीम के अनुसार, समाज ही इस दुखी मनुष्य की चेतना में उपस्थित रहता है, यह समाज है जो वैयक्तिक इतिहास से अधिक इस एकाकी क्रिया को संचालित करता है।" इस कथन के अनुसार समाज एवं सामाजिक शक्तियां ही आत्महत्या जैसी क्रियाओं जिन्हें अब तक व्यक्तिगत क्रिया समझा जाता रहा है के लिये उत्तरदायी हैं। आत्महत्या व्यक्ति तथा समाज के बीच दरार की सूचक है। आत्महत्या एक सामाजिक तथ्य है और इसका कारण सामाजिक दबाव है। चूँकि आत्महत्या की उत्पत्ति सामाजिक जीवन में निहित है, अत: उसका उपचार भी समाज में ही मौजूद है।

दुर्खीम का ग्रन्थ 'आत्महत्या' तीन खण्डों में विभाजित है। प्रस्तावना वाले अध्याय में आपने आत्महत्या की वैज्ञानिक परिभाषा दी है और इसकी वैयक्तिक तथा सामाजिक प्रकृति में भेद किया है। आत्महत्या की दर का उल्लेख करने के दौरान आपने यह स्पष्ट किया है कि यह एक सामाजिक घटना है जो व्यक्तिगत नियन्त्रण और इच्छा की अपेक्षा सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होती है। ग्रन्थ के प्रथम भाग में दुर्खीम ने आत्महत्या से सम्बन्धित अन्य विद्वानों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का उल्लेख कर उनकी कटु आलोचना करते हुए उनकी अनुपयुक्तता सिद्ध की है। इस भाग के प्रथम अध्याय में प्राकृतिक परिस्थितियों और चतुर्थ अध्याय में अनुकरण के आधार पर आत्महत्या की व्याख्या करने वाले सिद्धान्तों की आलोचना की है। दुर्खीम ने पागलपन, मद्यपान तथा अन्य मनोविकारों और प्राकृतिक

पर्यावरण का आत्महत्या के साथ सम्बन्ध इस रूप में स्वीकार किया है कि ये सभी सामाजिक कारकों की शक्ति से निश्चित होते हैं।

दुर्खीम ने ग्रन्थ के दूसरे भाग में आत्महत्या के सामाजिक कारकों का उल्लेख किया है। आपने इसी भाग में आत्महत्या के तीन प्रमुख कारकों–अहमवादी, परार्थवादी एवं आदर्शहीन आत्महत्या का भी वर्णन किया है। आत्महत्या के ये तीन प्रकार भिन्न प्रकार के सामाजिक कारकों से सम्बन्धित हैं। दूसरे भाग मे छः अध्याय हैं। पाँच अध्यायों में सामाजिक कारकों द्वारा प्रेरित तीन प्रकार की आत्महत्या का तथा छठे अध्याय में आत्महत्या के तीनों प्रकार के वैयक्तिक स्वरूपों का उल्लेख किया गया है।

ग्रन्थ के तीसरे भाग में तीन अध्याय हैं। इस भाग में आत्महत्या की सामाजिक प्रकृति का वर्णन किया गया है। और आत्महत्या को व्यक्तिगत क्रिया बताने वाले सिद्धान्तों की आलोचना की गयी है। अन्तिम अध्याय में कुछ व्यावहारिक परिणामों और समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है।

इस प्रकार 'आत्महत्या' दुर्खीम की प्रमुख रचनाओं से एक है जिसमें आपने आत्महत्या की सामाजिक व्याख्या प्रस्तुत कर व्यक्तिगत जीवन की अपेक्षा सामूहिक जीवन की श्रेष्ठता को ठोस आधार प्रदान किया है। दुर्खीम ने इसके अध्ययन में समाजशास्त्रीय पद्धति, प्रत्यक्षवाद, अवलोकन, वर्गीकरण और विश्लेषण से सम्बन्धित अध्ययन प्रणालियों का सफलतापूर्वक प्रयोग किया है। इसमें सैद्धान्तिक और पद्धतिशास्त्रीय दृष्टि से महत्वपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किये गये हैं। दुर्खीम की इस रचना का महत्व बताते हुये बीरस्टीड लिखते है, "यह समाजशास्त्रीय अनुसंधान की महानतम कृतियों में से एक तथा प्रथम कृति हैं। समाजशास्त्र में अनुसंधान का इतिहास, वास्तव में इस पुस्तक से शुरू होता है और यद्यपि इसके प्रकाशन के पश्चात् 70 वर्षों में इसके निष्कर्षों में परिष्कार किया गया है परन्तु इसका महत्व कम नहीं हुआ है।" दुर्खीम ही पहला व्यक्ति था जिसने 'आत्महत्या' को मापने के लिए सांख्यिकीय पद्धति को अपनाया। आत्महत्या के अध्ययन में दुर्खीम ने ऐतिहासिक एवं सांख्यिकीय दोनों ही पद्धतियों का प्रयोग किया। हम यहाँ दुर्खीम द्वारा आत्महत्या पर प्रदर्शित विभिन्न विचारों का उनकी रचना के आधार पर संक्षिप्त विवेचना प्रस्तुत करेंगे।

आत्महत्या की परिभाषा (Diefinition of Suicide)

आत्महत्या को परिभाषित करते हुए दुर्खीम लिखते हैं, आत्महत्या शब्द मृत्यु की उन समस्त घटनाओं के लिए प्रयुक्त किया जाता है जो स्वयं मरने वाले की सकारात्मक या नकारात्मक क्रिया का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष परिणाम होती है, जिसके भावी परिणाम को वह जानता है।

आत्महत्या की इस परिभाषा से स्पष्ट है कि ऐसी मृत्यु को ही आत्महत्या माना जायेगा जो मरने वालों की स्वयं की क्रिया का परिणाम होता है। व्यक्ति खुद जान–बूझकर अपने जीवन का अन्त कर लेता है। मृत्यु उसी की क्रिया का परिणाम है।

दुर्खीम की इस परिभाषा का सम्बन्ध केवल मनुष्यों से है पशुओं से नहीं। इस परिभाषा से आत्महत्या की निम्नांकित विशेषताएं प्रकट होती हैं–

NOTES

(1) ऐसी मृत्यु को ही आत्महत्या कहा जायेगा जो स्वयं मरने वाले की क्रिया का परिणाम होती है। आत्महत्या में व्यक्ति स्वयं ही अपने जीवन को समाप्त करता है, आत्मघात करता है और मृत्यु उसी क्रिया का परिणाम है। यह क्रिया सकारात्मक तथा नकारात्मक प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों ही हो सकती है। सकारात्मक क्रिया से तात्पर्य उन कार्यो से है जो स्पष्ट रूप से मृत्यु का कारण बनते हैं। उदाहरण के लिए, स्वयं को गोली मार देना या छलांग लगाकर कुएं में कूद पड़ना दोनों ही आत्महत्या की सकारात्मक एवं प्रत्यक्ष क्रियाएं हैं। दूसरा पक्ष नकारात्मक या अप्रत्यक्ष है। इसमें व्यक्ति भोजन तथा जल ग्रहण करना बन्द कर दे तो जीवन का पोषण नहीं हो पाता या मकान में आग लग रही है और व्यक्ति उसमें से बाहर नहीं निकलना चाहता। इस प्रकार की नकारात्मक एवं अप्रत्यक्ष गतिविधि भी व्यक्ति को मृत्यु के मुंह में धकेल देती है। आत्महत्या की क्रिया और परिणाम में कार्य-कारण का सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष भी हो सकता है।

(2) आत्महत्या की एक विशेषता यह भी है कि व्यक्ति इच्छापूर्वक सोच-विचार कर आत्महत्या करता है और वह अपनी क्रिया के परिणाम को जानता है। अनजाने अथवा धोखे से मर जाना आत्महत्या नहीं है। उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति थोड़ा पानी समझकर तैरने के इरादे से तालाब में उतरता है, लेकिन गहरा पानी होने से वह डूबकर मर जाता है तो यह दुर्घटना है आत्महत्या नहीं। आत्महत्या के लिए जान-बूझकर मरने के वास्ते कोई कार्य करना आवश्यक है। दुर्खीम सैनिकों द्वारा दिये जाने वाले बलिदान अथवा अनशन के द्वारा मरने को भी आत्महत्या की श्रेणी में रखते हैं, क्योंकि दोनों में ही व्यक्ति ने जीवन को खत्म करने का इरादा किया है।

(3) आत्महत्या की एक विशेषता यह है कि आत्महत्या करने वाला व्यक्ति अपनी क्रिया के परिणामों को पहले से ही जानता है। उसे यह ज्ञात है कि वह जो कुछ कर रहा है, उसका निश्चित परिणाम मृत्यु है। अपनी मृत्यु की पूर्व जानकारी के बावजूद वह प्राणघातक क्रिया में लीन होता है।

(4) आत्महत्या पूर्व निश्चय के साथ जान-बूझकर की जाने वाली आत्मघाती क्रिया का परिणाम है। इस अर्थ में यह एक व्यक्तिगत मामला है, किन्तु दुर्खीम ने आत्महत्या को एक सामाजिक तथ्य के रूप में प्रकट किया है। आत्महत्या की घटनाओं को वह किसी विशिष्ट समाज में एक निश्चित अवधि के अन्दर एक समग्रता के रूप में देखता है। दुर्खीम ने आत्महत्या की सामाजिक प्रकृति को प्रकट करने के लिए यूरोप के 11देशों में "फ्रांस, इंग्लैण्ड, बकेरिया, डेनमार्क, सेक्सोनी आदि" के आकड़ों के आधार पर अपने मत की पुष्टि की। आपने विभिन्न देशों की विभिन्न वर्षों की आत्महत्या की घटनाओं की सारिणी प्रस्तुत कर यह प्रकट किया कि प्रत्येक समाज में हर वर्ष आत्महत्याओं की संख्या में बहुत कम फेरबदल आता है। इससे सिद्ध होता है कि आत्महत्या कोई व्यक्तिगत घटना नहीं है। वरन् यह समाज की दशाओं से सम्बन्धित है। इसमें महत्वपूर्ण परिवर्तन तभी होते हैं जब सम्बन्धित समाज की दशाओं में भी महत्वपूर्ण बदलाव होते हैं संक्षेप में हम कह सकते हैं कि दुर्खीम ने अपनी परिभाषा में आत्महत्या की वैज्ञानिक परिभाषा दी है तथा इसे एक सामूहिक

तथ्य के रूप में समझने का प्रयत्न किया है। किसी विशिष्ट व्यक्ति द्वारा की गयी आत्महत्या एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है, किन्तु जब सम्पूर्ण समूह में होने वाली आत्महत्याओं की वार्षिक घटनाओं की स्थिर प्रकृति की व्याख्या की जाती है जो यह एक सामाजिक तथ्य है।

दुर्खीम ने आत्महत्या के नाम से जिस सामाजिक तथ्य की प्रकृति को समझाया है, वह आत्महत्या की दर है जो आत्महत्या की अलग-अलग होने वाली घटनाओं से अलग अपने में पूर्ण स्वतन्त्र एवं निश्चित संख्यात्मक घटना है। दुर्खीम ने अपने विश्लेषण में व्यक्तिगत आत्महत्याओं को प्रभावित करने वाली दशाओं के स्थान पर 'आत्महत्या की दर' को प्रभावित करने वाली सामाजिक दशाओं का अध्ययन किया है। दुर्खीम इस बात को स्वीकार करते हैं कि वैयक्तिक दशायें या कारण भी विभिन्न व्यक्तियों को आत्महत्या के लिए प्रेरित करते हैं, लेकिन साथ ही यह भी मानते हैं कि यह सारे समूह के भीतर आत्महत्या की प्रवृत्ति के लिये उत्तरदायी नहीं है।

आत्महत्या के कारण (CAUSES OF SUICIDE)

दुर्खीम ने आत्महत्या के मनोवैज्ञानिक, जैविकीय, प्राकृतिक तथा सामाजिक अनेक कारणों का उल्लेख किया है किन्तु आप मनोवैज्ञानिक और प्राकृतिक दशाओं को आत्महत्या की वास्तविक प्रेरणा नहीं मानते। वास्तविक प्रेरणा शक्ति तो सामाजिक दशाओं में ही निहित होती है। दुर्खीम ने सर्वप्रथम आत्महत्या के सामाजिक कारणों में मनोजैविकीय कारणों का पहले वर्णन किया है।

(1) **पागलपन और आत्महत्या**–दुर्खीम ने पागलपन को एक ऐसी बीमारी बताया जो किसी समाज में तुलनात्मक दृष्टि से स्थायी होती है। अलग-अलग समाजों में इस रोग की मात्रा भी भिन्न-भिन्न होती है। पागलपन एक मानसिक अलगाव की स्थिति है एक्सवीरौल तथा बर्डिन आत्महत्या को एक विशेष प्रकार का पागलपन समझते हैं। दुर्खीम इस सिद्धान्त का परीक्षण करते हैं तथा आत्महत्या को पागलपन से जनित नहीं मानते। कुछ लोग आत्महत्या को आनंद, मतिभ्रम या दीवानगी अत्यधिक निराशा, दु:ख या शोक से भी जनित मानते हैं। इसी प्रकार से कुछ लोग सम्मोहन, आवेगपूर्ण अवस्था आदि को भी जनित मानते हैं। इसी प्रकार से कुछ लोग सम्मोहन, आवेगपूर्ण अवस्था आदि को भी आत्महत्या का कारण मानते हैं पागलपन के अनेक रूप हैं, जिनका हम यहाँ उल्लेख करेंगे–

(i) **आत्महत्या एक उन्माद**–बार्डिन ने आत्महत्या को एक उन्माद कहा है। उसके अनुसार आत्महत्या पागलपन या उन्माद का ही एक विशेष रूप है जो केवल एक क्रिया से ही सम्बन्धित होता है तथा शेष सभी क्रियाओं में आत्महत्या करने वाला सामान्य दिखाई देता है। उदाहरण के लिये व्यक्ति सब प्रकार से स्वस्थ दिखाई देता है तथा अपने सभी कार्यो में सामान्य व्यवहार करता है, लेकिन उसे गाली देने या चोरी करने मारपीट करने या शराब पीने में विशेष आनंद प्राप्त होता है वह बिना किसी कारण के ऐसी ही किसी एक विशिष्ट क्रिया में प्रवृत्त होने की अवांछित इच्छा करता है तो ऐसे व्यक्ति को 'एक

NOTES

विषयोन्मादी' कह सकते हैं। बार्डिन के मतानुसार आत्महत्या भी एक ऐसी ही विशिष्ट उन्माद है जिसमें व्यक्ति खुद को समाप्त करने की सोचता है। इस प्रकार एक विषयोन्माद एक प्रबल संवेग है जो इतना तीव्र और गंभीर होता है कि व्यक्ति किन्हीं विशेष क्षणों में इनके अधीन होकर क्रिया कर बैठता है।

दुर्खीम इस बात को अस्वीकार नहीं करते हैं कि एक विषयोन्माद जैसा कोई रोग होता है। एक विषयोन्मादी में अत्यधिक शिथिलता एवं निराशा के भाव विद्यमान होने से उसके विचारों एवं क्रिया में संन्तुलन समाप्त हो जाता है। यह असंन्तुलन उसके सारे मस्तिष्क में छाया रहता है, न कि केवल एक भाग में ही। एक पक्ष में पागलपन का विशेष प्रभाव भी तभी प्रकट होता है जब सम्पूर्ण मानसिक जीवन उन्माद से प्रभावित हो। अत: दुर्खीम कहता है कि जब-जब एक विषयोन्माद नहीं होता तो आत्महत्या भी एक विषयोन्मादी नहीं हो सकती।

(ii) उन्माद के परिणाम के रूप में आत्महत्या–इस सिद्धान्त के अनुसार आत्महत्या उन्माद का परिणाम है। इस मत के अनुसार आत्महत्या करने वाले व्यक्ति प्राय: पागल होते है, स्वस्थ मस्तिष्क वाला व्यक्ति कभी आत्महत्या नहीं करता। आत्महत्या मानसिक अलगाव के कारण की जाती है। दुर्खीम इस बात को भी अस्वीकार करते हुये कहते हैं यदि मानसिक अलगाव के कारण ही आत्महत्या होती है तो इसके विभिन्न स्वरूपों के अनुसार आत्महत्याओं का वर्गीकरण किया जाये और देखें कि उनके अतिरिक्त और किसी प्रकार की आत्महत्यायें नहीं होती। दुर्खीम ने उन्माद से सम्बन्धित निम्नलिखित चार प्रकारों का उल्लेख किया हैं–

(अ)उन्मत्त आत्महत्या–इस प्रकार की आत्महत्या मतिभ्रम या दीवानगी के कारण होती है। रोगी किसी काल्पनिक भय, संकट या अपमान से बचने के लिए आत्महत्या कर लेता है। कभी-कभी व्यक्ति ऐसा भी महसूस करता है कि कोई दैविक शक्ति उसे आत्महत्या के लिए प्रेरित कर रही है, और वह ऐसा कर लेता है। उन्माद की स्थिति में व्यक्ति में वायु वेग से एक के पश्चात दूसरे विचार आते रहते हैं। आत्महत्या का प्रयास सफल न होने पर वह उस वक्त तो उस प्रयास को त्याग देता है। बार्डिन ने एक उदाहरण दिया है। एक व्यक्ति आत्महत्या के लिए नदी में उतरा वह गहरा पानी खोज रहा था कि कस्टम अधिकारी ने उससे कहा कि नदी से बाहर आ जाओ वरना गोली मार दूँगा और जो व्यक्ति आत्महत्या करने गया था गोली मारने के डर से बाहर आ गया। इस प्रकार के उन्मत्त अवस्था में की जाने वाली आत्महत्या उन्माद का परिणाम है।

(ब)विषादपूर्ण आत्महत्या–इस प्रकार की आत्महत्या का कारण खिन्नता, दु:ख, निराशा या शोक होता है। इसमें व्यक्ति को ऐसा मानसिक आघात लगता है जिसके कारण वह अपने मस्तिष्क का संन्तुलन खो बैठता है, और एकमात्र आत्महत्या की उसे सुरक्षा का उपाय दिखाई देती है। उदाहरण के लिए अपने किसी प्रियजन की मृत्यु होने, व्यापार में घाटा होने पर व्यक्ति इस स्थिति को बर्दाश्त नहीं कर पाता और व्यक्ति आत्महत्या कर बैठता है, किन्तु दुर्खीम इस मत को भी अस्वीकार करते ह।।

NOTES

(स) सम्मोहित आत्महत्या–इसमें मृत्यु का विचार व्यक्ति के मस्तिष्क पर लगातार छाया रहता है और वह उससे सम्मोहित रहता है। जब मृत्यु का जबरदस्त मोह उसके मन की केन्द्रीय आकांक्षा बन जाती है और वह आत्महत्या कर लेता है दुर्खीम इस मत को भी अस्वीकार करता है।

(द) सम्मोहित आत्महत्या–इसमें अचानक ही व्यक्ति में मृत्यु की इच्छा पैदा होती है और तुरन्त ही वह इसकी पूर्ति के लिए आत्महत्या कर बैठता है। यह सब कुछ क्षणों में ही हो जाता है। कब्र के पास से गुजरने, तलवार, चाकू या पिस्तौल को देखकर अचानक मरने की इच्छा जाग्रत हो जाना और ऐसा कर बैठना आवेगात्मक आत्महत्या है।

दुर्खीम सभी प्रकार के मनोवैज्ञानिक कारकों को आत्महत्या के लिए अस्वीकार करते हैं क्योंकि ऐसी अनेक प्रकार की आत्महत्यायें हैं जो इनमें से किसी श्रेणी में नहीं आती हैं।

(2) स्नायुदोष और आत्महत्या–स्नायुदोष अथवा नाड़ी दौर्बल्य भी एक मानसिक व्याधि है। मानसिक विकृतियों की अवस्थाओं को स्नायु दोष कहा जाता है। जब स्नायु तंत्र पर गहरी चोट लगती है या कोई कठोर मानसिक पीड़ा होती है जो कष्ट का अनुभव होता है। स्नायु दोष का रोगी छोटी सी घटनाओं से उत्तेजित हो जाता है तथा अत्यधिक कष्ट का अनुभव करता है। इसी प्रकार सामान्य घटना से भी वह अत्यधिक आनन्दित हो जाता है। अत: स्नायु दोष का रोगी अन्य लोगों की अपेक्षा सुख और दु:ख की घटनाओं से शीघ्र प्रभावित होता है। ऐसी अवस्था आत्महत्या में विशेष सहायक होती है, किन्तु दुर्खीम ने तथ्यों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि पागलपन या स्नायु दोष वास्तव में आत्महत्या के मौलिक कारण नहीं है। इन रोगों के प्रभाव से तो तभी आत्महत्या की जाती है जब इनके साथ कुछ विशेष सामाजिक दशायें क्रियाशील हों दुर्खीम का निष्कर्ष यह है कि स्नायु दोष एवं पागलपन व्यक्ति को आत्महत्या के लिए प्रेरित करने वाली दशाऐं हो सकती है, लेकिन आत्महत्या इनका आवश्यक परिणाम नहीं है।

(3) मद्यपान और आत्महत्या–कुछ लोग मद्यपान को ही आत्महत्या का कारण बताते हैं। मद्यपान को पागलपन का ही एक रूप कहा जा सकता है। शराब पिये हुये व्यक्ति का मस्तिष्क सन्तुलित नहीं रहता अत: वह आत्महत्या कर बैठता है। लेकिन दुर्खीम ने फ्रांस में आत्महत्याओं की संख्या तथा मद्यपान के अपराधियों की संख्या के तुलनात्मक विश्लेषण के आधार पर यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि इन दोनों में कोई सहसम्बन्ध नहीं है। फ्रांस के जिन प्रदेशों में शराब का अधिक सेवन किया जाता है, उन प्रदेशों की तुलना में अन्य प्रदेशों में आत्महत्या की दर अधिक है। पोजेन (Posen) प्रान्त में सबसे कम आत्महत्यायें होती हैं यद्यपि वहां शराब सबसे अधिक पी जाती है। जर्मनी के दक्षिणी प्रान्त में शराब सबसे कम पी जाती है और वहां आत्महत्या की दर भी कम है इसका कारण है वहां कैथोलिक समुदाय के लोग अधिक है जिनमें आत्महत्या के प्रति झुकाव कम है अत: मद्यपान को आत्महत्या का कारण नहीं मान सकते।

(ii) मनोजैविकीय कारक और आत्महत्या–आत्महत्या के असामाजिक कारकों में मानसिक व्याधियों के अतिरिक्त कुछ सामान्य मानसिक अवस्थायें भी महत्वपूर्ण हैं। मनुष्य की शारीरिक और मानसिक संरचना ही ऐसी हो सकती है कि वह आत्महत्या को प्रोत्साहन दे। विशुद्ध मनोवैज्ञानिक अवस्थाएं तथा पैतृकता से प्राप्त गुण भी आत्महत्या के लिये उत्तरदायी हो सकते हैं। कुछ लोग प्रजातीय विशेषताओं को भी आत्महत्या में सम्मिलित करते हैं विशिष्ट प्रजातियों में आत्महत्या के प्रति एक निश्चित झुकाव पाया जाता है। हम यहाँ इन्हीं कारकों की सत्यता की परीक्षा करेंगे–

(1) प्रजाति और आत्महत्या–प्रजाति एवं आत्महत्या में सह सम्बन्ध बताने से पूर्व दुर्खीम ने प्रजाति को परिभाषित किया है। "प्रजाति, आधुनिक अर्थ में उन व्यक्तियों का समूह है जो सामान्य लक्षणों से युक्त हैं। यह सामान्य लक्षण यौन सम्बन्धों के द्वारा पैतृकता से प्राप्त होते हैं।" दुर्खीम ने क्वाटरेफेज, प्रिचर्ड तथा ब्रोका आदि विद्वानों की परिभाषाओं का भी उल्लेख किया और इनके आधार पर प्रजाति की दो विशेषताएं बतायी है–(i) प्रजाति उन व्यक्तियों का समूह है तो एक दूसरे के समान हैं तथा (ii) प्रजाति से सम्बन्धित ये समानताएं पैतृकता पर आधारित हैं। दुर्खीम कहते हैं कि प्रजाति की यह विशेषताएं राष्ट्रीयता के समानार्थक हैं। वर्तमान में प्रजाति व राष्ट्रीयता समान है। कुछ विद्वान प्रजातीय लक्षणों से आत्महत्या का कारणात्मक सम्बन्ध स्थापित करते हैं, किन्तु दुर्खीम प्रजातीय तथा आत्महत्या के सम्बन्ध को अस्वीकार करते हैं। आपने इस सिद्धान्त के विरूद्ध तर्क प्रस्तुत करते हुये कहा है कि आत्महत्या की जटिल और विशिष्ट प्रवृत्ति को प्रजाति के सामान्य लक्षणों द्वारा स्पष्ट नहीं किया जा सकता है। कैल्ट प्रजाति के लोग पहले अधिक आत्महत्या करते थे, लेकिन अब यह प्रवृत्ति कम हो गयी है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्रान्तों में कैल्ट प्रजाति के लोगों में आत्महत्या की दर भी भिन्न-भिन्न हैं। इसका कारण दुर्खीम उनकी बाह्य परिस्थितियों में घटित परिवर्तनों उनके सभ्यता के स्तर में अन्तर तथा भौगोलिक पर्यावरण में अन्तर को मानते हैं। अत: आत्महत्या तथा प्रजाति में कार्य-कारण का सम्बन्ध नहीं है।

(2) पैतृकता और आत्महत्या–पैतृक आत्महत्या से तात्पर्य है कि आत्महत्या करने वाले के बच्चे भी इसलिए आत्महत्या करते हैं, क्योंकि उनके माता-पिता के आत्महत्या के लक्षण वंशानुगत होते हैं अर्थात् आत्महत्या की प्रवृत्ति के लक्षण माता-पिता के द्वारा सन्तानों को भी प्राप्त होते हैं जो समान परिस्थितियों में उन्हें भी आत्महत्या के लिए प्रेरित करते हैं। गाल तथा एस्किवरोल नामक विद्वानों ने इसे सिद्ध करने के लिए कुछ उदाहरण दिये हैं। गाल के अनुसार पेरिस के एक धनी जमींदार ने आत्महत्या की और उसके सातों बच्चों ने भी ऐसा ही किया। एरिस्कवरोल ने ऐसे व्यापारी का वर्णन किया है जिसके पाँच पुत्र थे उनमें से चार ने आत्महत्या की एवं पाचवें ने कई बार आत्महत्या का प्रयास किया। किन्तु दुर्खीम कहता है कि आत्महत्या का गुण पैतृकता से प्राप्त नहीं होता। मानसिक या स्नायु दुर्बलता का हस्तान्तरण होता है जो आत्महत्या के लिए प्रेरित कर सकता है। वह लिखता है, "यदि कोई अभागा, जिसके

परिवार में पागल और आत्महत्याऐं दोनों थे आत्महत्या कर लेता है तो वह इसलिये आत्महत्या नहीं करता कि उसके माता-पिता ने भी ऐसा ही किया था, वरन् इसलिये कि वे पागल थे।"

NOTES

दुर्खीम कहते हैं कि आत्महत्या एक संक्रामक घटना भी है। पागल या स्नायु दुर्बलता का व्यक्ति अपने परिवारजनों द्वारा की गयी आत्महत्या को याद करके अथवा आत्महत्या की घटना को देखकर स्वयं भी आत्महत्या के लिए प्रेरित हो सकता है। दुर्खीम ने अपनी पुस्तक में ऐसे अनेक उदाहरण दिये हैं जिनमें आत्महत्या एक संक्रामक रोग नजर आती है। वह लिखता है-एक अस्पताल में 15 रोगियों ने एक अंधेरे कमरे में एक के बाद फाँसी लगा ली। जब वह फंदा वहां से हटा लिया गया तो वहां आत्महत्या का क्रम भी बन्द हो गया।

दुर्खीम ने आयु एवं लिंग के आंकड़ों का संकलन करके भी पैतुकता एवं आत्महत्या के सम्बन्ध का खंडन किया। यदि आत्महत्या पैतृक है तो उसका प्रभाव सभी आयु के लोगों एवं स्त्री पुरुषों पर समान रूप से पड़ना चाहिये, किन्तु आंकड़े यह बताते हैं कि स्त्रियों की तुलना में पुरुष अधिक आत्महत्या करते हैं। और पैतृकता का प्रभाव एवं बचपन में अधिक होता है एवं आयु के बढ़ने के साथ-साथ यह घटता जाता है। इस प्रकार यदि पैतृकता व आत्महत्या सम्बन्धित हैं तो कम आयु में आत्महत्या अधिक होनी चाहिए जबकि यह दर वृद्धों में अधिक पायी गयी। दुर्खीम कहते हैं, पैतृक गुण हो या प्रजातीय लक्षण आत्महत्या के लिए सामाजिक परिस्थितियों के संन्दर्भ में ही उत्तरदायी होते हैं।

(iii) भौगोलिक दशाएं एवं आत्महत्या-मौरसेलि और अन्य विद्वान भौगोलिक दशओं को आत्महत्या के लिये उत्तरदायी मानतें है। भौगोलिक कारकों में जलवायु और तापमान से आत्महत्या का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। दुर्खीम ने इन दोनों ही कारकों के सन्दर्भ में आत्महत्या का अध्ययन कर इस सिद्धान्त को भी अनुपयुक्त ठहराया।

(1) जलवायु एवं आत्महत्या-मौरसेलि ने कहा कि समशीतोष्ण जलवायु में आत्महत्यायें सर्वाधिक होती हैं, अत: यह आत्महत्या करने वालों के लिये उपर्युक्त जलवायु है। किन्तु दुर्खीम कहते हैं कि आत्महत्यायें तो सभी प्रकार की जलवायु में होती हैं। समशीतोष्ण जलवायु में अधिक आत्महत्या का कारण जलवायु नहीं वरन् उसमें विकसित होने वाली विशिष्ट सभ्यता तथा उसका वितरण है। भारत में जहां गर्मी अधिक पड़ती है, किसी समय आत्महत्या की दर बहुत ऊँची थी। इटली में भी उस समय आत्महत्यायें अधिक होती थीं जब वहाँ रोमन साम्राज्य स्थापित हो गया। सन् 1870 तक इटली के उत्तरी भाग में, उसके पश्चात् केन्द्रीय भाग में और फिर दक्षिणी भाग में आत्महत्यायें अधिक होने लगीं। इस बदलाव का कारण जलवायु में परिवर्तन नहीं है, वरन् वहाँ की सामाजिक-सांस्कृतिक दशाओं में परिवर्तन है। दुर्खीम लिखता है, "अत: हमें लोगों में आत्महत्या की असमान प्रवृत्ति के कारण की खोज जलवायु के रहस्यात्मक प्रभाव में नहीं बल्कि इस सभ्यता की प्रकृति तथाा विभिन्न देशों में इसके वितरण की पद्धति में करनी चाहिए।" दुर्खीम जलवायु एवं आत्महत्या

में कारणात्मक सम्बन्ध नहीं मानते। आत्महत्या की दर का कम या अधिक होना वास्तव में सामाजिक कारकों का परिणाम है।

(2) **मौसमी तापमान और आत्महत्या**–सामान्यत: ऐसा माना जाता है कि ऐसा मौसम आत्महत्या की प्रेरणा देता है जिसमें आकाश अन्ध कारपूर्ण हो, मापमान बहुत कम हो और नमी अधिक हो। ऐसी स्थिति में आत्महत्या करने वाले को प्रकृति स्वयं दु:खी एवं निराश दिखाई देती है। निराशा से भरा वातावरण व्यक्ति के मन में विषाद उत्पन्न करता है और वह जीवन के प्रति उदासीन हो जाने के कारण आत्महत्या कर लेता है मॉण्टेस्क्यू ने आत्महत्या का ऋतु के साथ सम्बन्ध जोड़ा है। आपके अनुसार ठण्डे देशों तथा पतझड़ के मौसम में सर्वाधिक आत्महत्याएं होती हैं। किन्तु दुर्खीम कहते हैं, "अधिकतम आत्महत्या न तो सर्दियों में होती हैं और न पतझड़ में वरन् मधुर मौसम में होती हैं जब प्रकृति सर्वाधिक मुस्कराती है और तापमान सर्वाधिक सौम्य होता है। मनुष्य जीवन को त्यागना तब अधिक पसन्द करता है जब वह सबसे कम जटिल होता है।" ग्रीष्म-ऋतु में सबसे अधिक आत्महत्याएं की जाती हैं, इसकी पुष्टि के लिए दुर्खीम ने यूरोप के देशों का तुलनात्मक अध्ययन किया तथा पाया कि सभी देशों में गर्मी में आत्महत्या की दर अन्य मौसम की तुलना मे अधिक थी। उसके अध्ययन में गर्मियों तथा सर्दियों में आत्महत्या का अनुपात 6:4 था। ठण्डे देशों में गर्मी का मौसम सुहावना होता है। फेरी तथा मौरसेलि ने भी तापमान और आत्महत्या में अप्रत्यक्ष सम्बन्ध बताया दुर्खीम ने विभिन्न देशों के तापमान और आत्महत्या का अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला कि थर्मामीटर के परिवर्तन तथा आत्महत्या के परिवर्तन में परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। फेरी, लेम्ब्रोसो और मोरसेलि ने ग्रीष्म-ऋतु में अधिक आत्महत्या होने की बात कही। गर्मी शुरू होने पर शरीर में असन्तुलन होता है जिसके कारण अपराध होते हैं।

दुर्खीम ने इस सिद्धान्त की भी आलोचना की और कहा कि जिस प्रकार का शारीरिक असन्तुलन ग्रीष्म-ऋतु के शुरू में होता है, वैसा ही शीतकाल के प्रारम्भ में भी होता है। अत: इस बात को स्वीकार नहीं किया जा सकता कि गर्मी आत्महत्या का प्रेरक कारण है। दुर्खीम आत्महत्या के भौगोलिक अभिमत की आलोचना करते हुए कहते हैं कि तापमान और मौसम स्वयं आत्महत्या के लिए उत्तरदायी नहीं हैं वरन् इनका प्रभाव सामाजिक दशाओं पर पड़ता है तथा ये सामाजिक दशाएं आत्महत्या की दर को तय करती हैं।

सामाजिक क्रिया एक वास्तविक आधार

दुर्खीम तापमान और मौसम को आत्महत्या के लिए प्रम्यक्ष रूप से उत्तरदायी नहीं मानते। आपकी मान्यता है कि ये सामाजिक क्रिया की मात्रा को प्रभावित करते हैं। सामाजिक क्रिया में होने वाला बदलाव वास्तव में आत्महत्या की दर में अन्तर के लिए उत्तरदायी है। इस बात की पुष्टि करने के लिये दिन, सप्ताह और महीनें घटनें के साथ-साथ आत्महत्या की दर घटती-बढ़ती है, क्योंकि अधिकतर आत्महत्याएं दिन में होती हैं। दिन में सामाजिक क्रिया बढ़ जाती है, अत: आत्महत्याएं अधिक होती है। रात्रि में विश्राम का समय होता है और जीवन निष्क्रिय हो जाता है, अत: आत्महत्याएं कम होती हैं। इसी प्रकार से शुक्रवार,

शनिवार तथा रविवार को भी अन्य दिनों की अपेक्षा आत्महत्याएं कम होती हैं, क्योंकि इन दिनों सामाजिक क्रिया में शिथिलता आ जाती है। इसी प्रकार सर्दी में गांवों में अन्त:क्रिया शिथिल हो जाती है और गर्मी में तीव्र, इसलिए जून-जुलाई में आत्महत्याए अधिक होती हैं। प्रकाश तथा अन्य प्रकार की सुविधाएं नगरों में सामाजिक क्रिया को बहुत शिथिल नहीं होने देतीं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता कि आत्महत्या की दर एवं भौगोलकि कारकों का सीधा सम्बन्ध नहीं है वरन् यह सामाजिक क्रिया की तीव्रता एवं शिथिलता पर निर्भर है जिन पर भौगोलिक दशाओं का सीधा प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार भौगोलिक कारक का आत्महत्या से अप्रत्यक्ष और सामाजिक क्रियाओं से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है।

अनुकरण और आत्महत्या (Imitation and Suicide)

अनुकरण और आत्महत्या के बीच में भी सम्बन्ध जोड़ा जाता है। अनुकरण एक मानसिक क्रिया है जिसमें एक व्यक्ति दूसरों को देखकर स्वत: ही दूसरों के समान क्रिया करने लगता है। उदाहरण के रूप में, किसी को हंसते अथवा रोते देखकर वैसा ही करना अनुकरण है। आत्महत्या व अनुकरण का सम्बन्ध बताने से पूर्व दुर्खीम अनुकरण को परिभाषित करता है। उसके अनुसार अनुकरण का प्रयोग तीन अर्थो में किया जाता है-(i) जब किसी समान कारण से प्रभावित होकर किसी सामाजिक समूह के लोग संगठित चेतना के रूप में समान रूप से सोचते या अनुभव करते है तो यह अनुकरण है, (ii) समाज में प्रचलित विचारों, क्रियाओं तथा प्रथाओं के अनुरूप व्यवहार करना, अनुकरण है तथा (iii) जब हम किसी देखी हुयी घटना या क्रिया को स्वयं करते है तो यह अनुकरण है। दुर्खीम ने इस तीसरे अर्थ को ही स्वीकार किया है। आत्महत्या को देखने या जानने के कारण किसी व्यक्ति द्वारा आत्महत्या करना अनुकरण ही है।

दुर्खीम ने आत्महत्या के अनुकरण सिद्धान्त का परीक्षण दो आधारों पर किया (i) संक्रामक प्रवृत्ति के रूप तथा (ii) भौगोलिक वितरण के साथ।

(1) **आत्महत्या की संक्रामक प्रकृति**-दुर्खीम ने लिखा है कि ऐसे अनेक उदाहरण है जो आत्महत्या की संक्रामक प्रकृति को प्रकट करते हैं जैसे इटेम्पस के एक पुजारी ने आत्महत्या की तो कई और लोगों ने भी ऐसा ही किया। जेरुसलम में आक्रमण के समय कई यहूदियों ने आत्महत्या की। इसी प्रकार से आक्रमण के समय शत्रुओं से घिर जाने पर कई सैनिक भी आत्महत्या कर लेते हैं। दुर्खीम कहता है कि यह उदाहरण संक्रमण के नहीं वरन् सामाजिक संकल्प के उदाहरण हैं और ये सामूहिक मन:स्थिति का परिणाम हैं चाहे ये संक्रामक रोग की भांति ही क्यों न फैलती हों।

(2) **आत्महत्या का भौगोलिक वितरण और अनुकरण**-दुर्खीम कहता है कि यदि आत्महत्या अनुकरण का परिणाम है तो एक भौगोलिक क्षेत्र में होने वाली आत्महत्याओं का प्रभाव उसके पास के क्षेत्रों मे भी होना चाहिए भले ही उनका सामाजिक पर्यावरण अलग हो। किन्तु दुर्खीम ने बताया कि यूरोप में डेनमार्क व मध्य जर्मनी में आत्महत्याएं अधिक होती हैं जबकि निकट क्षेत्रों मे कम। इस प्रकार से कोई भी

देश जिसमें आत्महत्या की दर अधिक है अपने पड़ोसी देश को भी प्रभावित करना चाहिए, किन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है।

अत: दुर्खीम कहते हैं कि अनुकरण आत्महत्या की दर को प्रभावित नहीं करता, अनुकरण को समस्त सामूहिकता जीवन का मुख्य स्त्रोत नहीं माना जा सकता।

आत्महत्या के प्रकार (Types of Suicide)

दुर्खीम कहते हैं कि आत्महत्या एक सामाजिक तथ्य है, अत: सामाजिक कारक ही इसके विभिन्न प्रकारों के लिए उत्तरदायी हैं। आत्महत्या की तरंगे उठती हैं इन तरंगों का निर्माण विशिष्ट सामाजिक परिस्थितियों के द्वारा होता है आत्महत्या की तरंगों की भिन्नता के आधार पर ही उसके प्रकार तय होते हैं। दुर्खीम आत्महत्या के प्रकारों के विश्लेषण में सामाजिक तत्वों जैसे धर्म, परिवार, व्यवसाय आदि को महत्व देते हैं। आपने आत्महत्या के चार प्रकारों का उल्लेख किया है–अहवादी, परार्थवादी आदर्शवादी एव घातक आत्महत्या

(1) अहंवादी आत्महत्या–अहंवादी आत्महत्या में व्यक्ति अपने को समाज से अलग और कटा हुआ महसूस करता है वह सोचता है कि लोग उसकी उपेक्षा कर रहे हैं। एकान्तवाद से उसका बोझिल मन आहत होता है और वह अपनी जीवन-लीला समाप्त करने के लिए आत्महत्या कर बैठता है। व्यक्तिगत जीवन तभी सन्तुलित रहता है जब वह सामाजिक जीवन के साथ निरन्तर सम्बन्ध रहे। जब व्यक्तिगत जीवन सामाजिक जीवन से पृथकता अनुभव करने लगता है या समाज में संगठन एवं एकीकरण का अभाव होता है तो व्यक्ति अपने को समाज से मुक्त समझने लगता है, समाज का उस पर नियन्त्रण शिथिल हो जाता है। इस स्थिति को 'अतिशय वैयक्तिकता' कहते हैं। समाज की यह स्थिति आत्महत्या की दर में वृद्धि करती है। अहवादी आत्महत्या वे लोग करते हैं जिनका अहं बहुत प्रबल होता है। वे अपने स्वयं के स्व को समाज से श्रेष्ठ मानते हैं। व्यक्तिगत चेतना एवं सामाजिक चेतना में कोई साम्य नहीं होता। इस अवस्था में व्यक्ति खुद में ही इतना लीन रहता है कि वह सामूहिक जीवन में भाग लेना बन्द कर देता है, वह मात्र अपने स्वार्थो की पूर्ति एवं सन्तुष्टि में संलग्न रहता है। फलस्वरूप समूह के अन्य व्यक्ति उसे तिरस्कृत और नगण्य करने लगते हैं। सामूहिक जीवन से तिरस्कृत तथा उपेक्षित व्यक्ति अपने नीरस और एकांकीपन से उबरकर आत्महत्या की ओर उन्मुख होता है। अपने स्वार्थ में लीन होने एवं अपने अहं को सबसे ऊँचा मानने के कारण दुर्खीम इस प्रकार की आत्महत्या को स्वार्थपरक या अहंवादी आत्महत्या कहता है।

अहंवादी आत्महत्या का प्रमुख कारण उन सामाजिक समूहों का असंगठन और विघटन है। जिनका व्यक्ति सदस्य होता है। यदि समूह संगठित है तो उसके सदस्यों में एकता के भाव पाए जाएंगे और समूह के नियमों तथा आदर्शो का पालन किया जायेगा इसके विपरीत स्थिति में समूह में असंगठन, बिखराव और विघटन उत्पन्न होता है, व्यक्ति का समूह तथा स्वयं के प्रति लगाव समाप्त हो जाता है और वह आत्महत्या के लिए प्रेरित होता हे। समूह जितना दुर्बल होगा व्यक्ति की उस पर निर्भरता उतनी ही कम होगी। सामूहिक शक्ति प्रबल होने

पर वह व्यक्ति को सामाजिक कर्त्तव्यों और नियमों का पालन करने पर जोर देती हैं। सामूहिक शक्ति कमजोर होने पर व्यक्ति की स्वतन्त्रता बढ़ जाती है वह अपने भाग्य का निर्माता बन जाता है और अपने जीवन का अन्त करने का अधिकारी भी। संगठित समूह में लोगों में विचारों और भावनाओं का आदान-प्रदान होता है, उनमें एकता, लगाव और घनिष्ठता पायी जाती है। असंगठित समूह के सदस्य जीवन के कष्टों को चुपचाप अकेले ही सहन करने मे असमर्थ होते हैं, उनमें अतिशय व्यक्तिवाद पाया जाता है। समाज से अलग रहने पर व्यक्ति में उदासीनता, निष्क्रियता, आत्मकेन्द्रिता पनपती है, वह जीवन को निरर्थक और लक्ष्यहीन समझ कर आत्महत्या कर लेता है। दुर्खीम के अनुसार, आत्महत्या की दर सामाजिक एकीकरण के विपरीत दिशा की ओर चलती है। यदि सामाजिक एकीकरण अधिक है तो आत्महत्या की दर कम और यदि सामाजिक एकीकरण की मात्रा कम है तो आत्महत्या की दर अधिक होगी। इस प्रकार की आत्महत्या को जन्म देते हैं।

NOTES

अहंवादी आत्महत्या के सामाजिक कारण—दुर्खीम कहते हैं समाज से जितना अधिक लगाव हमारे मन में होता है उतना ही अधिक हम सामाजिक क्रियाओं मे भाग लेते हैं और जितना ही हम समाज से पृथकता का अनुभव करते हैं उतना ही जीवन के प्रति हमारा लगाव कम हो जाता है क्योंकि जीवन का स्त्रोत और लक्ष्य समाज है। धर्म, परिवार और समुदाय से, अलगाव बढ़ने पर व्यक्ति के मन में स्वयं के प्रति भी सन्देह एवं अलगाव पैदा हो जाता है। वह अपने जीवन का उद्देश्य खोजने लगता है, वह अपने आप से पूछता है—आखिर मेरे जीने का लक्ष्य क्या है? समाज से परे होने पर उसे जीवन खाली-खाली, निरुद्देश्य, कष्टप्रद प्रतीत होने लगता है, वह जीवन के प्रति उदासीन हो जाता है। सामाजिक पृथकता से उत्पन्न उदासीनता व्यक्ति को निष्क्रिय बना देती है, वह जीवन को उद्देश्यहीन और निरर्थक मानकर आत्महत्या कर बैठता है। इस प्रकार दुर्खीम अंहवादी आत्महत्या के लिये सामाजिक संगठन के अभाव को मूल कारण मानता है। दुर्खीम का मत है कि तीन प्रकार के समूह व्यक्ति के जीवन को प्रमुखतया प्रभावित करते है, वे हैं—धर्म, परिवार और राजनीतिक समूह। आपने इन तीनों की संगठनात्मक अवस्था के आधार पर अहंवादी आत्महत्या के कारणत्व की व्याख्या की है। धार्मिक जीवन से अलगाव, पारिवारिक जीवन से पृथकता तथा राजनीतिक एकीकरण अभाव होने पर आत्महत्या की दर में वृद्धि होती है। इस सन्दर्भ में आपने निम्नांकित तीन निष्कर्ष दिये हैं—

(i) आत्महत्या धार्मिक समाज के एकीकरण की मात्रा के साथ विपरीत दिशा में विचरण करती है।

(ii) आत्महत्या पारिवारिक समाज के एकीकरण की मात्रा के साथ विपरीत दिशा में विचरण करती है।

(iii) आत्महत्या राजनीतिक समाज के एकीकरण की मात्रा के साथ विपरीत दिशा में विचरण करती है।

इन तीनों ही निष्कर्षो की हम यहाँ व्याख्या करेंगे।

आपने इन तीनों समूहों की संगठनात्मक अवस्था के आधार पर अहंवादी आत्महत्या की व्याख्या की है। धार्मिक जीवन से अलगाव, पारिवारिक जीवन से पृथकता तथा राजनीतिकरण

का असर आत्महत्या की दर को बढ़ाता है। हम यहाँ तीनों ही कारकों का आत्महत्या से सम्बन्ध देखने का प्रयास करेंगे।

(i) **धर्म तथा अहंवादी आत्महत्या**–दुर्खीम ने यूरोप के विभिन्न धर्मावलंबियों में आत्महत्या की दर के आंकड़े प्रस्तुत कर यह दर्शाने का प्रयास किया कि जिन धर्मों में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता कम है, वहाँ आत्महत्या की दर भी कम है तथा जिन धार्मिक समूहों में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता अधिक है वहाँ आत्महत्या की दर भी अधिक है। दुर्खीम ने ईसाई धर्म की दो शाखाओं–प्रोटेस्टेण्ट और कैथोलिक मतावलंबियों में आत्महत्या की दर का तुलनात्मक अध्ययन करने पर पाया कि कैथोलिक की अपेक्षा प्रोटेस्टेण्ट धर्म मानने वालों में आत्महत्या की दर अधिक थी। आपने अपने अध्ययन में पाया कि स्पेन, पुर्तगाल और इटली में जहाँ कैथोलिक धर्म का प्रचलन अधिक था, आत्महत्या की दर कम थी। इसके विपरीत, प्रोटेस्टेण्ट देश प्रशिया, सैक्ससोनी तथा डेनमार्क में आत्महत्या की दर अधिक थी। इसी प्रकार से प्रोटेस्टेण्ट की तुलना में यहूदियों में भी आत्महत्या की दर कम देखी गयी। इस अन्तर का कारण यह है कि कैथोलिक एवं यहूदियों में धार्मिक एकीकरण अधिक है। वे परम्परा तथा रूढ़ियों का पालन अधिक करते हैं। इनकी तुलना में प्रोटेस्टेण्ट धर्म में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता अधिक है। वे परम्परा के स्थान पर नवीनता और परिवर्तन को अधिक पसन्द करते हैं। प्रोटेस्टेण्ट धर्म में व्यक्ति को स्वतन्त्र निर्णय लेने की अधिक छूट के कारण आत्महत्या की उसमें दर भी अधिक पायी जाती है। दुर्खीम कहता है कैथोलिक चर्च की अपेक्षा प्रोटेस्टेण्ट चर्च कम दृढ़ता के साथ संगठित है, फलस्वरूप इसके मतावलंबी अधिक आत्महत्या करते हैं। चूँकि यहूदी धर्म में एकता एवं नियन्त्रण की शक्ति अधिक पायी जाती है अत: इनमें आत्महत्या भी कम पायी जाती है। इस प्रकार से दुर्खीम ने यूरोपीय देशों से संकलित आंकड़ों के आधार पर आत्महत्या और धर्म में सहसम्बन्ध दर्शाने का प्रयत्न किया है।

(ii) **ज्ञान और शिक्षा तथा आत्महत्या**–दुर्खीम का मत है कि अशिक्षितों की तुलना में शिक्षित लोग अधिक आत्महत्या करते हैं, क्योंकि ज्ञान और शिक्षा सामान्य विश्वासों को कमजोर कर देते हैं। मौरसेलि ने बताया कि शिक्षा तथा ज्ञान के क्षेत्र में लगे हुए लोगों में आत्महत्या की दर सबसे अधिक थी। इसी प्रकार से उच्च वर्ग के लोग भी आत्महत्या अधिक करते हैं। इसी प्रकार से उच्च व्यवसाय में लगे लोग नौकरी करने वालों की अपेक्षा अधिक आत्महत्या करते हैं। स्त्रियों की अपेक्षा में पुरुष अधिक आत्महत्या करते हैं, क्योंकि उनमें शिक्षा का प्रतिशत अधिक होता है। शिक्षा तथा ज्ञान आत्महत्या के निर्धारक नहीं है, वरन् वे वैचारिक और बौद्धिक स्वतन्त्रता को जन्म देते हैं जिससे धार्मिक एकता कमजोर होती है जो कि आत्महत्या का एक मुख्य कारण है।

(iii) **परिवार तथा अंहवादी आत्महत्या**–दुर्खीम मानते हैं कि धर्म की तरह परिवार भी संगठित या असंगिठत होने पर आत्महत्या की दर को प्रभावित करता है। संगठित परिवार आत्महत्या को रोकता है। संगठित परिवार जीवन बीमा है जबकि विघटित परिवार अहंवादी आत्महत्या का प्रेरक है। तथ्यों के आधार पर दुर्खीम ने वैवाहिक

स्थिति, आयु एवं लिंग आदि के आधार पर आत्महत्या की दर को जोड़ा है। दुर्खीम के अनुसार–

(1) विवाहित व्यक्तियों की तुलना में अविवाहित व्यक्ति अधिक आत्महत्या करते हैं क्योंकि अविवाहित व्यक्ति का जीवन अधिक सुविधापूर्ण होता है, उसकी जिम्मेदारियां तथा चिन्ताएं कम होती हैं, अत: वे आत्महत्या करने में कम हिचकते हैं। किन्तु 16 वर्ष से कम आयु के अविवाहित बालक कम आत्महत्या करते हैं क्योंकि वे अवयस्क एवं अपरिपक्व होते हैं।

(2) विधुर या विधवा, विवाहितों की तुलना में अधिक एवं अविवाहितों की तुलना में कम आत्महत्या करते हैं।

(3) विवाहितों में भी बिना बच्चे वालों की तुलना में अधिक आत्महत्या करते हैं।

(4) सन्तानयुक्त विधुर सन्तानहीन विवाहित पतियों की तुलना में कम आत्महत्या करते हैं। सन्तानों की उपस्थिति प्राय: विवाह के बुरे प्रभावों को कम अथवा समाप्त कर देती हैं।

(5) मौरसलि का मत है कि विधुर की तुलना में विधवा स्त्रियां अधिक आत्महत्या करती हैं। क्योंकि विधुरों की अपेक्षा उनकी स्थिति दयनीय और अधिक कठिन होती है।

दुर्खीम कहते हैं कि धार्मिक समूह की भांति पारिवारिक समूह भी आत्महत्या को रोकने में सहायक है। परिवार में सदस्यों की संख्या बढ़ जाने पर आत्महत्या की दर भी कम हो जाती है। इसका तात्पर्य है कि एकाकी एवं छोटे परिवारों की तुलना में संयुक्त परिवार में आत्महत्याऐं कम होती हैं। परिवार का आकार बढ़ना मुसीबत को आमंत्रण देना नहीं है, वरन् इसके अभाव में तो व्यक्ति में जीने की इच्छा भी कम हो जाती है। लेकिन परिवार का महत्व भी तभी है जब इसके सदस्य पारिवारिक जीवन की सामूहिक गतिविधियों में भाग लें, वे एक समूह के रूप में क्रियाशील रहें तथा उनमें सामाजिक भावना प्रबल हो। छोटे परिवारों में सामान्य भावनाएं एवं स्मृतियाँ प्रबल नहीं होती हैं।

दुर्खीम कहते हैं जिस प्रकार से परिवार आत्महत्या के विरूद्ध एक शक्तिशाली सुरक्षा है, उसी प्रकार से वह जितना ही अधिक दृढ़ता से संगठित है उतनी ही अधिक दृढ़ता से वह रक्षा करता है। इस प्रकार आत्महत्या की दर पारिवारिक संगठन की मात्रा का साथ विपरीत दिशा में विचरण करती है। इन सभी निष्कषों से स्पष्ट है कि परिवार की एकता, सन्तानों की संख्या, आदि आत्महत्या की दर को प्रभावित करते हैं, क्योंकि इनका प्रभाव सामाजिक जीवन की सक्रियता और निष्क्रियता पर पड़ता है।

1. राजनीतिक संगठन और आत्महत्या–

दुर्खीम ने आत्महत्या का सम्बन्ध राजनीतिक दृढ़ता से भी जोड़ा है। जब किसी देश की राजनीतिक सुदृढ़ता छीली होने लगती है, तब आत्महत्या की दर बढ़ जाती है। जब राजनीतिक समाज उद्‌विकास और निर्माण की प्रक्रिया में होते हैं तो उनमें आत्महत्या की मात्रा नगण्य होती है। इतिहास इस बात का गवाह है कि समाज के उद्‌विकास काल में बहुत कम आत्महत्याएं होती थीं, किन्तु इसके विकास के साथ-साथ आत्महत्या की दर

NOTES

में भी वृद्धि होती गई। दुर्खीम ने यूनान तथा रोम का उदाहरण देकर बताया कि जब वहां राजनीतिक व्यवस्था शिथिल हुयी तो आत्महत्या की दर बढ़ गयी थीं। फ्रांस में राज्यक्रांन्ति के समय सामाजिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त होने से आत्महत्या की दर बढ़ गयी थी। हेल्वेटियस ने लिखा है, "वित्त सम्बन्धी अव्यवस्था तथा राज्य के संविधान में परिवर्तन से सामान्य भय का प्रसार हो गया। राजधानी में अनेकों आत्महत्याएं इसका दुःखद प्रमाण हैं।"

दुर्खीम कहते हैं राजनीतिक उथल-पुथल, आम चुनाव, राजनीतिक जीवन में होने वाली, असमान्य घटनाएं युद्ध तथा परिवर्तन, राष्ट्रीय संकट आदि के समय आत्महत्या की दर कम हो जाती है। इसका कारण यह है कि इस समय सामूहिकता भावना जागृत होती है तथा समाज में दृढ़ एकीकरण पनपता है जो अहंवादी आत्महत्या रोकता है। दुर्खीम कहते हैं कि राजनीतिक उथल-पुथल और संकट जनमानस को उत्तेजित करते हैं। वे सामान्य संकट से अपनी रक्षा करने के लिए अधिक संगठित हो जाते हैं जिससे आत्महत्याएं कम होती हैं। दुर्खीम लिखते हैं, "बड़े-बड़े सामाजिक उपद्रव और बड़े-बड़े प्रसिद्ध युद्ध सामूहिक भावनाओं को जागृत करते हैं दलगत भावना और देश भक्ति राजनीतिक और राष्ट्रीय आस्था दोनों को उत्तेजित करते हैं और एक की ही लक्ष्य की दिशा में एकाग्रतापूर्ण क्रिया अस्थायी रूप से ही सही समाज में अधिक दृढ़ एकीकरण उत्पन्न कर देती है।" अतः आत्महत्या की दर क्रांन्ति एवं संकट के कारण ही नहीं वरन् उससे जनित सुदृढ़ एकीकरण के कारण भी घट जाती है।

2. परार्थवादी आत्महत्या (Altruistic Suiclde)–

अहंवादी आत्महत्या के ठीक विपरीत कारणों से परार्थवादी आत्महत्या की जाती है। जब किसी समाज में इतना अधिक एकीकरण पाया जाता हो कि वहां व्यक्ति का महत्व ही समाप्त हो जाता हो, व्यक्ति की हर क्रिया का निर्देशन समाज हो, व्यक्तिगत रूचि तथा विचार को भुलाकर उसके स्थान पर सामूहिक रूचि तथा विचार को महत्व दिया जाता हो तो ऐसी स्थिति में की जाने वाली आत्महत्या को दुर्खीम परार्थवादी आत्महत्या कहते हैं। प्रो. ओ. पी. वर्मा ने परार्थवादी आत्महत्या का अर्थ स्पष्ट की दृष्टि से लिखा है कि जब सामाजिक एकीकरण इतना अधिक महबूत होता है कि मनुष्य के अपने व्यक्तित्व का कोई मूल्य ही नहीं रहता तब उसे अपने अन्दर आत्महत्या का सामना करने की शक्ति का कम अनुभव होता है। केवल समाज ही उसकी प्रत्येक क्रिया का निर्देशन होता है और वह यन्त्र की भांति, अपने व्यक्तिगत हित, रूचि या विचार के प्रति पूर्णतः अचेतन होकर सामूहिक विचार और सामूहिक रूचि एवं सामूहिक हिता का अनुसरण करता है। इस अभाव में जो आत्महत्याएं की जाती हैं उन्हें दुर्खीम ने परार्थवादी आत्महत्या का नाम दिया है, क्योंकि इनके लिए आत्महत्या करने वाले का व्यक्तिगत स्वार्थ, व्यक्तिगत निराशा या व्यक्तिगत उद्देश्य उत्तरदायी नहीं है।

परार्थवादी आत्महत्या में व्यक्तिगत हित सामूहिक हित में पूर्णतया विलीन हो जाते हैं। व्यक्ति तथा समाज के मध्यम की दूरी समाप्त हो जाती है। समूह के हितों के सामने व्यक्ति का कोई महत्व नहीं होता। अन्य शब्दों में, समाज व्यक्ति के व्यक्तित्व को निगल जाता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति के मन में समूह के प्रति अगाध श्रद्धा होती है और व्यक्ति हंसते-हंसते समाज के लिए बलिदान कर देने की भावना से प्रेरित होकर आत्महत्या कर

लेता है। दुर्खीमन ने परार्थवादी आत्महत्या के अनेक उदाहरण दिये हैं। डेनमार्क के सैनिक वृद्धावस्था अथवा रोग के कारण चारपाई पर मरना अपमान समझते थे, इसलिए विजिगोध की क्षेत्रीय सीमा पर स्थित पूर्वजों की चट्टान से कूदकर आत्महत्या कर लेते थे। ऐसी ही स्थिति स्पेन और हरूली में भी पाई जाती थी। भारत में कुछ सन्यासी प्राणायम द्वारा समाधिस्य होकर आत्महत्या कर लेते थे। सती-प्रथा, जौहर, आदि भी इसी प्रकार की आत्महत्याएं हैं। बौद्ध धर्म में निर्वाण की प्राप्ति के लिए आत्मदाह अथवा आत्मनाश को स्वीकृत दी गई है। जैन धर्म में भूखे रहकर आत्महत्या की जाती है। बनारस के गंगा घाट पर मुक्ति पाने के लिये करवट लेना अथवा गंगा के पानी में कूद पड़ना तथा जापान की हराकरी प्रथा, आदि परार्थवादी आत्महत्या के अन्तर्गत आते हैं। सियोस निवासी एक निश्चित आयु प्राप्त करने के बाद पुष्पमाला पहन कर समारोहपूर्वक विषपान करके जीवन का अन्त कर लेते थे। गॉल और हवाई द्वीपों में मुखिया की मृत्यु के पश्चात् उसके अनुयायी व सेवक भी आत्महत्या कर लेते थे। इन सब उदाहरणों से स्पष्ट है कि वृद्ध या रोगी, सैनिक, साधु-सन्यासी और सेवक, आदि आत्महत्या करना अपना सामाजिक दायित्व समझते थे। समाज की शक्ति या सामाजिक दायित्व उन्हें आत्महत्या की प्रेरणा देता था।

परार्थवादी आत्महत्या के बारे में पारसन्स लिखते हैं, "परार्थवादी आत्महत्या या सामूहिक चेतना की अभिव्यक्ति है, जो सामूहिक हितों के सम्मुख व्यक्ति को समर्पण करने की दृष्टि से शक्तिशाली है और जिसके अन्तर्गत सामूहिक जीवन की अपेक्षाकृत व्यक्ति के जीवन को अत्यधिक कम मूल्य दिया जाता है।"

परार्थवादी आत्महत्या को समझाते हुए स्वयं दुर्खीम ने लिखा है, "परार्थवाद के कारण की जाने वाली आत्महत्याओं को हम परार्थवादी आत्महत्या कहते हैं, किन्तु चूँकि इस प्रकार की आत्महत्या कर्त्तव्य समझकर की जाती हैं अत: हम इस शब्दावली (परार्थवादी आत्महत्या) के द्वारा यह बात भी प्रकट होनी चाहिए। अत: हम इस प्रकार की आत्महत्या को परार्थवादी आत्महत्या कहेंगे।" स्पष्ट है कि दुर्खीम ने परार्थवादी आत्महत्या के साथ कर्त्तव्य का तत्व जोड़कर इस प्रकार की आत्महत्या में समाज की शक्ति तथा सामूहिक चेतना के महत्व को प्रकट किया है। दुर्खीम ने भारत को परार्थवादी आत्महत्या का प्रमुख केन्द्र माना है जहाँ कई साधु-सन्यासी ब्रह्मलीन होने के लिए समाधि ले लेते थे। यहाँ प्रचलित बलि-प्रथा परार्थवादी आत्महत्या ही है। जैन धर्मावलम्बियों द्वारा 'संथरा' लेना जिसमें व्यक्ति भोजन का त्याग कर मृत्यु का इन्तजार करता है तथा काशी में करवट लेना भी आत्महत्या ही है। भीलों में शिव के सम्मुख आत्म-बलि दी जाती रही है। इस प्रकार की परार्थवादी आत्महत्याओं में व्यक्ति स्वयं को भूलकर अपने को ईश्वर या समाज का अंश समझ कर उसी में अपने को विलीन या एकाएक कर लेनें के लिए प्राणान्त कर लेता है। परार्थवादी आत्महत्या में अवैयक्तिकता अपने चरमोत्कर्ष पर होती है, परार्थवादी उग्र हो जाता है।

दुर्खीम ने पराथवादी आत्महत्याओं के तीन प्रकार बताये हैं–

(i) कर्त्तव्य-प्रधान परार्थवादी आत्महत्या

(ii) वैकल्पिक परार्थवादी आत्महत्या

(iii) उग्र परार्थवादी आत्महत्या

प्रथम प्रकार की आत्महत्या सामाजिक कर्त्तव्य समझकर की जाती है। यहाँ समाज की इच्छा अथवा आदेश को ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानकर व्यक्ति आत्महत्या के लिए बाध्य होता है। दूसरे प्रकार की आत्महत्या को समाज प्रतिष्ठा और सम्मान की दृष्टि से देखता है। अत: व्यक्ति प्रतिष्ठा पाने के लिए आत्महत्या करता है न कि मजबूर होकर। तीसरे प्रकार में सामाजिक पर्यावरण व्यक्ति को समाज की शक्ति के सम्मुख स्वतत्वहीन न मूल्यहीन होने की अनुभूति करा देता है और ऐसी स्थिति में समाज की शक्ति में अपने व्यक्तित्व को विलीन कर देने के लिए वह आत्महत्या करता है।

अहंवादी और परार्थवादी आत्महत्या में अन्तर

(Distionction between egoistic and Altruistic Suicide)

दुर्खीम ने अहंवादी एवं परार्थवादी आत्महत्या में निम्नांकित अन्तर बताया है–

(1) अहंवादी आत्महत्या में समाज व्यक्ति को आत्महत्या के लिए बाध्य नहीं करता वरन् समाज से अलगाव व्यक्ति को इतना निराश तथा उदासीन बना देता है कि उसके सामने मरने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं रहता है। जबकि परार्थवादी आत्महत्या में समाज प्रत्यक्ष रूप में ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देता है जो व्यक्ति को आत्महत्या के लिए बाध्य करती है, आत्महत्या उसके लिए एक कर्त्तव्य हो जाता है।

(2) अहंवादी आत्महत्या का मूल कारण अतिशय वैयक्तिकता है जबकि परार्थवादी का अत्यन्त न्यून वैयक्तिकता।

(3) अहंवादी आत्महत्या इसलिए होती है कि समाज व्यक्ति को अतनी स्वतंन्त्रता दे देता है कि वह सामाजिक जीवन से पलायन कर जाये उसकी चिन्ता न करे और अपने स्वेच्छा का पालन करे। जबकि परार्थवादी आत्महत्या इसलिये होती है कि इसमें समाज व्यक्ति पर पूरी तरह हावी हो जाता है, उसके व्यक्तित्व को निगल जाता है तथा अपने शिकंजे में कस लेता है।

(4) अहंवादी आत्महत्या में व्यक्ति इसलिए दुखी हो जाता है कि उसे अपने स्वयं के अलावा संसार में और कोई सत्य दिखाई नहीं देता है। जबकि परार्थवादी आत्महत्या में व्यक्ति इसलिए दुखी होता है कि उसे अपने व्यक्तित्व में कुछ भी सत्य दिखायी नहीं देता है, समाज ही सत्य होता है।

(5) अहंवादी आत्महत्या में व्यक्ति की व्याकुलता में असाध्य मानसिक पीड़ा व उत्साह हीनता होती है, व्यक्ति की क्रियाशीलता पर पूर्ण विराम लग जाता है। जबकि परार्थवाद में आशा की किरणें निहित होती है, वर्तमान जीवन से परे अन्नत सौन्दर्य से पूर्ण एक नई दुनियाँ में विश्वास होता है। इस जीवन की लीला को समाप्त कर सत्यम् शिवम् और सुन्दरम् की परिधि में प्रवेश की लालसा होती है।

(6) अहंवादी आत्महत्या का सम्बन्ध नैतिक क्षीणता तथा नैतिक अभाव से है जबकि परार्थवादी आत्महत्या का सम्बन्ध नैतिक चेतना की शक्ति, सामाजिक भागीदारी, त्याग और सम्पूर्ण की भावना से अधिक होता है।

दोनों प्रकार की आत्महत्याएं करने वालों की मन:स्थिति का उल्लेख करते हुए दुर्खीम लिखते हैं, "एक जीवन से इसलिए अलग है क्योंकि ऐसा कोई लक्ष्य न देखकर जिससे वह अपने को सम्बन्धित कर सके, वह स्वयं को व्यर्थ और उद्देश्यहीन अनुभव करता है, दूसरा इसलिए क्योंकि उसके सामने लक्ष्य होता है, किन्तु वह इस जीवन से परे कहीं होता है जिसे पाने के लिए यह जीवन उसे बाधक दिखाई देता है।"

NOTES

सैनिक जीवन और परार्थवादी आत्महत्या

दुर्खीम ने परार्थवादी आत्महत्या का सम्बन्ध विशेष रूप से सैनिक जीवन से जोड़ा है। उसने आस्ट्रेलिया, इटली, इंग्लैण्ड, फ्रांस आदि यूरोपीय देशों से संकलित तथ्यों के आधार पर यह दर्शानें का प्रयास किया है कि नागरिकों की अपेक्षा सैनिकों में आत्महत्या अधिक पायी जाती है। इसका कारण सैनिक अधिकारियों मे अविवाहित रहने की प्रवृत्ति उनमें मद्यपान की अधिकता, सैनिक जीवन की कठोरता और अनुशासन आदि नहीं है। दुर्खीम सैनिकों में अधिक आत्महत्या के कारण उन सामाजिक दशाओं को मानते हैं जिनके प्रभाव से उनकी विशिष्ट आदतों एवं मानसिक अवस्थाओं का निर्माण होता है।

दुर्खीम के अनुसार सैनिक का एक गुण अवैयक्तिकता है जिसके कारण वह स्वयं का कोई मूल्य नहीं समझता, वह अधिकारियों के आदेश का अक्षरश: पालन निर्विवाद रूप से करता है, सोच व तर्क का उसमें कोई स्थान नहीं होता है। अनुशासन के कारण वह अपने को भूल कर बाहरी शक्ति के आदेश को मानता है। सेना एक संगठित तथा अनुशासित समूह है जिसमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की छूट नहीं होती, इसलिए उसमें परार्थवादी आत्महत्या की दर अधिक होती है। सेना में सेवा की अवधि बढ़ने पर आत्महत्या की दर भी बढ़ जाती है।

दुर्खीम कहता है कि नागरिकों में अहंवादी आत्महत्या अधिक होती है जबकि सैनिकों में परार्थवादी। दुर्खीम कहता है कि आधुनिक युग में व्यक्तिवादी प्रवृत्ति के बढ़ने के कारण सैनिकों में उत्साह, आज्ञापालन, समर्पण एवं अनुशासन में कमी आई है।

दुर्खीम ने परार्थवादी आत्महत्या का परार्थ संगत सिद्ध करने का भी प्रयास किया हैं चूँकि परार्थवादी आत्महत्या त्याग, बलिदान और विरक्ति की भावना के कारण की जाती है इसलिए इसे परार्थवादी कहा जाना उचित है। इनके पीछे निर्वाण, ईश्वर प्राप्ति, सामाजिक अपमान से बचने व सामाजिक सम्मान पाने की भावना, देश प्रेम आदि होता है जिन्हें नैतिक गुण के रूप में स्वीकार किया जाता है और करने वालों के प्रति सामाजिक सहानुभूति एवं आदर प्रदर्शित किया जाता है।

3. आदर्शहीन आत्महत्या–

इस प्रकार की आत्महत्या उस समय की जाती है जब समाज में नियमहीनता आकस्मिक परिवर्तन उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति निराशा या अत्यधिक प्रसन्नता अनुभव करता है जिससे उनका मानसिक संन्तुलन बिगड़ जाता है और वह आत्महत्या कर बैठता है। आर्थिक संकटों के समय अथवा पारिवारिक व वैवाहिक जीवन में भी आदर्शवादी स्थिति में आत्महत्या की जाती है। संक्षेप में, आदर्शहीन आत्महत्या उन परिस्थितियों से पैदा होती है जिसका सामना व्यक्ति सामान्य जीवन में नहीं करता ऐसी स्थिति में वह नयी

परिस्थितियों से अनुकूलन नहीं कर पाता, उसका सामाजिक सन्तुलन बिगड़ जाता है। समूह का नियंत्रण खत्म हो जाता है जिससे इस प्रकार की आत्महत्याओ को बढ़ावा मिलता है।

आदर्शवादी आत्महत्या को समझाने की दृष्टि से दुर्खीम ने बताया कि जब सामाजिक नियमों का प्रभाव कमजोर पड़ जाता है, लोग मनमानें ढंग से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने लगते हैं, तब समाज में अव्यवस्था फैल जाती है। आर्थिक तथा अन्य प्रकार के संकट सामाजिक नियन्त्रण की शिथिलता के लिए उत्तरदायी हैं। समाज की इसी अवस्था को दुर्खीम ने आदर्शहीनता नाम दिया है। इस दशा में लोगों का मार्गदशन करने के लिए उनके सम्मुख कोई आदर्श-नियम नहीं रहते तथा वे दिशाहीन होकर मनमाना व्यवहार करने लगते हैं। आदर्शहीनता की अवस्था में व्यक्ति विचलित व्यवहार की ओर अधिक मात्रा में प्रवृत्त होते हैं। आत्महत्या इसी व्यवहार का एक रूप है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आदर्शहीन सामाजिक अवस्था के प्रभाव से जो आत्महत्याएं की जाती हैं, उनको ही दुर्खीम आर्दशहीन आत्महत्या कहते हैं। दुर्खीम ने आर्दशहीन आत्महत्या का सम्बन्ध आर्थिक संकट एवं वैवाहिक जीवन से भी जोड़ा है।

(1) **आर्थिक संकट एवं आत्महत्या**—आर्थिक संकटों में आत्महत्या की प्रवृत्ति काफी बढ़ जाती है। दुर्खीम ने तथ्यों के आधार पर यह प्रमाणित किया है कि आत्महत्या की दर आर्थिक संकट दोनों ही स्थितियों में बढ़ती है। निर्धनता और व्यापारिक हानि एवं दीवालिया होने की स्थिति आत्महत्या के लिए प्रेरित नहीं करती यदि ऐसा होता तो समृद्धि के समय भी अधिक आत्महत्याएं नहीं होनी चाहिए। दुर्खीम ने फ्रांस व एशिया का उदाहरण देकर बताया कि वहां राजनीतिक तथा आर्थिक प्रगति के समय आत्महत्या की दर बढ़ गई थी। अधिक विपन्नता और अधिक सम्पन्नता दोनों ही दशाओं में स्थितियाँ सामान्य नहीं होती है, आदर्श भुला दिये जाते हैं और नियमहीनता की स्थिति पैदा होती है। आर्थिक संकट के समय व्यक्ति नयी परिस्थितियों से अनुकूलन नहीं कर पाता। ऐसा ही अचानक धन एवं शक्ति की वृद्धि के समय भी होता है। पुराने प्रतिमान टूट जाते हैं और नये जल्दी विकसित नहीं हो पाते। आकांक्षाओं पर नियंन्त्रण नहीं रहता तथा असंतोष बढ़ जाता है, फलस्वरूप आत्महत्याएं भी बढ़ जाती हैं।

(2) **वैवाहिक जीवन और आदर्शहीन आत्महत्या**—दुर्खीम कहते हैं कि आर्थिक और औद्योगिक क्षेत्र में ही आदर्शहीन अवस्था दिखाई नहीं देती वरन् वैवाहिक जीवन में भी दिखाई देती है। वैधव्य संकटपूर्ण दशा है। पति या पत्नी की मृत्यु के कारण परिवार में आदर्श हीनता पैदा हो जाती है। विधवा या विधुर नयी परिस्थितियों से अनुकूलन नहीं कर पाता और आत्महत्या का मार्ग अपना लेता है। यही बात पृथक्करण, परित्याग और विवाह विच्छेद की स्थिति पर भी लागू होती है। इसका कारण यह नही है कि वैधव्य, परित्याग या विवाह-विच्छेद आत्महत्या का कारण है। वास्तव में असन्तुलित पारिवारिक जीवन ही इसका कारण है।

तलाक का अर्थ है वैवाहिक नियन्त्रण का समाप्त हो जाना। तलाक के कारण अलग होने के बजाय आत्महत्या का चयन करता है।

(3) **घातक आत्महत्या**—उपर्युक्त तीन प्रकार की आत्महत्याओं के अतिरिक्त दुर्खीम ने कुछ ऐसी आत्महत्याओं का भी उल्लेख किया है जिन्हें वह घातक आत्महत्या कहता

है। इस प्रकार की आत्महत्या के लिए उत्तरदायी कारक अत्यधिक नियंन्त्रण, आदर्शवादिता और कठोर नियम पालन, आदि हैं, जिनमें तंग आकर व्यक्ति स्वंतत्रत होने की इच्छा से आत्महत्या कर लेता है। इस प्रकार की आत्महत्या के कुछ उदाहरण निम्न प्रकार है।

NOTES

जब कोई युवक अपनी स्वतन्त्र वासना पूर्ति की प्रवृत्ति को सन्तुष्ट करना चाहता है, किन्तु समाज का नियम उसे एक पत्नी तक ही सीमित रखने को बाध्य करता है, तो यह मजबूरी ही उसे आत्महत्या की प्रेरणा देती है। इसी प्रकार से सन्तानहीन विवाहित स्त्री माँ बनना चाहती है, किन्तु सामाजिक नियम उसे परपुरुष से संसर्ग की अनुमति नहीं देते ऐसी स्थिति में वह व्याकुल होकर आत्महत्या कर लेती है। इसी प्रकार से दास लोग भी अपने मालिक के अत्याचारों तथा शोषण से तंग आकर यदा-कदा आत्महत्या कर लेते हैं।

आत्महत्या के व्यक्तिगत स्वरूप (Individual forms of Suicide)

दुर्खीम कहता है कि आत्महत्या सामाजिक इसलिए है कि इसके प्रेरक तत्व समाज की संरचना एवं प्रकार्य में निहित है। किन्तु यह व्यक्तिगत आचरण भी है। प्रत्येक आत्महत्यारा निराश एवं जीवन के भार से दुःखी होता है जिसके स्त्रोत भिन्न-भिन्न होते हैं। इन स्त्रोतों के आधार पर ही दुर्खीम ने प्रत्येक प्रकार की आत्महत्या के व्यक्तिगत स्वरूपों का उल्लेख किया है।

(1) **अहंवादी आत्महत्या के व्यक्तिगत स्वरूप**—इस प्रकार की आत्महत्या की विशेषता उदासीनता, निराशपूर्ण पृथकता और अत्यधिक वैयक्तिकता है जिसके फलस्वरूप व्यक्ति अपने व्यवसाय, समूह, श्रम तथा पारिवारिक कर्त्तव्यों के प्रति उदसीन हो जाता है। वह अपने मे ही केन्द्रित रहता है, अन्तमुर्खी और गतिहीन हो जाता है। यह चिन्तन असमाजिकता व अलगाव को जन्म देता है जिसकी अन्तिम परिणिति आत्महत्या होती है। उदसीनता या दुख के कारण ही नहीं वरन् व्यक्ति मस्ती एवं खुशी से भी आत्महत्या कर सकता है। इसे दुर्खीम एपीक्यूरियन आत्महत्या कहता है।

(2) **परार्थवादी आत्महत्या के व्ययक्तिगत स्वरूप**—परार्थवादी आत्महत्या सक्रिय बलिदान है इसमें वह अपनी आत्मा के निर्देश को मानता है। स्वाभिमान की रक्षा के लिए अथवा अपने साहस को सिद्ध करने के लिए सैनिक का आत्म बलिदान इसी श्रेणी की आत्महत्या है।

(3) **आदर्शहीन आत्महत्या के व्यक्तिगत स्वरूप**—इसमें न तो उत्साह का तत्व होता है और न उदासीनता का। यह तो क्रोध व चिड़चिड़ाहट से प्रेरित होता है। दूसरों को मारकर खुद मर जाना इसी प्रकार की आत्महत्या है। किसी कलाकार द्वारा अधिक प्रसिद्धि प्राप्त कर लेने या अपमानित होने की दशा में की जाने वाली आत्महत्या भी इसी श्रेणी में आती है।

दुर्खीम कहते हैं कि आत्महत्या के शुद्ध रूप नहीं मिलते हैं वरन् इनमें से दो या सभी मिश्रित रूप में भी मौजूद हो सकते हैं।

आत्महत्या की विधियाँ—दुर्खीम ने आत्महत्या की अनेक विधियों का उल्लेख किया है। जिनमें से चुनाव समाज में प्रचलित प्रथाओं एवं प्रचलनों के आधार पर किया जाता है।

फांसी लगाना, डूब जाना, गोली मार लेना, जहर खा लेना, सांस घोट लेना आदि आत्महत्या की प्रमुख विधियाँ हैं। भिन्न-भिन्न विधियों का प्रचलन देखने को मिलता है। साधनों की उपलब्धता भी एक प्रमुख तत्व है।

आत्महत्या की सामाजिक प्रकृति (Social Nature of Suicide)

दुर्खीम अपनी पुस्तक 'The Suicide' के अन्तिम खण्ड में आत्महत्या की व्याख्या एक सामाजिक घटना के रूप में करते हैं। उनके अनुसार आत्महत्या एक सामाजिक तथ्य है। यह सामाजिक परिस्थितियों की देन है जिसकी दर का निर्धारण सामाजिक कारकों के द्वारा होता है न कि भौगोलिक, मनोवैज्ञानिक एवं जैविकीय कारकों द्वारा। अतः इसकी समाजशास्त्रीय व्याख्या की जानी चाहिए। समाज की नैतिक संरचना आत्महत्याओं की दर निर्धारित करती है। सामूहिक दबाव ही व्यक्ति को आत्महत्या के लिए प्रेरित करता है। वे इस सन्दर्भ में टार्डे के अनुकरण के सिद्धान्त को भी अस्वीकार करते हैं। वे आत्महत्या की प्रेरक शक्ति सामूहिक चेतना को मानते हैं जो व्यक्तिगत चेतना से अलग होती है।

दुर्खीम आत्महत्या को एक अनैतिक कार्य मानते हैं क्योंकि लगभग सभी समाजों में इसे पाप या अपराध मानकर इस पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया है। यह कानून, धर्म एवं नैतिकता के विरूद्ध कार्य है।

दुर्खीम ने आत्महत्या को एक व्याधिकीय घटना माना है। आत्महत्या सार्वभौमिक और सार्वकालिक होते हुए भी निरपेक्ष रूप से सामान्य तथ्य नहीं कही जा सकती। दुर्खीम ने आंकड़े प्रस्तुत कर यह बताया है कि सभ्यता के विकास के साथ-साथ आत्महत्या की दर में भी आंकड़े प्रस्तुत कर यह बताया है कि सभ्यता के विकास के साथ-साथ आत्महत्या की दर में भी वृद्धि हुई है। अतः आत्महत्या उन परिस्थितियों का परिणाम है जो सभ्यता के कदम के साथ बढ़ती है।

आत्महत्या के निवारण के उपाय (Measures to get rid of Suicide)

दुर्खीम ने आत्महत्या के व्याधिकीय घटना मानकर इसके निराकरण के उपायों पर भी विचार किया है जो निम्नांकित हैं–

(1) कठोर दण्ड की व्यवस्था की जाय जिससे लोग आत्महत्या न करें। किन्तु दुर्खीम कहता है कि इसके स्थान पर नैतिक दण्ड की व्यवस्था की जाय आत्महत्यारे को अंतिम संस्कार से वंचित किया जाय, उसके पारिवारिक, नागरिक तथा राजनीतिक अधिकार छीन लिए जायें।

(2) मौरसेलि एवं फ्रैंक का मत है कि शिक्षा के प्रचार-प्रसार से आत्महत्या की दर कम की जा सकती है। शिक्षा द्वारा चरित्र, बुद्धि और विचारों को शुद्ध किया जा सकता है। किन्तु दुर्खीम कहता है कि यदि समाज का पर्यावरण दूषित है तो स्कूल का वातावरण बच्चों का बहुत अधिक सुधार नहीं कर सकता क्योंकि शिक्षा भी समाज पर ही निर्भर है।

(3) अहंवादी एवं आदर्शवादी आत्महत्या के निवारण के लिए, दुर्खीम समूह में संगठन की पुनर्स्थापना एवं निरन्तरता का सुझाव देते हैं, जिससे समूह में नियन्त्रण की शक्ति में वृद्धि हो और व्यक्ति अपने को समूह से जुड़ा हुआ अनुभव करे। क्योंकि इन दोनों

प्रकार की आत्महत्या का कारण समाज में नियन्त्रण एवं संगठन की शिथिलता में वृद्धि होना है। दुर्खीम कहते हैं कि समूह में संगठन एवं नियन्त्रण की पुनर्स्थापना का कार्य राजनीतिक संस्थाएँ, धर्म और परिवार नहीं कर सकते वरन् व्यावसायिक समूह ही वर्तमान समय में यह कार्य कर सकते हैं क्योंकि एक ही व्यवसाय में संलग्न व्यक्तियों का समान कार्य, समान पर्यावरण और समान सांस्कृतिक मान्यताएं उन्हें सामान्य जीवन की सामग्री प्रदान करती हैं। व्यावसायिक समूह उन्हें हर समय प्रभावित करते हैं।

NOTES

(4) दुर्खीम ने आत्महत्याओं को रोकने के लिए तलाक की छूट बन्द कर देने का भी सुझाव दिया है। तलाक का कारण स्त्री-पुरुष में असमानता और असामंजस्य है इन्हें रोकने के लिए स्त्री-पुरुषों को समान रूप से सामाजिक कार्यों में भाग लेना चाहिए।

(5) दुर्खीम कहता है कि आधुनिक युग में आत्महत्या में वृद्धि का एक कारण व्यक्ति की इच्छाओं की असीमित वृद्धि और नैतिक पतन है, अतः आत्महत्या रोकने के लिए इच्छाओं को सीमित किया जाए तथा नैतिकता में वृद्धि की जाय। वर्तमान में राज्य का कार्य क्षेत्र एवं नियन्त्रण बढ़ गया है। उसका नियन्त्रण भी औपचारिक ही है। वर्तमान में समाज का दबाव कम हुआ है और व्यक्ति का मनोबल गिरा है एवं राज्य व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों को संगठित करन में असफल रहा है। अतः ऐसे स्थानीय समूह विकसित किये जाये जो राज्य सत्ता के अधीन होते हुए भी स्वतन्त्र सत्ता रखें, वे सामाजिक संगठन एवं शक्ति में वृद्धि का कार्य करें। सामुदायिक जीवन के केन्द्रों का भी विस्तार किया जाय।

(6) सभ्य समाज में आत्महत्या में वृद्धि का कारण नवीन व्याधिकीय परिस्थितियां है, जिनमें परिवर्तन किया जाना चाहिए। इसके लिए वे व्यावहारिक समाजशास्त्र से सहयोग का सुझाव देते हैं।

दुर्खीम के आत्महत्या सिद्धान्त की समालोचना
(Criticism of Durheim's Theory of Suicide)

दुर्खीम की आत्महत्या का सिद्धान्त समाजशास्त्रीय चिन्तन के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण देन है। 'आत्महत्या' नामक पुस्तक के माध्यम से दुर्खीम ने समाजशास्त्र का शिलान्यास किया है। अब तक की मान्यताओं के अनुसार आत्महत्या को एक व्यक्तिगत कारण माना जाता था। निराश, मानसिक दुर्बलता, पैतृक दोष आदि व्यक्तिगत कारणों को ही आत्महत्या के लिए उत्तरदायी ठहराया जाता था, किन्तु दुर्खीम ने तार्किक आधार पर सभी प्रचलित सिद्धान्तों का खण्डन किया और उनके स्थान पर समाजशास्त्रीय सिद्धान्त प्रतिपादित किया। इस ग्रन्थ में दुर्खीम ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि सामाजिक समस्याएं सामाजिक परिस्थितियों की देन है, इसलिये इन समस्याओं का समाधान करने के लिये समस्याओं के कारणों की खोज सामूहिक जीवन में ही की जानी चाहिए। आत्महत्या की समस्या की व्याख्या के दौरान दुर्खीम ने अपने समूह वादी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और यह दर्शाने का प्रयास किया कि समूह व्यक्ति से बड़ा है, व्यक्ति से ऊपर है, समूह व्यक्ति का नियंत्रण है, नियामक और मार्गदर्शक है। वह व्यक्तिगत चेतना की संचालक शक्ति है। व्यक्ति समूह का प्रतिबिम्ब मात्र है, अनुचर है। व्यक्ति समाज पर निर्भर ही नहीं वरन् समाज से अलग होकर अस्तित्वहीन एवं व्यक्तित्वहीन है। व्यक्ति जो कुछ है और जो कुछ करता हैं, उसमें समाज किसी न किसी

रूप में विद्यमान रहता है। आत्महत्या जिसकी योजना भी व्यक्ति गुप्त रूप से बनाता है और जिसे सर्वाधिक व्यक्तिगत तथ्य समझा जाता है, समाज की देन है।

NOTES

'आत्महत्या' ग्रन्थ की रचना में दुर्खीम ने अपनी सैद्धान्तिक व पद्धतिशास्त्रीय मान्यताओं का प्रयोग किया है। सैद्धान्तिक रूप से आप अपने इस मूल विचार को सिद्ध करना चाहते थे कि सामाजिक तथ्य वैयक्तिक चेतना से ऊपर एक अलग एवं स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखते हैं। व्यक्ति के सामाजिक क्रिया कलापों का उद्‌गम सामूहिक चेतना में, समाज में निहित है। आप आत्महत्या जैसे वैयक्तिक तथ्य को सामाजिक तथ्य प्रमाणिक करने के लिए उत्सुक थे।

उपुर्यक्त अच्छाइयों के बावजूद भी दुर्खीम के आत्महत्या सिद्धान्त की विभिन्न विद्वानों ने आलोचना की है, जो निम्नांकित हैं–

(1) आत्महत्या जैसी घटनाओं की व्याख्या आंकड़ों के आधार पर करना उतना सरल प्रतीत नहीं होता जितना दुर्खीम ने किया। सांख्यिकीय के आधार पर समस्त सामाजिक घटनाओं अथवा सामाजिक घटना के समस्त पहलुओं को स्पष्ट नहीं किया जा सकता। यद्यपि दुर्खीम ने यूरोपियन एवं अमेरिकन समाज के आत्महत्या के आंकड़ों का भंडार प्रस्तुत किया फिर भी अनेकों आत्महत्याओं का रिकार्ड उसके कोष से या तो बाहर था या उनका कोई रिकार्ड ही उपलब्ध नहीं था।

(2) दुर्खीम का मत है कि आदिम मनुष्य की तुलना में आधुनिक मानव में आत्महता की प्रवृत्ति अधिक है। जिलबोर्ग (Zilbourg) एवं स्टेन्मटज् (Hteinmetz) दोनों ने तथ्यों के संकलन के आधार पर दुर्खीम के विपरीत यह बात कही है कि आत्महत्या की प्रवृत्ति आधुनिक मनुष्य की तुलना में आदिम मनुष्यों में अधिक थी।

(3) दुर्खीम ने आत्महत्या के कारणों में वैयक्तिक कारणों की उपेक्षा की है तथा सामाजिक कारणों को अत्यधिक महत्व देने की भूल की है। इस सन्दर्भ में बार्नेस लिखते हैं, "आत्महत्या के सिद्धान्त में दुर्खीम ने व्यक्तिगत प्रेरणा तथा सांस्कृतिक कारकों को कोई महत्व नहीं दिया है जो व्यक्ति को आत्महत्या के लिए प्रेरित करते हैं।"

(4) दुर्खीम ने आत्महत्या के कारणों में जैविकीय एवं मनोवैज्ञानिक कारणों की भी उपेक्षा की है जबकि यह दोनों ही कारण अनेक बार आत्महत्याओं को प्रेरित करते हैं।

(5) दुर्खीम के बारे में यह कहा जाता है कि अनुभव सिद्ध और तथ्यात्मक समाजशास्त्र की स्थापना की धुन में उसने सामाजिक घटनाओं की अमूर्त प्रकृति को समझते हुए भी उन्हें गणनात्मक बनाने का प्रयास किया है।

(6) दुर्खीम का सांख्यिकीय विवेचन आत्महत्या की अन्तर्निहित पृष्ठभूमि का आत्महत्या करने वाले के प्रतीतिक उद्देश्य का पूर्णतया प्रदर्शन करने में असमर्थ है।

अध्याय का संक्षिप्त सार

दुर्खीम का ग्रन्थ केवल आत्महत्या का अध्ययन नहीं यह हमारा तथा उन समाजों का भी अध्ययन है जिनमें हम रहते हैं। यदि यह केवल आत्महत्या के विषय में है तो यह इस घटना के अध्ययन में प्रथम श्रेणी में रखा जायेगा, किन्तु यह मनुष्य और समाज के सम्बन्ध में और उनके पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में भी है और इसलिए समाजशास्त्र के इतिहास

में एक शास्त्रीय ग्रन्थ के रूप में इसका और भी ऊँचा स्थान है।" वर्मा लिखते हैं, "दुर्खीम का यह ग्रन्थ ना केवल आत्महत्या की विवेचना करता है अपितु समाजशास्त्र की अनेक समस्याओं पर प्रकाश डालता है। यह समाजशास्त्रीय अध्ययन की विधि, तथ्य, संकलन, पारिवारिक जीवन, धार्मिक जीवन, राजनीतिक जीवन और आर्थिक दशाओं, प्रजातीय विशेषताओं, जैविकीय और मानसिक अवस्थाओं, भूगोल, खगोल, जलवायु, लिंग, आयु, विवाह, तलाक इत्यादि की अनेक सैद्धान्तिक तथा विधिशास्त्रीय समस्याओं का विश्लेषण करता है और सबसे अधिक यह व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध में मधुरता और विखण्डन को स्पष्ट करता है। आधुनिक युग में सभ्यता और प्रगति के व्याधिकीय परिणामों की ओर संकेत करके व्यावसायिक संगठनों के विकास के द्वारा सामूहिक जीवन का नियमन तथा नियंत्रण करके इन समस्याओं का व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत करता है और समाजशास्त्रीयों के लिए वैयक्तिक और वैज्ञानिक अध्ययन का मार्ग प्रशस्त करता है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न–

1. आत्महत्या की परिभाषा लिखिए तथा इसके कारणों पर प्रकाश डालिए।
2. आत्महत्या के प्रकारों की विवेचना कीजिए।
3. दुर्खीम के आत्महत्या सम्बन्धी सिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन कीजिए।
4. "आत्महत्या एक सामाजिक घटना है।" इस कथन को सिद्ध कीजिए।
5. आत्महत्या की सामाजिक प्रकृति को समझाते हुए इसके निवारण के उपाय लिखिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न–

1. आत्महत्या क्या है? परार्थवादी आत्महत्या का वर्णन कीजिए।
2. सैनिक जीवन और परार्थवादी आत्महत्या का क्या सम्बन्ध है? स्पष्ट कीजिए।
3. दुर्खीम ने आदर्शहीन एवं अहंवादी आत्महत्या के कौन-कौन से प्रकार बताये हैं।
4. दुर्खीम के आत्महत्या सिद्धान्त का समालोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न–

1. दुर्खीम के अनुसार निम्नांकित में से आत्महत्या के प्रकारों का कौन-सा सैट सही हैं?

   (अ) अहंवादी, परार्थवादी, अस्वाभाविक

   (ब) अहंवादी, संवेगात्मक, अस्वाभाविक

   (स) नैतिकतावादी, अहंवादी, संवेगात्मक

   (द) अहंवादी, परार्थवादी, नैतिकतवादी

2. समूह से समुचित एकीकरण न हो पाने की दशा में व्यक्ति द्वारा की जाने वाली आत्महत्या को कहा जाता हैं–

(अ) परार्थवादी आत्महत्या (ब) अहंवादी आत्महत्या
(स) अस्वाभाविक आत्महत्या (द) इनमें से कोई नहीं

3. निम्नलिखित में से किस समाज में परार्थवादी आत्महत्या की दर सबसे कम होती है–

(अ) परम्परावादी समाज में (ब) जनजातीय समाज में
(स) ग्रामीण समाज में (द) औद्योगिक समाज में

4. किसी विशेष परिस्थिति में सेना के आत्मघाती दस्ते के द्वारा जीवन का बलिदान करना उदाहरण है–

(अ) अहंवादी आत्महत्या का (ब) अस्वाभाविक आत्महत्या का
(स) परार्थवादी आत्महत्या का (द) नैतिकवादी आत्महत्या का

5. दुर्खीम के अनुसार आत्महत्या एक व्यक्तिगत घटना नहीं है बल्कि एक सामाजिक घटना है। यह कथन है–

(अ) सत्य (ब) असत्य
(स) दुर्खीम के अनुसार असत्य (द) मार्क्स के अनुसार सत्य

6. 'ली सुसाइड' के लेखक कौन हैं?

(अ) दुर्खीम (ब) सोरोकिन
(स) ऑगवर्न (द) मार्क्स

7. दुर्खीम ने कितने प्रकार की आत्महत्या बतायी है?

(अ) पाँच (ब) चार
(स) तीन (द) दो

8. जापान की 'हराकरी' किस प्रकार की आत्महत्या के उदाहरण हैं?

(अ) परार्थवादी (ब) अहम्वादी
(स) विसंगति (द) घातक

9. निम्नांकित में से आत्महत्या की दर किन में अधिक होती है-

(अ) शिक्षित (ब) अशिक्षित
(स) साक्षर (द) निरक्षर

10. जब व्यक्ति समाज से अपने को कटा हुआ महसूस कर आत्महत्या करता है तो ऐसी आत्महत्या को कहते हैं-

(अ) परार्थवादी आत्महत्या (ब) असमान्य आत्महत्या
(स) घातक आत्महत्या (द) अर्हवादी आत्महत्या

उत्तर– (1) अ, (2) ब, (3) द, (4) स, (5) अ, (6) अ, (7) ब, (8) अ, (9) अ, (10) द।

●●

6 मैक्स बेबर

NOTES

अध्याय में सम्मिलित विषय सामग्री

- उद्देश्य
- प्राक्कथन
- जीवन-परिचय एवं बौद्धिक पृष्ठभूमि
- वेबर की प्रमुख कृतियाँ
- शक्ति एवं सत्ता
- सत्ता के प्रकार
- सत्ता की ऐतिहासिक विवेचना
- आदर्श प्रारूप
- आदर्श प्रारूप की विशेषताएँ
- आदर्श प्रारूप के प्रकार्य
- अध्याय का संक्षिप्त सार
- परीक्षोपयोगी प्रश्न

उद्देश्य :

इस अध्याय अध्ययन के पश्चात् आप निम्न तथ्यों को समझ सकेंगे—

- प्राक्कथन
- जीवन-परिचय एवं बौद्धिक पृष्ठभूमि
- वेबर की प्रमुख कृतियाँ
- शक्ति एवं सत्ता
- सत्ता के प्रकार
- सत्ता की ऐतिहासिक विवेचना
- आदर्श प्रारूप
- आदर्श प्रारूप की विशेषताएँ
- आदर्श प्रारूप के प्रकार्य

NOTES

प्राक्कथन

समाजशास्त्र के संस्थापकों में जर्मनी के सामाजिक विचारक मैक्स वेबर का स्थान सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। मूल रूप से कानून का विद्यार्थी होने के बाद भी वेबर ने अर्थशास्त्र, मध्यकालीन इतिहास, दर्शन, राजनीतिशास्त्र तथा धर्मशास्त्र जैसे विषयों पर भी अधिकारपूर्वक लिखकर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया।

अब्राहम तथा **मॉर्गन** के अनुसार, "जर्मनी में जिन महान विचारकों ने समाजशास्त्र को समृद्ध बनाने में योगदान किया, उनमें मैक्स वेबर सबसे अधिक महान हैं।" वेबर पर पहले विद्वान थे जिन्होंने समाजशास्त्र को सामाजिक क्रियाओं के व्यापक विज्ञान के रूप में प्रस्तुत किया। वेबर से पहले विभिन्न विद्वानों ने जहाँ समाजशास्त्र की विवेचना सामाजिक संरचना के आधार पर की थी, वहीं वेबर ने वैयक्तिक कर्ताओं द्वारा की जाने वाली क्रियाओं को समाजशास्त्रीय अध्ययन का केन्द्र-बिन्दु माना। उन्होंने दुर्खीम से भिन्न एक ऐसी अध्ययन पद्धति पर बल दिया जिसके द्वारा व्यक्ति द्वारा की जाने वाली क्रियाओं को उसी के द्वारा लगाये जाने वाले अर्थ के सन्दर्भ में समझा जा सके।

वेबर ने इसे 'व्याख्यात्मक बोध की पद्धति' कहा जिसे जर्मन भाषा में वर्स्टहीन (Verstehen) कहा जाता है। कानून के एक विद्यार्थी के रूप में मैक्स वेबर ने समाजशास्त्र की एक नयी शाखा 'राजनीतिक समाजशास्त्र' (Political Sociology) को विकसित किया जिसमें उन्होंने अधिकारीतन्त्र या नौकरशाही, सत्ता की अवधारणा, सरकार, धर्मों का अध्ययन करके वेबर ने यह प्रमाणित किया कि किसी भी समाज की आर्थिक व्यवस्था की प्रकृति उसके धार्मिक आचारों के अनुसार निर्धारित होती है। इस अर्थ में उनके द्वारा प्रस्तुत 'धर्म का समाजशास्त्र' दुर्खीम के विचारों से बिल्कुल भिन्न था।

यह सच है कि वेबर के विचार एक बड़ी सीमा तक नीत्शे (Nietzsche) तथा कार्ल मार्क्स (Karl Marx) से प्रभावित थे लेकिन जैसा कि **रेमण्ड एरों** ने लिखा है, "वेबर का चिन्तन एक ऐसे समाजशास्त्र की अभिव्यक्ति है जिसमें ऐतिहासिक तथा व्यवस्थित दोनों पद्धतियों का समावेश है।" वास्तव में, अपने चिन्तन के द्वारा वेबर आधुनिक समाज के उस रूप को स्पष्ट करना चाहते थे जिसमें मानव व्यवहारों को प्रभावित करने में परम्पराओं, भावनाओं और मूल्यों की तुलना में लक्ष्य-प्रधान तार्किकता का महत्व कहीं अधिक है। इस सम्बन्ध में **कार्ल मानहीन** ने लिखा है, "मैक्स वेबर के लेखों का वास्तविक उद्देश्य इस प्रश्न का उत्तर देना था कि पश्चिमी सभ्यता में तर्कवाद (Rationalization) को उत्पन्न करने वाले प्रमुख सामाजिक कारक क्या हैं ?" अपनी विभिन्न रचनाओं और लेखों के द्वारा वेबर ने स्पष्ट किया कि हमारी कोई विवेचना चाहे राजनीति से सम्बन्धित हो अथवा आर्थिक व्यवस्था से, हम चाहे कानून से सम्बन्धित बात करें अथवा अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों से, लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये जाने वाले तार्किक प्रयत्न ही वह वास्तविक आधार है जिसने हमारी सामाजिक क्रियाओं की प्रकृति को बिल्कुल बदल दिया है। समाजशास्त्र के लिए वेबर के योगदान को समझने के से पहले यह आवश्यक है कि उनके जीवन-परिचय और रचनाओं के बारे में सामान्य जानकारी प्राप्त कर ली जाये।

जीवन-परिचय एवं बौद्धिक पृष्ठभूमि
(LIFE-SKETCH AND INTELLECTUAL BACKGROUND)

NOTES

महान जर्मन विचारक मैक्स वेबर का जन्म 21 अप्रैल, 1864 को जर्मनी के इरफर्ट (Erfurt) नामक स्थान में एक सम्पन्न परिवार में हुआ। वेबर के पिता ने एक सम्पन्न वकील होने के बाद भी कुछ समय तक बर्लिन की नगर सरकार में कार्य किया तथा बाद में इरफर्ट में, जहाँ मैक्स वेबर का जन्म हुआ, कुछ समय तक एक मजिस्ट्रेट के रूप में भी कार्य किया। कुछ ही समय बाद उन्होंने बर्लिन की राजनीति में प्रवेश कर लिया। वह जर्मनी की नेशनल लिबरल पार्टी के एक महत्वपूर्ण सदस्य बन गये तथा उन्होंने बिस्मार्क (Bismark) के तत्कालीन शासन में उसकी नीतियों का समर्थन करना आरम्भ कर दिया। वेबर की माँ हेलन फैलेन्सटीन (Helene Fallenstein) पवित्र विचारों वाली एक सुसंस्कृत महिला थीं जिनके मानवतावादी और धार्मिक विचार अपने पति से मेल नहीं खाते थे। इसके बाद भी युवा वेबर का पालन-पोषण एक ऐसे परिवार में हुआ। जिसमें बचपन से ही उनका सम्पर्क प्रमुख राजनीतिज्ञों तथा बौद्धिक लोगों से होता रहा। अपनी अल्पायु में ही वेबर को ट्रीटश्के (Treischke), सेबेल (Sybel), डिल्थे (Dilthey) तथा थियोडोर मोमसन (T. Mommsen) जैसे विद्वानों से मिलने का अवसर मिला। इसके बाद भी वेबर के परिवार का वातावरण अधिक सन्तुलित नहीं था क्योंकि वेबर की माता अपने धार्मिक विश्वासों और काल्विन पंथ की शिक्षाओं को छोड़ना नहीं चाहती थीं, जबकि वेबर के पिता प्रोटेस्टेण्ट धर्म के आचरणों की अपेक्षा सुखवादी आचरणों को अधिक महत्व देते थे। इसके बाद भी परिवार में राजनीतिज्ञों और बुद्धिजीवियों से मिलते रहने के कारण वेबर की बौद्धिक प्रतिभा का तेजी से विकास होने लगा। अपनी प्रकृति से वेबर शर्मीले स्वभाव के थे लेकिन स्कूल में उनके शिक्षकों को उनसे हमेशा यह शिकायत रही कि उनमें अनुशासन का अभाव है, फिर भी वेबर में आरम्भिक जीवन से ही अध्ययन के प्रति विशेष रुचि बनी रही। केवल 14 वर्ष की आयु में अपने द्वारा लिखे गये पत्रों में उन्होंने होमर, वर्जिल, कान्त, सिसरो, स्पिनॉज तथा शूपेनहॉवर जैसे विद्वानों का उल्लेख करना आरम्भ कर दिया था।

18 वर्ष की आयु में अपनी स्कूली शिक्षा समाप्त करके वेबर ने सन् 1882 में हीडेलबर्ग विश्वविद्यालय में कानून के विद्यार्थी के रूप में प्रवेश लिया। यहाँ कानून के अधययन के साथ ही उन्होंने मध्यकालीन इतिहास, दर्शनशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा धर्मशास्त्र जैसे विषयों के अध्ययन में भी रुचि लेना आरम्भ कर दिया। सन् 1883 में वेबर एक वर्ष के सैनिक प्रशिक्षण के लिए स्टासबर्ग (Strabourg) गये जहाँ वह प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता अपने मौसा हरमन बॉमगार्टन तथा मौसा इडा (Ida) से बहुत प्रभावित हुए। वेबर के संबंध में कहा जाता है कि उनके मौसा और मौसी का उनके विचारों पर इतना प्रभाव पड़ा कि वेबर के लिए वे उनके दूसरे माता-पिता हो गये। यद्यपि वेबर की माता उनमें धार्मिक आचरणों के प्रति अधिक रुचि पैदा करने में सफल नही हो सकी थीं लेकिन अपनी मौसी के प्रभाव से वेबर ने विभिन्न धर्मों की शिक्षाओं में गहरी रुचि लेना आरम्भ कर दिया। सन् 1884 में जब उनका सैनिक प्रशिक्षण समाप्त हुआ, तब वेबर बर्लिन विश्वविद्यालय में अध्ययन करने के लिए पुनः अपने माता-पिता के घर लौट आये। यहीं से उन्होंने सन् 1886 में कानून की परीक्षा पास की। अपने माता-पिता के घर रहते हुए ही उन्होंने बर्लिन की

अदालतों में जूनियर बैरिस्टर के रूप में प्रैक्टिस करना आरम्भ कर दिया। समय-समय पर वह बर्लिन विश्वविद्यालय में भी सामान्य शिक्षण का कार्य करते रहे।

बर्लिन में जैसे-जैसे वेबर की रुचि कानून और कानूनी इतिहास के क्षेत्र में बढ़ती गयी, उन्होंने पी. एच. डी. की उपाधि के लिए जैकब गोल्डशिमिट (Jakob Goldschmidt) जैसे विद्वान के निर्देशन में कार्य करना आरम्भ कर दिया। इसके लिए उन्होंने प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता मोमसन से रोमन कानूनों का प्रशिक्षण प्राप्त किया। सन् 1889 में वेबर ने पी-एच. डी. की उपाधि के लिए अपना शोध लेख *'A Contribution to the History of Medieval Business Organizations'* (मध्ययुगीन व्यापारिक संगठनों के इतिहास के लिए एक योगदान) प्रस्तुत किया। इस लेख में उन्होंने यह स्पष्ट किया कि उन कानूनी सिद्धान्तों की प्रकृति क्या है जिनके आधार पर व्यक्ति किसी भी उद्यम की लागत, हानि या लाभ में संयुक्त रूप से भागीदार हो सकते हैं। अपने व्यवस्थित और उत्तेजक विचारों के कारण बौद्धिक जगत् में वेबर का नाम प्रकाश में आने लगा लेकिन वेबर स्वयं अपने पिता पर आर्थिक रूप से निर्भर रहने के कारण अपनी स्थिति में सन्तुष्ट नहीं थे। विश्वविद्यालय में अध्यापक बनने के लिए उन्होंने अपने शोध कार्य को जारी रखा इसके फलस्वरूप सन् 1891 में उन्होंने (रोम का खेतिहार इतिहास तथा सार्वजनिक और वैयक्तिक कानून के लिए इसका महत्व) नामक दूसरा ग्रन्थ प्रस्तुत किया। सन् 1892 में उनकी एक 900 पृष्ठों की पुस्तक प्रकाशित हुई जिसमें उन्होने एलबी नदी के पूर्वी प्रान्तों के खेतिहर मजदूरों का गहन अध्ययन करके अपनी विश्लेषण क्षमता का परिचय दिया। इसी वर्ष मैक्स वेबर की नियुक्ति बर्लिन विश्वविद्यालय में प्रवक्ता के रूप में हो गयी यद्यपि वह अदालत से सम्बन्धित अपने कार्य के लिए भी पूरा समय देते रहे। यह वह समय था जब वेबर की दिनचर्या इतनी अधिक नियमित हो गयी, मानो वह एक सन्यासी के अनुशासन जैसा व्यतीत कर रहे हों।

वेबर को अपने जीवन की अग्नि परीक्षा से छुटकारा तब मिला जब सन् 1893 में उनका एक डॉक्टर की 22 वर्षीया पुत्री मेरियन शिनटर (Marianne Schniger) ने विवाह हुआ तथा इसी वर्ष फ्रेबर्ग विश्वविद्यालय में उनकी अर्थशास्त्र विभाग में नियुक्ति हो गयी। इसके तुरन्त बाद वेबर ने अपने माता-पिता के घर छोड़कर एक नया पारिवारिक और बौद्धिक जीवन आरम्भ किया। सन् 1895 में 'राष्ट्रीय राज्य तथा आर्थिक नीति' (The National State and Policy) पर वेबर ने जो उद्घाटन भाषण दिया, उसमें गहरी राष्ट्रीयता और प्रखर विद्वता का मिश्रण था। इस भाषण के परिणामस्वरूप बौद्धिक और राजनीतिक क्षेत्र में लोगों का ध्यान उनकी ओर आकर्षित होने लगा। इस नयी प्रसिद्ध के कारण सन् 1896 में उन्हें अपने ही शिक्षक नीज (Knies) के स्थान पर हीडेलबर्ग विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के प्रोफेसर के पद पर नियुक्ति दे दी गयी। हीडेलबर्ग विश्वविद्यालय में अपने पुराने शिक्षकों के साथ ही वेबर को अनेक उन नये मित्रों और सथियों से विचार-विमर्श करने का अवसर मिला जो कानून, अर्थशास्त्र और दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में विख्यात थे। शीघ्र ही वेबर का घर हीडेलबर्ग के प्रतिभाशाली विद्वानों का संगम-स्थल बन गया। इस समय वेबर की आयु केवल 32 वर्ष थी। इसके बाद भी अपने मौलिक चिन्तन तथा तर्क की अपूर्व क्षमता के कारण वेबर की लोकप्रियता तेजी से बढ़ने लगी।

वेबर के जीवन पर प्रकाश डालते हुए **लेविस कोजर** (Lewis A. Coser) ने लिखा है कि अपने बौद्धिक क्रियाकलापों के अतिरिक्त हीडेजबर्ग विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के प्रोफेसर के रूप में कार्य करने के साथ ही वेबर ने राजनीतिक क्षेत्र में भी रूचि लेना आरम्भ कर दिया। उन्होंने ईसाई सामाजिक-राजनीतिक क्षेत्र में एक सक्रिय योगदान करना आरम्भ कर दिया तथा अपने समय के विभिन्न विषयों से सम्बन्धित अनेक ज्ञापनों तथ लेखो का भी प्रकाश किया। अत: बौद्धिक जगत् के साथ राजनीतिक क्षेत्र में भी वह एक प्रमुख व्यक्ति के रूप में उभरने लगे। एकाएक वेबर के उभरते हुए जीवन को जैसे ग्रहण लग गया हो। जुलाई 1897 में उनके माता-पिता हीडेलबर्ग आये। वेबर की माँ यह चाहती थी कि वह अकेले ही हीडेलबर्ग में अपने बच्चों के साथ रहें, जबकि उनके पिता भी उन्हीं के साथ रहने की जिद पर अड़े रहे। इस अवसर पर वेबर और उनके पिता के बीच इतना अधिक झगड़ा हुआ कि वेबर ने अपने पिता को न केवल अत्याचारी और क्रूर कहा बल्कि उन्हें अपने घर से चले जाने के लिए भी कह दिया। इसके लगभग एक माह के बाद ही वेबर के पिता की मृत्यु हो गयी। अपने पिता और माँ के एक-दूसरे से भिन्न मूल्यों, स्वयं अपने मानसिक तनावों तथा कार्य की अधिकता के कारण जल्दी ही वेबर को भी एक लम्बी बीमारी ने घेर लिया। जिससे वे अगले पाँच वर्ष तक नहीं उबर सके। वेबर का नियमित बौद्धिक कार्य इस बीमारी के कारण लगभग समाप्त ही हो गया। चार वर्ष के समय तक वह अत्यधिक थकावट और घोर चिन्ता से पीड़ित रहे। ऊपर से सन्तुलित प्रतीत होने वाला यह व्यक्ति मानसिक रूप से इतना टूट चुका था कि घण्टों खिड़की के सहारे बैठे रहकर अन्तरिक्ष की ओर देखता था। वेबर ने यह महसूस करना शुरू कर दिया कि केवल यात्राओं के द्वारा ही वे अपनी इटली और विशेषकर रोम में रहकर व्यतीत किया बीमारी के कारण ही उन्होंने हीडेलबर्ग विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के प्रोफेसर पद से भी त्याग-पत्र दे दिया।

वेबर स्वयं भी यह अनुभव करते रहे कि विश्वविद्यालय में नियुक्ति के नियमों से बँधे रहकर वह स्वतन्त्र रूप से चिन्तन नहीं कर सकते। **वेबर** के शब्दों में, "मेरे दिमाग में यह पूरी तरह स्पष्ट है कि मैं व्यावहारिक अनुभवों के जीवन को नहीं छोड़ सकता। मैं जानता हूँ कि व्यावहारिक अनुभवों के द्वारा ही कुछ किया जा सकता है लेकिन अध्यापन के क्षेत्र में ऐसा होना सम्भव नहीं है।" सन् 1901 में जब वेबर की दशा में कुछ सुधाार होना आरम्भ हुआ तो उन्होंने अपना बौद्धिक कार्य फिर से आरम्भ कर दिया। सन् 1903 में उन्होंने एक जर्मन पत्रिका 'समाज विज्ञान तथा समाज-कल्याण के अभिलेख' (Archives for Social Sciences and Social Welfare) के सहायक सम्पादक का पद स्वीकार कर लिया। इसके फलस्वरूप उनका बौद्धिक जगत से पुन: सम्पर्क स्थापित हो गया। सन् 1904 में वेबर के पुराने साथी गोटिन्गेन (Goettingen) तथा हागो म्यून्सटरबर्ग (Muensterberg) जो अब हारबर्ड विश्वविद्यालय में थे, उन्होंने सेण्ट लुई के विश्व मेले में आयोजित होने वाली 'काँग्रेस ऑफ आर्ट्स एण्ड साइन्स' में भाग लेने के लिए वेबर को अमेरिका में आमंत्रित किया। वहाँ उन्होंने जर्मनी की सामाजिक संरचना पर जो ओजस्वी भाषण दिया, वह छ: वर्ष से भी

अधिक के बाद दिया जाने वाला पहला भाषण था। इसके बाद वेबर ने अमेरिका के विभिन्न स्थानों का लगभग तीन माह तक भ्रमण किया तथा उन पर अमरीकी सभ्यता की विशेषताओं का गहरा प्रभाव पड़ा। यहीं से वेबर के मन में पूंजीवादी व्यवस्था पर प्रोटेस्टेण्ट धर्म के आचारों के प्रभाव का बीजारोपण आरम्भ हो गया। उनका बौद्धिक कार्य पुनः आरम्भ हो जाने के फलस्वरूप इस वर्ष उनकी तीन प्रमुख रचनाएँ प्रकाशित हुईं—(क) 'पद्धतिशास्त्र पर एक लेख' (An Essay on Methodology), (ख) 'पूँजी जर्मनी की कृषी सम्बन्धी नीति का एक कर्यावलोकन' (A Discussion of Agrarain Policies in Eastern Germany), (ग) 'प्रोटेस्टेण्ट धर्म व आचार तथा पूँजीवाद का सार' (The Protentant Ethic and the Spirit of Capitalism)।

सन् 1906 में रूस के तत्कालीन राजनीतिक विचारों से सम्बन्धित वेबर के अनेक लेखों का प्रकाशन। इसके बाद वेबर ने औद्योगिक श्रमिकों के काम की दिशाओं से सम्बन्धित अनेक अनुभाविक अध्ययन किये। इस समय हीडेलबर्ग विश्वविद्यालय में पुनः नियुक्ति लेने की बात भी चलती रही लेकिन अन्ततः वह इस पद से अलग ही रहे। सन् 1910 से वेबर ने सिमिल तथा टॉनीज के साथ **'जर्मन समाजशास्त्रीय समाज'** के सह-संस्थापक के रूप में काम करना आरम्भ कर दिया। अपने शेष जीवन में वेबर निरन्तर गहन और व्यापक अध्ययन में लगे रहे यद्यपि सन् 1914 में प्रथम विश्वयुद्ध आरम्भ हो जाने के कारण उन्होंने अपने राष्ट्रीय चरित्र के अनुसार सेना के लिए अपनी सेवाएँ देने की इच्छा व्यक्त की। फलस्वरूप वेबर की हीडेलबर्ग क्षेत्र के सैनिक अस्पतालों का संचालन करने का कार्यभार सौंप दिया गया। युद्ध का उन्माद कम हो जाने के बाद सन् 1915 में वेबर इस दायित्व से अलग हो गये। सन् 1918 में वेबर को वारसा में 'जर्मन युद्ध सन्धि आयोग' था 'वेमर संविधान का मसविदा तैयार करने वाले आयोग' के सलाहकार के रूप में नियुक्त किया गया। इसी वर्ष उन्होंने वियना विश्वविद्यालय में भी कुछ महीनों तक कार्य किया। सन् 1919 में उन्होंने म्यूनिख विश्वविद्यालय में प्रोफेसर के पद को स्वीकार कर लिया जहाँ वह लगभग एक वर्ष तक ही कार्य कर सके। सन् 1920 की जून में जीवन से निमोनिया के कारण 56 वर्ष की आयु में वेबर का देहान्त हो गया।

वेबर के जीवन से सम्बन्धित घटनाक्रम से स्पष्ट होता है कि उनका पूरा जीवन अभूतपूर्व तनावों से घिरा रहा। वेबर के सारे जीवन में यह द्वन्द्व चलता रहा कि वह सैद्धान्तिक अध्ययनों में लगे रहें या एक व्यावहारिक जीवन की ओर आगे बढ़ें। यह सच है कि कानून तथा राजनीति से सम्बन्धित विवेचनाओं में वेबर की विशेष रुचि थी लेकिन सन् 1908 में जब उन्हें राष्ट्रीय एसेम्बली के चुनाव के लिए मनोनीत होने का अवसर मिला, तब उन्होंने इसके प्रति कोई विशेष रुचि नहीं दिखायी। वेबर ने सदैव एक तटस्थ विचारक के रूप में अपनी अलग पहचान बनाने का प्रयत्न किया। इसके बाद भी जैसा कि उनकी पत्नी ने उनकी जीवनी में लिखा है, "वेबर अपने सम्पूर्ण जीवनभर दूसरे व्यक्तियों की समस्याओं को समझने का प्रयत्न करते रहे तथा उन व्यक्तियों के दृष्टिकोण अर्थ को समझकर ही वह किसी निष्कर्ष तक पहुँचने का प्रयत्न करते थे।"

NOTES

वेबर की प्रमुख कृतियाँ (Major Works of Weber)

वेबर के चिन्तन तथा उनकी विभिन्न रचनाओं का एक स्पष्ट विविधता देखने को मिलती है। कानून, राजनीति, अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र के अध्ययन में समान रुचि होने के कारण विभिन्न बौद्धिक आधार पर वेबर के जीवन को किन्हीं निश्चित कालों में विभाजित नहीं किया जा सकता। उन्होंने अपने जीवन में ज्ञान के विभिन्न छात्रों में जो अनुभव संचित किये, उन्हें वे अपने लेखों के द्वारा निरन्तर करते रहे। एक प्रमुख तथ्य यह है कि वेबर ने समय-समय पर अपने जो विचार विभिन्न लेखों और प्रपत्रों के द्वारा स्पष्ट किये, उन्हीं के आधार पर उसकी अधिकांश रचनाएँ कुछ अन्य विद्वानों के द्वारा प्रकाशित करवायी गयीं। यही कारण है कि वेबर की रचनाओं में कोई व्यवस्थित क्रम देखने को नहीं मिलता। इसके बाद भी अपने लेखों में उन्होंने जो विचार व्यक्त किये, उनसे वेबर की एक गहरी समाजशास्त्रीय अन्तर्दृष्टि पर प्रकाश पड़ता है। **रेमण्ड एरों** के अनुसार वेबर की भी रचनाओं को चार प्रमुख भागों में विभाजित करके समझा जा सकता है। इसी से उनकी बहुमुखी प्रतिभा भी स्पष्ट होती है।

(1) **पद्धतिशास्त्रीय रचनाएँ** (Methodological Works)—सामाजिक विज्ञानों के लिए वेबर को सबसे महत्वपूर्ण योगदान उनके द्वारा एक ऐसी अध्ययन-पद्धति को विकसित करना रहा है जिसके द्वारा सामाजिक घटनाओं तथा मानवीय व्यवहारों का वैज्ञानिक अध्ययन करना सम्भव हो सका। पद्धतिशास्त्र से सम्बन्धित अपने विचारों को उन्होंने अपने पुस्तक **'स्टडी ऑफ द थ्योरी ऑफ साइन्स'** (Study of the Theory of Science) प्रस्तुत किया। समाजशास्त्र तथा इतिहास से सम्बन्धित अध्ययनों के क्षेत्र में इससे वेबर की व्यावहारिक अन्तर्दृष्टि को समझा जा सकता है। इसके अतिरिक्त, अपनी एक अन्य पुस्तक **'सामाजिक तथा आर्थिक संगठन का सिद्धान्त'** में उन्होंने 'वर्स्टहीन' के रूप में एक ऐसी पद्धति के उपयोग पर जोर दिया जिसके द्वारा कर्ता द्वारा की जाने वाली क्रियाओं को उसी के विचारों के सन्दर्भ में समझकर उनका व्याख्यात्मक बोध किया जा सके। सन् 1904 में **'वस्तुनिष्ठता'** (Objectivity) नामक शीर्षक से लिखे गये निबन्ध में वेबर ने **'आदर्श प्रारूप'** (Ideal Type) के रूप में अध्ययन के एक ऐसे उपकरण को प्रस्तुत किया जिसके द्वारा विभिन्न घटनाओं का वैज्ञानिक रूप से अध्ययन किया जा सकता है।

(2) **इतिहास सम्बन्धी रचनाएँ**—सन् 1801 में वेबर की एक पुस्तक **'रोम का खेतिहार इतिहास'** (Roman Agrarian History) प्रकाशित हुई। इस पुस्तक का ऐतिहासिक तथा समाजशास्त्रीय अध्ययनों में विशेष महत्व है। इसके बाद वेबर ने पौलेण्ड की कृषि प्रणाली तथा जर्मनी के सत्ता वर्ग के सह-सम्बन्धी को स्पष्ट करने के लिए अनेक लेख लिखें। इन लेखों के आधार पर वेबर की मृत्यु के बाद उनकी एक अन्य पुस्तक प्रकाशित हुई जिसका नाम **'जर्मनी का प्राचीन कृषि प्रणाली तथा अर्थव्यवस्था के सह-सम्बन्ध'** है। इस पुस्तक से राजनैतिक समाजशास्त्र तथा राजनीतिक अर्थशास्त्र के बारे में वेबर के योगदान को समझा जा सकता है।

(3) **धर्म का समाजशास्त्र**—वेबर द्वारा प्रस्तुत धर्म की समाजशास्त्रीय व्याख्या उनकी प्रसिद्ध पुस्तक **'प्रोटेस्टेण्ट नीति एवं पूँजीवाद का सार'** (The Protestant and the

NOTES

spirit fo Capitalism) में देखने को मिलती है। इस पुस्तक का प्रकाशन वेबर के जीवनकाल में ही सन् 1905 में हो गया था। वेबर ने संसार के सभी प्रमुख धर्मो के आचारों का अध्ययन करके इस पुस्तक में यह निष्कर्ष दिया कि प्रोटेस्टेण्ट धर्म जिन आचारों अथवा नीतियों पर आधारित हैं, उन्हीं के प्रभाव से यूरोप के कुछ देशों में पूँजीवादी व्यवस्था का विकास हुआ। इसका अर्थ है कि धार्मिक आचार ही आर्थिक व्यवस्था को प्रभावित करने में सबसे अधिक महत्वपूर्ण होते हैं इस पुस्तक मे दिये गये विचार मार्क्स के उन निष्कर्षो से बिल्कुल भिन्न है जिनके द्वारा मार्क्स ने यह मान लिया था कि आर्थिक कारकों के द्वारा ही समाज की दूसरी उप-संरचनाओं का निर्माण होता है। इसके अतिरिक्त **'द रिलीजन ऑफ चाइना'** तथा **'द रिलीजन ऑफ इण्डिया'** जैसी दो अन्य पुस्तकों का प्रकाशन सन् 1916 में हुआ। इन पुस्तकों में भी वेबर ने चीन तथा भारत के धार्मिक आचारी पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए यह स्पष्ट किया कि धार्मिक आचार सामाजिक तथा आर्थिक व्यवहारों को किस प्रकार प्रभावित करते हैं।

(4) **समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र**—अर्थशास्त्र के एक प्रमुख अध्येयता के रूप में वेबर ने अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र के बीच पाये जाने वाले घनिष्ठ सम्बन्धों पर भी विस्तार में प्रकाश डाला। इससे सम्बन्धित अपने विचार **'सामाजिक एवं आर्थिक संगठन का सिद्धान्त'** नामक पुस्तक वेबर की मृत्यु के बाद देख जाता है। इसी पुस्तक में वेबर ने सामाजिक क्रिया को समाजशास्त्र की विषय-वस्तु के रूप में स्पष्ट किया तथा वर्स्टहीन एवं आदर्श प्ररूप के रूप में उन पद्धतियों को स्पष्ट किया जिनके द्वारा सामाजिक क्रियाओं का व्याख्यात्मक बोध तथा करके एक वैज्ञानिक निष्कर्ष तक पहुँचा जा सकता है। अनेक दूसरे निबन्धों के द्वारा भी वेबी ने अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र के सम्बन्धों को स्पष्ट करने के लिए सामाजिक और आर्थिक संगठन की परस्पर निर्भरता को स्पष्ट किया।

वास्तविकता यह है कि वेबर के जीवनकाल में उनके नाम के प्रकाशित होने वाली रचनाओं की संख्या बहुत कम है लेकिन वेबर के विचारों की व्यापकता को उन पुस्तकों की सहायता से अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है जिनका प्रकाशन वेबर की मृत्यु के बाद अनेक दूसरे विद्वानों द्वारा करवाया गया। वेबर की पत्नी मेरियन वेबर द्वारा लिखित पुस्तक **'मैक्स वेबर'** (Max Weber) उसी तरह की पुस्तक है जिसने वेबर के विभिन्न विचारों का विस्तार के साथ उल्लेख किया गया है। वेबर ने अपने जीवनकाल में समाजशास्त्र से सम्बन्धित जो बहुत-से निबन्ध लिखे थे, उनका प्रकाशन **गर्थ तथा मिल्स** द्वारा लिखित पुस्तक 'From Max Weber : Essays in Sociology' में किया गया। **बेण्डिक्स** द्वारा लिखित पुस्तक **'मैक्स वेबर : एक बौद्धिक व्यक्तित्व'** (Max Weber : An Intellectual Personality) में एक ओर पश्चिमी देशों, चीन भारत तथा प्राचीन पैलेस्टाइन में धर्म और समाज के बारे में वेबर के विचारों का विस्तार से उल्लेख मिलता है तो दूसरे ओर, इसी पुस्तक में उन्होंने राजनीतिक समाजशास्त्र के बारे में वेबर के विचारों का व्यापक विवरण दिया है।

रेमण्ड ऐरों द्वारा लिखित पुस्तक **'जर्मन समाजशास्त्र'** (German Sociology) में भी वेबर के उन विचारों का विश्लेषण किया गया जो वेबर द्वारा लिखे गये विभिन्न लेखों पर आधारित हैं।

NOTES

समाजशास्त्र के लिए वेबर के योगदान को स्पष्ट करते हुए **रेमण्ड एरों** ने लिखा है कि वेबर का वास्तविक मूल्यांकन करने में कुछ समाजशास्त्रियों को संकोच हो सकता है किन्तु ''मेरे लिए वेबर सभी समाजशास्त्रियों में सबसे अधिक महान है; मैं यहाँ तक कह सकता हूँ कि वे ही वास्तविक समाजशास्त्री है। अपने इन विचारों को सत्यता पर मैं इसलिए कोई बहस करना नहीं चाहता क्योंकि आज पूरे संसार के अधिकांश समाजशास्त्रियों द्वारा इस कथन की पुष्टि की जा चुकी है।''

वेबर ने सामाजिक क्रिया को समाजशास्त्र की अध्ययन वस्तु मानते हुए इसकी प्रकृति और अध्ययन पद्धति पर विस्तार से प्रकाश डाला है। इसके बाद भी प्रस्तुत विवेचन में हम वेबर द्वारा वस्तुत सत्ता की अवधारणा तथा आदर्श प्रारूप (Ideal Type) सम्बन्धी विचारों के सन्दर्भ में ही उनके बौद्धिक व्यक्तित्व को स्पष्ट करेंगे।

शक्ति एवं सत्ता (POWER AND AUTHORITY)

सामान्य धारणा के अनुसार हम उस व्यक्ति को सत्ता-सम्पन्न व्यक्ति समझते हैं जिसकी समाज में एक उच्च प्रस्थिति (status) होती है अथवा दूसरे व्यक्तियों की तुलना में जिसकी शक्ति (power) अधिक होती है। इसके विपरीत वेबर ने यह स्पष्ट किया है **सत्ता की अवधारणा 'प्रस्थिति' तथा 'शक्ति' की अवधारणा से भिन्न है।** प्रस्थिति का सम्बन्ध व्यक्ति को समाज में मिलने वाले एक ऐसे पद से है जिसके साथ एक विशेष सम्मान जुड़ा होता है। समाज में जो व्यक्ति सम्मानित अथवा प्रतिष्ठित होता है उसकी प्रस्थिति ऊँची अवश्य होती है लेकिन ऐसे व्यक्ति अपने अनुयायियों का दूसरे लोगों को कोई विशेष 'व्यवहार करने के लिए बाध्य नहीं कर सकता। इसी कारण प्रस्थिति की अवधारणा सत्ता से भिन्न है क्योंकि सत्ता में कुछ ऐसे अधिकारों का समावेश होता है जिसके द्वारा दूसरे व्यक्तियों को एक विशेष ढंग से व्यवहार करने के लिए बाध्य किया जा सके।

सत्ता की प्रकृति शक्ति से भी भिन्न होती है यद्यपि इन दोनों के बीच एक घनिष्ठ सम्बन्ध है। शक्ति को परिभाषित करते हुए **वेबर** ने लिखा, ''अन्य व्यक्तियों के व्यवहारों को उनकी इच्छा के विरुद्ध भी प्रभावित करने की क्षमता को शक्ति कहा जाता है।'' इस प्रकार यदि कोई व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुसार कुछ दूसरे लोगों को प्रभावित करने और उन्हें एक विशेष ढंग से व्यवहार करने के लिए बाध्य करने की क्षमता रखता है तो इसे इस व्यक्ति को 'शक्ति' कहा जाता है। शक्ति का यह रूप बाजार में, खेलों में, कार्यालयों में और यहाँ तक कि प्रीति-भोज जैसे अवसरों पर भी देखा जा सकता है जब व्यक्ति अपने प्रभाव का उपयोग करके दूसरे लोगों पर अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने का प्रयत्न करता है। **वेबर** का कथन है कि विभिन्न स्थानों पर और विभिन्न अवसरों पर व्यक्ति द्वारा उपयोग में लायी जाने वाली शक्ति समान प्रकृति की नहीं होती। शक्ति को इसके दो प्रमुख रूपों को आधार पर समझा जा सकता है—(1) शक्ति का एक रूप वह है जिसे कुछ विशेष

NOTES

वस्तुओं पर अधिकार देने के कारण हम उसे स्वयं प्राप्त कर लेते हैं तथा पारस्परिक हितों को देखते हुए कुछ दूसरे लोग भी उसे स्वीकार कर लेते हैं; (2) शक्ति का दूसरा रूप वह है जो व्यक्ति को किसी मान्यता-प्राप्त संस्था या कानूनों से प्राप्त होती है और इस प्रकार उसे कुछ विशेष आदेश देने के अधिकार सौंपती हैं। वेबर के अनुसार शक्ति के दूसरे रूप को ही सत्ता (Authority) कहा जाता है। इसका अर्थ है कि **शक्ति का रूप जब संस्थात्मक हो जाता है, तब इसी को सत्ता कहा जाता है।** दूसरे शब्दों में, सत्ता 'एक संस्थात्मक शक्ति' (an institutional ower) है।

वेबर ने **शक्ति तथा सत्ता की भिन्नता** को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया। उन्होंने लिखा कि एक बड़ा केन्द्रीय बैंक अपनी सुदृढ़ आर्थिक स्थिति और साख के कारण उन व्यक्तियों को अपनी किन्हीं भी ऐसी शर्तों के अनुसार व्यवहार करने को बाध्य कर सकता है जो उससे ऋण लेना चाहते है जो उससे ऋण लेना चाहते हैं। ऋण लेने वाले व्यक्ति भी बाजार में उस बैंक के एकाधिकार को देखते हुए उसकी सभी शर्तों को मान लेते हैं। ग्राहकों पर बैंक द्वारा उपयोग लाया जाने वाला यह प्रभाव उसकी शक्ति का उदाहरण है। यह एक ऐसी दशा है जिसमें स्वयं अपने हितों के कारण ग्राहक बैंक की शक्ति को स्वयं ही स्वीकार कर लेते हैं। खेलों और कार्यलयों में भी अनेक दूसरे व्यक्ति उस व्यक्ति की शक्ति को स्वीकार कर लेते हैं जिसमें अपने प्रभाव को स्थापित करने की एक विशेष क्षमता होती है। दूसरे ओर एक प्रशासक लोगों के व्यवहारों को प्रभावित करने के लिए जब एक विशेष आदेश देता है, तब इसे मानना या न मानना लोगों की इच्छा नहीं होता बल्कि वे उस आदेश के अनुसार व्यवहार करने के लिए बाध्य होते हैं। इसका कारण यह है कि कानून अथवा एक प्रभुता-सम्पन्न संस्था (जैसे सरकार) द्वारा ऐसे अधिकार मिले होते हैं जिनकी अवहेलना को अपराध के रूप में देखा जाता है। इस आधार पर वेबर ने यह निष्कर्ष दिया कि सत्ता एक ऐसी दशा है जिसमें शासक और शासितों के बीच आदेश देने और उनका पालन करने के वैधानिक सम्बन्धों का समावेश होता है। केवल प्रशासन के क्षेत्र में ही नहीं बल्कि किसी भी संगठन या प्रतिष्ठान में सत्ता का तात्पर्य उस व्यक्ति की शक्ति से होता है जिसमें कानूनी अधिकारों का समावेश होता है। इस दृष्टिकोण से विभिन्न क्षेत्रों में एक मन्त्री, जिलाधीश, न्यायाधीश, सेना के जनरल, कॉलेज के प्राचार्य अथवा किसी कॉरपोरेशन के प्रबन्धन को मिलने वाली शक्ति में कानूनी अधिकारों का समावेश होने के कारण उसकी शक्ति को सत्ता कहा जायेगा।

सत्ता की अवधारणा पर वेबर के विचारों से इसकी कुछ प्रमुख विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं जिन्हें निम्नांकित रूप से समझा जा सकता है—

(1) सत्ता का तात्पर्य शक्ति के संस्थात्मक रूप से है।

(2) सत्ता में वैधानिक अधिकारों का समावेश होने के कारण व्यक्तियों को उससे सम्बन्धित आदेशों का पालन करना अनिवार्य होता है।

(3) सत्ता केवल राजनीतिक अथवा प्रशासनिक क्षेत्र से ही सम्बन्धित नहीं होती बल्कि सामाजिक, आर्थिक तथा शैक्षणिक आदि सभी क्षेत्रों में सत्ता का एक स्पष्ट रूप देखने को मिलता है।

(4) सत्ता का कारण कुछ लोगों में दूसरों की अपेक्षा अधिक योग्यता और कुशलता का होना है। इसी कारण वेबर ने सामाजिक स्तरीकरण को सत्ता का प्रमुख स्रोत माना है।

(5) सभी समाजों में सत्ता की प्रकृति समान नहीं होती। किसी समाज में इसका रूप वैधानिक होता है तो कहीं परम्परागत या चमत्कारिक।

(6) सत्ता का रूप चाहे वैधानिक हो या परम्परागत इसके विभिन्न प्रारूप एक-दूसरे से मिले-जुले होते हैं।

(7) सत्ता के रूप में समय और आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन होता रहता है।

सत्ता के प्रकार (TYPES OF AUTHORITY)

विभिन्न समाजों और विभिन्न दशाओं में जिन व्यक्तियों को सत्ता प्राप्त होती है, वे एक-दूसरे से भिन्न आधारों पर अपने अधिकारों का उपयोग कर सकते हैं। इस आधार पर वेबर ने सत्ता के तीन मुख्य प्रकारों का उल्लेख किया जिन्हें वैधानिक सत्ता, परम्परागत सत्ता तथा चमत्कारी सत्ता कहा जाता है। सत्ता के इन तीनों प्रकारा को इस प्रकार समझा जा सकता है :

(1) वैधानिक सत्ता (Legal Authority)

वेबर के अनुसार वैधानिक सत्ता वह है जो राज्य द्वारा बनाये गये कानूनों के द्वारा कुछ लोगों को शक्ति का उपयोग करने का विशेष अधिकार देती है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जिन लोगों को कानून के द्वारा एक विशेष पद को धारण करने का अधिकार दिया जाता है, उनकी सत्ता को हम वैधानिक सत्ता के नाम से सम्बोधित करते हैं। वेबर के अनुसार नौकरशाही अथवा अधिकारीतन्त्र वैधानिक सत्ता का सबसे प्रमुख उदाहरण है। नौकरशाही व्यवस्था में जब किसी व्यक्ति को एक जिलाधीश अथवा न्यायधीश के रूप में नियुक्त किया जाता है तो उसे कानून के द्वारा कुछ ऐसी शक्तियाँ और अधिकार दिये जाते हैं जिनके द्वारा वे एक निश्चित प्रणाली के अन्तर्गत दूसरे लोगों को एक विशेष ढंग से व्यवहार करने के लिए बाध्य कर सकते हैं। समाज में जिन लोगों को वैधानिक सत्ता प्राप्त हाती है, उनका चुनाव एक विशेष कानूनी प्रक्रिया के द्वारा किया जाता है। वैधानिक सत्ता किसी व्यक्ति की निजी प्रतिष्ठा अथवा इच्छा से सम्बन्धित नहीं होती बल्कि व्यक्ति को कानून के द्वारा जो अधिकार दिये जाते हैं, उन्हीं के अन्दर रहते हुए व्यक्ति अपनी सत्ता का उपयोग कर सकता है। इसका तात्पर्य है कि वैधानिक सत्ता व्यक्ति को निजी लाभ के लिए अपनी सत्ता का उपयोग करने की अनुमति नहीं देती। ऐसा सत्ता के उपयोग को पक्षपातरहित बनाये रखने के लिए इससे सम्बन्धित अधिकारी से यह आशा की जाती है कि वह अपने अधिकारों का उपयोग करने से सम्बन्धित सम्पूर्ण कार्यवाही को लिखित रूप से पूरा करेगा। जो व्यक्ति वैधानिक सत्ता के अधीन काम करते हें, वे सत्ताधारी व्यक्ति के आदेशों का पालन यह मानकर करते हैं कि उनके द्वारा कुछ विशेष कानूनों का पालन किया जा रहा है इस दृष्टिकोण से नहीं कि उनका कर्त्तव्य किसी व्यक्ति-विशेष के आदेशों का पालन करना है। इससे स्पष्ट होता है कि **वैधानिक सत्ता का स्त्रोत स्वयं राज्य के कानून होते हैं।**

वेबर ने यह स्पष्ट किया कि वैधानिक सत्ता किसी-न-किसी रूप में प्रत्येक युग की विशेषता रही है। प्राचीन काल में राजाओं द्वारा कुछ व्यक्तियों को मन्त्री, न्यायाधीश तथा सेनापति जैसे पदों पर नियुक्त किया जाता था। ऐसे सभी पदाधिकारी अपने अधिकारों की सीमा के अन्दर रहते हुए ही अपनी वैधानिक सत्ता का उपयोग करते थे। इसके बाद में वैधानिक सत्ता का वास्तविक रूप आधुनिक राज्यों के प्रशासनिक ढाँचे से सम्बन्धित है जिसमें एक विकसित नौकरशाही के अन्तर्गत विभिन्न अधिकारियों और कर्मचारियों को एक-दूसरे से भिन्न वैधानिक अधिकार प्रदान किये जाते हैं। दूसरा तथ्य यह है कि वैधानिक सत्ता मुख्य रूप से राजनीतिक तथा प्रशासनिक संगठन से सम्बन्धित होती है लेकिन आर्थिक, धार्मिक तथा शैक्षणिक क्षेत्रों में भी वैधानिक सत्ता धार्मिक, आर्थिक तथा शैक्षणिक क्षेत्र में भी वैधानिक सत्ता का एक स्पष्ट रूप विद्यमान होता है लेकिन राजनीतिक और प्रशासनिक क्षेत्र और में वैधानिक सत्ता का रूप अत्यधिक स्पष्ट होने के साथ ही बहुत व्यापक भी होता है।

(2) परम्परागत सत्ता (Traditional Authority)

परम्परागत सत्ता वह है जो किसी व्यक्ति को परम्परा के द्वारा स्वीकृत पद पर आसीन होने के कारण कुछ विशेष अधिकार सौंपती है। इन अधिकार का स्त्रोत राज्य के कानून न होकर समाज की कुछ परम्पराएँ होती हैं। सत्ता के इस रूप को स्पष्ट करते हुए **रेमण्ड एरों** ने लिखा है, ''परम्परागत सत्ता वह है जो विशिष्ठ गुणों की परम्परा के विश्वास पर आधारित होती है तथा जिसे एक लम्बे समय से लोगों द्वारा स्वीकार किया जाता रहा है।'' समाज में जिन लोगों को परम्परागत सत्ता प्राप्त होती है, उन्हें कुछ विशेष गुणों से सम्पन्न माना जाता है। साधारणतया **ऐसी सत्ता की प्रकृति पैतृक अथवा आनुवंशिक होती है।** परम्परागत सत्ता की एक प्रमुख विशेषता रहा है कि इसे धारण करने वाले व्यक्ति अथवा व्यक्तियों को कोई निर्णय लेने के विशेष अधिकार मिले होते हैं। इन निर्णयों का उल्लंघन करने वाले व्यक्ति को सामाजिक आधार पर कठोर दण्ड दिया जाता है। यही कारण है कि परम्परागत सत्ता धारण करने वाले व्यक्ति के अधिकार तुलनात्मक रूप से अधिक निरंकुश हो जाते हैं जो व्यक्ति परम्परागत सत्ता के आदेशों के अनुसार कार्य करते हैं, वे उसकी प्रजा की तरह होते हैं। इन लोगों का यह विश्वास होता है कि परम्परागत सत्ता पर अधिकार रखने वाले व्यक्ति में कुछ दैनिक गुणों का समावेश होता है, अतः किसी भी दशा में उसकी आज्ञाओं का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। साथ ही उन्हें यह भी होता है कि परम्परागत सत्ता के आदेशों की अवहेलना से उन्हें दण्ड भी मिल सकता है। कुछ समय पहले तक भारत के गाँवों में पायी जाने वाली जाति पंचायतें सत्ता के इस रूप का उदाहरण है। इन जाति-पंचायतों पास किसी तरह के वैधानिक अधिकार न होने के बाद भी इनके फैसलों को पंच-परमेश्वर द्वारा दिये गये के रूप में देखा जाता था। इसी तरह जनजातियों में गोत्र के मुखिया की सत्ता तथा दासों पर उनके मालिकों की सत्ताा परम्परागत सत्ता के उदाहरण हैं।

वेबर ने तीन अन्य उदाहरणों के द्वारा परम्परागत सत्ता की प्रकृति को स्पष्ट किया जिसे निम्नांकित रूप से समझा जा सकता है—

(अ) वेबर के अनुसार परम्परागत सत्ता का पहला रूप **कुल-पिता की परम्परा** में देखने को मिलता है। कुल समाजों में संयुक्त परिवार या इसी से मिलते-जुलते परिवार होते हैं, वहाँ परिवार की सम्पूर्ण शक्ति परिवार के मुखिया अथवा कुल-पिता में निहित होती है। कुल-पिता द्वारा ही यह निर्णय लिया जाता है कि परिवार का कौन-सा सदस्य क्या कार्य करेगा, समारोहों को मनाने का ढंग क्या होगा तथा विभिन्न परम्पराओं का निर्वाह किस प्रकार किया जायेगा आदि। परिवार में कुल-पिता को यह अधिकार राज्य के कानूनों के द्वारा प्राप्त नहीं होते बल्कि इनका निर्धारण समाज की परम्पराओं के द्वारा होता है।

(ब) परम्परागत सत्ता का दूसरा उदाहरण **पैतृक शासन** के रूप में देखने को मिलता है। यह वह शासन है जिसमें राज्य की सम्पूर्ण सत्ता राजा के रूप में एक ऐसे व्यक्ति के हाथों में केन्द्रित रहती है। जिसे उसकी प्रजा द्वारा ईश्वर के प्रतिनिधि और विशिष्ट गुणों से सम्पन्न व्यक्ति के रूप में देखा जाता है। साधारणतया राजा की मृत्यु के बाद यह सत्ता उसके सबसे बड़े पुत्र को उत्तराधिकार के रूप में देखा जाता है। साधारणतया राजा की मृत्यु के बाद या सत्ता उसके सबसे बड़े पुत्र का उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हो जाती है। परम्परागत सत्ता का यह रूप निरंकुश प्रकृति का होता क्योंकि इसमें राजा उन्हीं नियमों को लागू करता है जो उसकी शक्ति और सत्ता को बनाये रख सकें। उसके सबसे बड़े पुत्र को सत्ता उत्तराधिकार रूप में प्राप्त हो जाती है। परम्परागत सत्ता का यह रूप निरंकुश प्रकृति का होता क्योंकि इसमें राजा द्वारा उन्हीं नियमों को लागू किया जाता है जो उसकी शक्ति और सत्ता को बनाये रख सके। पैतृक शासन में जो व्यक्ति शासक के प्रति जितने अधिक भक्त और विश्वसनीय होते हें, उन्हें उतने ही उच्च पद और अधिकार सौंपे जाते हैं। कुछ समय पहले तक धर्म-प्रधान समाजों में परम्परागत सत्ता का यह रूप बहुत प्रभावपूर्ण बना रहा।

(स) परम्परागत सत्ता का तीसरा **समान्तवादी व्यवस्था** के रूप में देखने को मिलता है। यह पैतृक शासन का ही संशोधित रूप है। इसके अन्तर्गत एक पैतृक शासक अपनी सत्ता अनेक सामन्ती एक-एक विशेष क्षेत्र में रहने वाले लोगों को अपने आदर्शों का पालन करवाने के लिए उसी तरह अधिकृत हो जाते हैं जिस प्रकार पैतृक शासक द्वारा लोगों के व्यवहारों को प्रभावित किया जाता है। यह सामन्त शासक के विशेष कृपापात्र होते हें। इसके बाद भी वे परम्परा के अनुसार शासक की समय-समय पर निश्चित कर और उपहार देते रहते हैं। सामान्तवादी इस दृष्टिकोण से भी परम्परागत सत्ता का उदाहरण है कि एक सामन्त की मृत्यु के बाद उसकी सत्ता स्वत: ही उसके पुत्र को मिल जाती है। यह भी परम्परा के अनुसार निर्धारित होने वाली एक निरंकुश सत्ता होती है।

(3) चमत्कारी सत्ता (Charismatic Authority)

वेबर के अनुसार चमत्कारी सत्ता का सम्बन्ध उस व्यक्ति की सत्ता से है जिसमें कुछ विशेष चमत्कारिक गुण होन के कारण जन-साधारण द्वारा उसके आदेशों को माना जाने लगता है। ऐसी सत्ता का स्त्रोत न तो वैधानिक नियम होते है और न ही परम्पराऐं। इसका आधार एक ऐसी चमत्कारिक क्षमता है जिसके कारण व्यक्ति को स्वयं ही समाज में एक विशेष सत्ता प्राप्त हो जाती हे। व्यक्ति की चमत्कारी शक्ति चाहे वास्तविक हो अथवा काल्पनिक,

NOTES

उसकी सत्ता में विश्वास रखने वाले लोग यह मानते हैं कि उस व्यक्ति में कोई ऐसी दैविक शक्ति है जिसकी सहायता से सभी तरह कर सफलताएँ प्राप्त की जा सकती हैं। इस दृष्टिकोण से कोई भी पैगम्बर, तान्त्रिक, नायक योद्धा अथवा नेता जो अपने चमत्कारी कार्यो के कारण लोगों को आदेश देने की वैधानिक शक्ति प्राप्त कर लेता है, उसे चमत्कारी सत्ता कहा जाता है। कोई व्यक्ति चमत्कारी सत्ता का उपयोग तभी तक कर सकता है जब तक वह यह सिद्ध करता रहे कि उसके चमत्कारों के बिना किसी भी तरह की सफलता प्राप्त अथवा सेवक के समान होती है। यह अनुयायी किन्ही विशेष कानूनों अथवा परम्पराओं के कारण उस नेता की सत्ता में विश्वास नहीं करते बल्कि उसके वैयक्तिक गुणों के कारण ही उसके आदर्शों का पालन करते रहते हें।

चमत्कारी सत्ता के अन्तर्गत विभिन्न अधिकारियों का चुनाव उनकी योग्यता या कुशलता के आधार पर नहीं किया जाता। जिस व्यक्ति के सत्तावान व्यक्ति के प्रति जितनी अधिक निष्ठा और भक्ति होती है, उसे उतना ही ऊँचा स्थान दे दिया जाता है। इन लोगों की कार्य–पद्धति इस तरह की होती है कि वेबर ने ऐसे अधिकारियों को 'शिष्य पदाधिकारी' (Disciple officials) का नाम दिया है। चमत्कारी सत्ता के अधीन काम करने वाले अधिकारी किन्हीं विशेष नियमों का कानूनों से बँधे हुए नहीं होते बल्कि अपने नेता की इच्छाओं के अनुसार कार्य करना ही उनका दायित्व होता है। वेबर ने लिखा है कि जब कभी चमत्कारी सत्ता से सम्पन्न व्यक्ति अपने शिष्यों की आकांक्षा के अनुरूप अपने चमत्कार को सिद्ध नहीं कर पाता तो उसकी सत्ता कमजोर पड़ने लगती हैं। **रेमण्ड एरों** ने वेबर के कथन के आधार पर रूस के लेनिन की सत्ता की चमत्कारी सत्ता के सबसे स्पष्ट उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। **एरों** के अनुसार रूस की क्रान्ति के समय लेनिन को मिलते वाली सत्ता का आधार न तो वहाँ के कानून थे और न ही वर्षो पुरानी रूसी परम्पराएँ। इसके बाद भी उन्होंने अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व और विशेष गुणों के आधार पर अपनी चमत्कारी सत्ता स्थापित कर दी। भारत के सन्दर्भ में महात्मा गाँधी तथा विवेकानन्द की सत्ता को चमतकारी सत्ता कहा जा सकता है। यह उदाहरण स्पष्ट करते हें कि चमत्कारी सत्ता की प्रकृति पूर्णतया व्यक्तिगत होती है। सामान्य लोगों का यह विश्वास होता है कि चमत्कारी सत्ता से सम्पन्न व्यकित में कुछ ऐसे विशेष गुण, दैविक शक्ति अथवा असाधारण क्षमताएँ होती हैं कि इनकी सहायता से वह किसी भी कठिन–से –कठिन कार्य को पूरा कर सकता है। इसके बाद भी यह सच है कि चमत्कारी सत्ता की अवधि अधिक लम्बी नहीं होती।

सत्ता के विभिन्न प्रकारों तथा इनके लक्षणों की विवेचना करने के साथ वेगर ने उन दशाओं का भी उल्लेख किया जो समाज में एक विशेष प्रकार की सत्ता को स्थायी बनाए रखने में योगदान करती हैं। सर्वप्रथम जिन लोगों के पास सत्ता होती है, उनकी संख्या कम होने के साथ ही वे अधिक संगठित रहते हैं। अपनी नीतियों की गोपनीयता बनाये रखने के कारण भी वे अपनी सत्ता को स्थायी बनाये रखने में सफल हो जाते हैं। दूसरे एक विशेष सत्ता से सम्बन्धित अधिकांश व्यकित वे होते हें जो उस सत्ता के आदेशों का पालन करते रहने से ही अपने को अधिक सुरक्षित महसूस करते हैं। ऐसे लोग दूसरे व्यक्तियों को भी सत्ता में विश्वास करने और उसके आदेशों का पालन करते रहने की प्रेरणा देते रहते हें।

तीसरे, सत्ता, सम्पन्न व्यक्तियों का सदैव यह प्रयत्न रहता है कि वे कुछ प्रभावशाली लोगों को विशेष लाभ पहुँचाकर अपनी सत्ता को बनाये रखें। इससे भी एक विशेष सत्ता का योजनाबद्ध रूप से विरोध करने वालो की संख्या कम हो जाती है। अन्त में सत्ता पर अधिकार रखने वाले लोग किसी–न–किसी आधार पर यह प्रमाणित करने का प्रयत्न करते रहते हैं कि वे जो कुछ भी कर रहे हें, वह जन–सामान्य के हित में है। यही वे दशाएँ हैं जो जन–साधारण को एक विशेष सत्ता का मान्यता देने की प्रेरणा देती रहती हैं।

सत्ता की ऐतिहासिक विवेचना
(HISTORICAL EXPLANATION OF AUTHORITY)

सत्ता की अवधारणा तथा इसके विभिन्न प्रकारों की विवेचना करने के साथ ही वेबर ने सत्ता के विभिन्न स्वरूपों के ऐतिहासिक क्रम को भी स्पष्ट किया। वेबर के अनुसार सत्ता की कोई–न–कोई प्रणाली प्रत्येक युग में विद्यमान रही है तथा इसी के अनुसार लोगों के व्यवहारों को एक विशेष ढंग से प्रभावित किया जाता रहा है। सत्ता का सबसे आरम्भिक रूप चमत्कारी सत्ता के रूप में विद्यमान था। सामाजिक मूल्यों और परम्पराओं में परिवर्तित होने लगा, तब समाज में अनुभवों और वृद्ध लोगों को अधिक सम्मान दिया जाने लगा। इसके फलस्वरूप चमत्कारी सत्ता की लगह परम्परागत सत्ता का महत्व बढ़ने लगा। आधुनिक समाजों का आकार जब बहुत बड़ा हो गया तथा उन व्यवहारों को अधिक महत्व दिया जाने लगा जो तार्किक मूल्यो पर आधारित थे, तब परम्परागत सत्ता के स्थान पर वैधानिक महत्वपूर्ण बनने लगीं। इसके बाद भी वेबर ने यह स्पष्ट किया कि विभिन्न समाजों में सत्ता के इन विभिन्न प्रकारों का विकास निश्चित ऐतिहासिक क्रम में नहीं हुआ। इस विकास क्रम को प्रस्तुत करने पीछे वेबर का उद्देश्य केवल उन दशाओं को स्पष्ट करना था जिनके आधार पर सत्ता का एक विशेष रूप किसी दूसरे रूप में बदल जाता है।

ऐतिहासिक क्रम में चमत्कारी सत्ता को वेबर ने पहला स्थान दिया। प्राचीन समय के अधिकाशं समाजों में सत्ता के इसी प्रकार की प्रधानता रही है। वेबर ने लिखा कि अन्य विशेषताओं के साथ चमत्कारी सत्ता से सम्बन्धित सबसे बड़ी समस्या सत्ता–सम्पन्न व्यक्ति की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी की खोज करने में सम्बन्धित थी। विभिन्न समाजों में इसके लिए अलग–अलग प्रक्रियाएँ अपनायी जा सकती थीं इनमें से कुछ प्रमुख प्रक्रियाएँ इस प्रकार है—

(1) कुछ समुदायों में चमत्कारी सत्ता के उत्तराधिकारी की खोज इस विश्वास के आधार पर की जाती है कि समाज से किसी अन्य व्यकित के पास भी एक चमत्कारी शक्ति विद्यमान है जिसकी खोज करके उसे सत्ता सौंपी जा सकती है। इसके उदाहरण के रूप में वेबर ने तिब्बत के उन बौद्धों का उल्लेख किया जिनमें उसी व्यक्ति को दलाईलामा घोषित कर दिया जाता है। जिसमें अपने धार्मिक मानदण्डों को बनाये रखने की सबसे अधिक क्षमता होती है।

(2) अक्सर चमत्कारी सत्ता की खोज किसी अलौकिक भविष्यवाणी अथवा स्वप्न के रूप में मिलने वाले दैविक आदेश के आधार पर की जाती है।

NOTES

(3) कुछ विशेष दशाओं में चमत्कारी सत्ता से सम्पन्न व्यक्ति द्वारा स्वयं ही अपने उत्तराधिकारी का चयन किया जाता है। ऐसे व्यक्ति को यदि दूसरे अनुयायियों द्वारा भी अपना नेता मान लिया जाये तो वह चमत्कारी सत्ता का उत्तराधिकारी बन जाता है।

(4) प्राचीन काल में अनेक राजा अपने मन्त्रियों और विश्वासपात्र लोगों की सलाह से अपने उत्तराधिकारी का चयन करते थे।

(5) वेबर के अनुसार कुछ समुदायों मे यह विश्वास किया जाता है कि चमत्कारी नेता का सम्बन्ध किसी एक ही वंश से होता है। इसके फलस्वरूप चमत्कारी नेता के पुत्र को ही उसके उत्तराधिकारी के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है। इस दशा में चमत्कारी सत्ता का रूप वंशानुगत हो जाता है।

(6) अनेक धर्म-प्रधान समाजों मे चमत्कारी सत्ता का का उत्तराधिकार उस व्यक्ति को प्राप्त होता है जिसमें अपने धर्म के प्रति अधिक निष्ठा और दैनिक शक्ति होने का विश्वास किया जाता है वेबर के अनुसार प्राचीन समय में फ्रांस के राजाओं को इसी आधार पर सत्ता प्राप्त होती थी।

विभिन्न समाजों में जब पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलने वाली मान्यताओं और विश्वासों के आधार पर कुछ विशेष व्यक्तियों की सत्ता को स्वीकार करना आरम्भ कर दिया गया, तब परम्परागत सत्ता का उद्‌भव हुआ। विभिन्न अवधियों तथा विभिन्न समाजों में परम्परागत सत्ता का विकास भी अलग-अलग रूपों में हुआ। जिनमें वेबर ने तीन तरह की परम्परागत सत्ता को अधिक महत्व दिया—

(1) परम्परागत सत्ता का सबसे आरम्भिक रूप वृद्ध लोगों की सत्ता के रूप में देखने को मिलता है। समाज में अधिकांश लोग जब यह विश्वास करने लगे कि वृद्ध लोगों के लम्बे अनुभवों की सहायता से ही समूह को अधिक संगठित रखा जा सकता है, तब ऐसी सत्ता का प्रादुर्भाव हुआ। आज भी जो जनजातियों अपनी प्राचीन और मौलिक संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाली हैं, उनमें कबीले अथवा गोत्र के सर्वाधिक वृद्ध व्यक्ति को मुखिया के रूप में स्वीकार करके उसके आदर्शों का पालन करना आवश्यक समझा जाता है। भारत में गाँव पंचायत तथा जाति पंचायत के रूप में वृद्ध लोगों के अधिकार भी सत्ता के इस रूप को स्पष्ट करते हैं।

(2) प्राचीन समय में एक-एक समूह का संगठन एक कुल या वंश की अनेक पीढ़ियों वाले उन सदस्यों से होता था जो साधारणतया अपने लिए एक पृथक गाँव की स्थापना कर देते थे। इसके फलस्वरूप गाँव में अनेक वृद्ध व्यक्तियों को सत्ता न देकर उन लोगों को सत्ता देना अधिक उपयोगी समझा जाने लगा जो कुल-पिता अथवा पूरे परिवार के कर्त्ता थे। इसके फलस्वरूप समाज में कुल-पिता का सत्ता का आरम्भ हुआ।

(3) परम्परागत सत्ता के अन्तर्गत आनुवांशिक सत्ता अथवा पैतृक सत्ता का रूप सबसे बाद में विकसित हुआ। यह सत्ता का वह रूप है जिसमें राजा, सामन्त अथवा कुल-पिता की सत्ता उसके सबसे ज्येष्ठ पुत्र को प्राप्त होने लगी। जिन समाजों में मातृवंशीय

परम्परा थीं, उनमें माता की सत्ता कुछ विशेष परम्पराओं के अन्तर्गत उसकी किसी पुत्री को प्राप्त होने लगी।

NOTES

जब आधुनिक और जटिल राज्यों होने लगी, तब चमत्कारी सत्ता और परम्परागत सत्ता के दोषों को महसूस करके एक ऐसी वैधानिक सत्ता की आवश्यकता महसूस की जाने लगी जिसके द्वारा सामाजिक और आर्थिक संगठन को अधिक तार्किक रूप दिया जा सके। चमत्कारी और परम्परागत सत्ता में सत्ताधारी व्यकित समूह की सम्पत्ति को अपनी सम्पत्ति मानकर उसका मनमाना उपयोग करने लगे थे। जब मुद्रा का प्रचलन बढ़ने से आर्थिक क्रियाओं का विस्तार हुआ तो यह आवश्यक समझा गया कि एक कुशल नौकरशाही अथवा अधिकारीतन्त्र को विकसित करके राज्य की स्थिति को सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न किया जाये। राज्य में आन्तरिक शान्ति की स्थापना करने, आर्थिक विकास करने तथा सामाजिक सेवाओं को पूरा करने के लिए भी यह आवश्यक हो गया कि शासन उन व्यक्तियों के माध्यम से चलाया जाये जो किसी विशेष नेता अथवा व्यक्ति के भक्त न होकर राज्य के कानूनों के प्रति अधिक वफादार हों। इस प्रकार एक बड़े पैमाने पर प्रशासनिक कार्यो को चलाने के लिए बहुत-से व्यक्तियों के कार्यो का तार्किक आधार पर समन्वय आधार पर समन्वय करने से नौकरशाही व्यवस्था का विकास हुआ। यही नौकरशाही आज वैधानिक सत्ता को लागू करने का सबसे प्रमुख उपकरण है।

वेबर ने स्पष्ट किया कि जैसे-जैसे सत्ता की प्रकृति में परिवर्तन होता गया, समाज के आर्थिक संगठन तथा व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों के बीच भी एक स्पष्ट परिवर्तन सामने आने लगा। सत्ता की ऐतिहासिक विवेचना के द्वारा वेबर ने इस तथ्य को भी स्पष्ट किया कि समाज की किसी विशेष दशा को प्रभावित करने में कोई एक कारक ही महत्वपूर्ण नहीं होता बल्कि विभिन्न कारकों के प्रभावों के सन्दर्भ में ही किसी विशेष दशा की विवेचना की जा सकती है।

आलोचना मूल्यांकन (CRITICAL EVALUATION)

सत्ता की अवधारणा तथा इसके विभिन्न प्रकारों के द्वारा वेबर का मुख्य उद्देश्य यह स्पष्ट करना था कि वैधानिक शक्ति के रूप में होने वाला परिवर्तन किस प्रकार सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन उत्पन्न करता है। वह उन दशाओं को स्पष्ट करना चाहते थे जिनके द्वारा व्यक्ति एक संस्थात्मक व्यवस्था से बँधे रहते हैं तथा सामूहिक एकता की प्रकृति के अनुसार व्यवहार के कुछ विशेष प्रतिमान विकसित करते हैं। सत्ता की वैज्ञानिक आधार पर विवेचना करके वेबर ने मानव व्यवहारों की उस प्रकृति को स्पष्ट किया जिसके अनुसार संगठन में कोई अधिकार न मिलने के बाद भी लोग एक सत्ताधारी व्यक्ति की श्रेष्ठता को स्वीकार कर लेते हैं। इसके बाद भी सत्ता से सम्बन्धित वेबर के विचारों की अनेक आधारों पर आलोचना की गयी है।

(1) सत्ता की विवेचना में वेबर उन कारणों को स्पष्ट नहीं कर सके जो लोगों को अधिकारों से वंचित होने के बाद भी सत्ताधारी व्यक्ति की श्रेष्ठता को स्वीकार करने की प्रेरणा देते हैं। केवल परम्परा अथवा चमत्कार के आधार पर ही प्राचीन समाजों में सत्ता के रूप को स्पष्ट नहीं किया जा सकता।

(2) सत्ता की विवेचना में वेबर के अनेक कथन परस्पर विरोधी हैं। एक ओर वेबर ने सत्ता की व्याख्या 'संस्थागत शक्ति' अथवा 'कानूनों द्वारा प्राप्त अधिकारों की शक्ति' के रूप में की है; दूसरी और उन्होंने चमत्कारी सत्ता तथा वृद्ध लोगों या कुल-पिता की सत्ता के रूप में परम्परागत सत्ता को एक विशेष प्रारूप के रूप में स्वीकार किया है। वास्तव में, शक्ति के संस्थात्मक रूप के आधार पर केवल वैधानिक सत्ता को उचित माना जा सकता है, चमत्कारी परम्परागत सत्ता को नहीं।

(3) वेबर ने मानवीय व्यवहारों को स्पष्ट करने के लिए सामाजिक क्रिया के चार प्रकारों का उल्लेख किया है। यदि उनका उद्देश्य सत्ता के प्रकारों के आधार पर मानवीय व्यवहारों की प्रकृति को स्पष्ट करना होता तो सत्ता के भी चार प्रकार होने चाहिए थे।

(4) सत्ता के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख करने के साथ वेबर ने यह भी स्पष्ट किया कि यह विभिन्न प्रकार एक प्रकार के आदर्श अथवा मॉडल हैं, यद्यपि किसी भी समाज में एक ही समय में सत्ता के एक से अधिक प्रकार साथ-साथ विद्यमान हो सकते हैं। इसके विपरीत, वास्तविकता यह है कि एक विशेष अवधि में किसी समाज अथवा समूह के अन्तर्गत सत्ता का विशेष प्रकार ही अधिक महत्वपूर्ण प्रभावपूर्ण होता है। उदाहरण के लिए भारत में गाँव पंचायतों को जब वैधानिक सत्ता प्राप्त हो गयी तो गाँव पंचायतों पर परम्परागत रूप स्वयं ही बदल गया।

(5) वेबर का यह कथन भी प्रामाणिक प्रतीत नहीं होता कि आधुनिक जटिल और बड़े समाज वैधानिक सत्ता से ही सम्बन्धित हैं। ऐसे समाजों में भी कुछ नेता अपने आपको चमत्कारी सिद्ध करके सत्ता प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं।

इन आलोचनाओं के बाद भी यह सच है कि सत्ता तथा अधिकारीतन्त्र की विवेचना वेगर के 'राजनीतिक समाजशास्त्र' का प्रमुख आधार है। इस सम्बन्ध में वेबर का दृष्टिकोण दूसरे विचारकों की तुलना में कही अधिक व्यवहारों और तर्कपूर्ण है।

धर्म के समाजशास्त्र की विवेचना में वेबर की प्रमुख रुचि यह स्पष्ट करने में रही कि संसार के विभिन्न धर्मो के आचारों का आर्थिक क्रियाओं पर क्या प्रभाव पड़ा। इसके लिए वेबर ने केवल धार्मिक आचारों तथा आर्थिक व्यवहारों के सह-सम्बन्ध को स्पष्ट नहीं किया बल्कि सामाजिक संस्तरण पर धार्मिक विचारों के प्रभाव को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया। उन्होंने यह बतलाया कि किस प्रकार प्रोटेस्टेण्ट धर्म के उपदेशकों, कन्फ्यूशियम विद्वानों, हिन्दू ब्राह्मणों तथा यहूदी लेवी और पैगम्बरों की अपनी-अपनी एक अलग जीवन-शैली थी किस प्रकार उन्होंने अपने धार्मिक आचारों के द्वारा सामाजिक संस्तरण तथा आर्थिक क्रियाओं को एक विशेष रूप देने का प्रयत्न किया। इस सम्पूर्ण विवेचना के द्वारा वेबर ने मार्क्स से असहमत होते हुए धार्मिक आचारों की भिन्नता को ही विभिन्न समाजों में पायी जाने वाली आर्थिक व्यवस्थाओं की भिन्नता का कारण मान लिया। इसके बाद में भी अनेक विद्वानों ने वेबर की धर्म सम्बन्धी विवेचना से असहमति व्यक्त की है।

सॉरोकिन ने लिखा है कि वेबर ने पूँजीवाद के विकास पर आर्थिक आचारों के प्रभावों को स्पष्ट करने के लिए धर्म की जिस ढंग से विवेचना की है उससे ऐसा प्रतीत होता है

कि उनका विश्लेषण धर्म के समाजशास्त्र से सम्बन्धित न होकर संस्कृति के विश्लेषण से अधिक सम्बन्धित है। कुछ दूसरे आलोचक यह मानते हैं कि वेबर की व्याख्या से ऐसा प्रतीत होने लगता है कि पूँजीवाद की उत्पत्ति ही प्रोटेस्टेण्ट धर्म के आचारों के कारण हुई। वेबर ने यद्यपि इस आलोचना का खण्डन यह कहकर किया कि उनका उद्देश्य पूँजीवाद की उत्पत्ति को स्पष्ट करना न होकर पूँजीवाद के विकास के एक प्रमुख कारण को ढूँढ़ना रहा है लेकिन इन दोनों दशाओं को एक-दूसरे से पृथक कर सकना बहुत कठिन है।

इन समस्त आलोचनाओं के बाद भी यह कहा जा सकता है कि वेबर ने एक विकसित पद्धतिशास्त्र तथा गहन अन्तर्दृष्टि के द्वारा आर्थिक सम्बन्धों की प्रकृति को स्पष्ट करने के लिये विभिन्न धर्मों के आचारों के प्रभाव का जिस रूप में स्पष्ट किया, वह धर्म के समाजशास्त्र में निश्चय ही वेबर का महत्वपूर्ण योगदान है। वेबर का सम्पूर्ण विवेचन ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक पद्धतियों के उपयोग पर आधारित रहा जिसके फलस्वरूप उनके विचारों की सरलता से आलोचना कर सकना सम्भव नहीं है।

आदर्श-प्रारूप (DEAL TYPE)

डिल्थे के इतिहासवाद तथा कॉत के बुद्धिवाद से प्रभावित होकर वेबर ने समाजशास्त्रीय विश्लेषण के लिए जिस महत्वपूर्ण साधन तथा उपकरण को प्रस्तुत किया, उसे आपने 'आदर्श प्रारून' का नाम दिया। वेबर ने आदर्श-प्रारूप की अवधारणा सन् 1904 में वस्तुनिष्ठता (Obectivity) शीर्षक से लिखे गये निबन्ध के अन्तगर्त प्रस्तुत की। इस निबन्ध में वेबर ने आर्थिक सिद्धान्तों का सन्दर्भ देते हुए लिखा कि आर्थिक घटनाओं के विश्लेषण में अनुमान अथवा अनुभवसिद्ध तथ्यों के आधार पर कोई निष्कर्ष देने से अधिक उपयोगी और वैज्ञानिक प्रणाली यह हो सकती है। कि पहले हम आर्थिक व्यवहारों से सम्बन्धित कुछ आदर्श-प्रारूपों का निर्माण कर लें और इसके पश्चात् वर्तमान आर्थिक व्यवहारों से उनकी समानता अथवा असमानता के आधार पर आर्थिक व्यवहारों की प्रकृति को समझने का प्रयत्न करें। बाद में वेबर ने आदर्श-प्रारूप को ही अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण उपकरण मानते हुए सामाजिक घटनाओं के विश्लेषण में इसका व्यापक उपयोग किया।

आदर्श प्रारूप की प्रकृति को समझने से पहले इसके शाब्दिक अर्थ को समझना जरूरी है। न्यू वेबस्टर डिक्शनरी में दिये गये अर्थ के अनुसार 'आइडियल' अथवा 'आदर्श' का अर्थ है। ''अधिक से अधिक पूर्णता की दशा को स्पष्ट करने वाला एक मानक स्वरूप या अवधारणा।'' इसका तात्पर्य यह है कि कोई आदर्श एक विशेष छवि या धारणा के रूप में होती है जिसके सन्दर्भ में हम एक विशेष दशा या तथ्य को समझने का प्रयत्न करते हैं। ''टाइप अथवा हिन्दी के शब्द 'प्रारूप' का अर्थ है। ''एक विशेष प्रकार वर्ग या समूह जिसे अपनी कुछ खास विशेषताओं के कारण दूसरे वर्गो से अलग रखा जा सके।'' इस आधार पर हम किसी भी उस तथ्य व्यक्ति, वर्ग अथवा समूह की आदर्श प्रारूप कह सकते हैं जिनके अपने कुछ विशेरूष लक्षण हों तथा उनकी सहायता से एक सम्पूर्ण वर्ग या समूह की प्रकृति को समझा जा सके।

आदर्श-प्रारूप की प्रकृति को स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता है कि ''आदर्श-प्रारूप विश्लेषण की एक रचना अथवा विन्यास (Construct) है जो अध्ययनकर्ता को वास्तविक

दशाओं से समानता तथा भिन्नता का मान करने के लिए मापदण्ड प्रदान करता है।'' इस सम्बन्ध में इस ध्यान रखना आवश्यक है कि आदर्श-प्रारूप में आदर्श शब्द का सम्बन्ण किसी श्रेष्ठता अथवा नैतिकता के आधार से नहीं है। कुछ वास्तविकताओं अथवा घटनाओं का जो प्रारूप उपयोगिता के दृष्टिकोण से आदर्श है, उसी को वेबर ने आदर्श-प्रारूप कहा। यह प्रारूप इसलिए आदर्श होता है क्योंकि इसका निर्माण कुछ वास्तविक तथ्यों के आधार पर किया जाता है। वास्तविकता यह है सामाजिक व्यवहारों का क्षेत्र इतना व्यापक है कि सभी मानवीय व्यवहारों का व्यवस्थित रूप से अध्ययन नहीं किया जा सकता। समाज विज्ञानियों के पास ऐसा कोई उपकरण भी नहीं है। जिसके द्वारा अनुभवसिद्ध तथ्यों की प्रामाणिकता को तार्किक आधार पर समझा जा सके। इस स्थिति में यह आवश्यक है कि कुछ प्रमुख ऐतिहासिक तथ्यों अथवा व्यवहार के प्रतिमानों का तर्कपूर्ण ढंग से चुनाव करके एक ऐसे मानदण्ड अथवा प्रारूप का निर्माण कर लिया जाए जिससे वर्तमान मानवीय व्यवहारों की तुलना करके एक निष्कर्ष पर पहुँचा जा सके। इस आधार पर कहा जा सकता है कि 'आदर्श-प्रारूप' तर्कसंगत रूप से बनाये गये तथ्यों की एक श्रेणी है जिसके आधार पर अनुभवसिद्ध तथ्यों की तुलना की जाती है। उदाहरण के लिए एक श्रेणी के रूप में यदि हम यह स्वीकार कर लें कि संगठित विनिमय प्रणाली, तार्किक आधार पर वस्तुओं का उत्पादन विक्रय की संगठित व्यवस्था, ऋृण-प्रणाली, निजी सम्पत्ति, श्रम-विभाजन तथा मुक्त व्यवसाय पूँजीवाद के प्रमुख आधार हैं तब इन सभी विशेषताओं से जिस प्रकार प्रारूप का निर्माण होगा उसे हम 'पूँजीवाद का आदर्श-प्रारूप' कहेंगे। इसकी तुलना से ही यह ज्ञात करना सम्भव हो सकता है कि वर्तमान आर्थिक व्यवहार इस आदर्श-प्रारूप के कितने समान अथवा असमान हैं।

उपर्युक्त आधार पर वेबर ने स्पष्ट किया कि आदर्श-प्रारूप को 'विशुद्ध प्रारूप' (Pure Type) भी कहा जा सकता है। इसका तात्पर्य है कि जिन विशेषताओं के द्वारा किसी आदर्श-प्रारूप का निर्माण किया जाता है। वे सामान्य विशेषताएँ न होकर आधारभूत और महत्वपूर्ण विशेषताएँ होती हैं। आदर्श-प्रारूप इस अर्थ में भी विशुद्ध होता है कि इसमें सम्मिलित होने वाले तत्व उस प्रारूप की पुरातन विशेषताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं । यह भी मान लिया जाता है। कि आदर्श-प्रारूप का निर्माण करने वाले तत्व स्वयं में पूर्ण हैं तथा उनके आधार पर अन्य व्यवहारों को तुलना करके किसी निष्कर्ष तक पहुँचा जा सकता है।

अध्ययन की एक पद्धति के रूप में आदर्श प्रारूप का निर्माण किस तरह किया जाता है? वेबर ने इसके लिए एक सरल तरीका प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा कि यदि हम किसी समाज के पूरे ढाँचे को समझना चाहें तो सामाजिक ढाँचे से सम्बन्धित बहुत-से तत्व अस्पष्ट और भ्रम पैदा करने वाले हो सकते हैं। इस दशा में सामाजिक ढाँचे से सम्बन्धित कुछ प्रतिनिधि लक्षणों को चुनकर एक विशेष प्रारूप का निर्माण करना जरूरी होता है। उदाहरण के लिए वेबर ने प्रोटेस्टेन्ट या काल्विन धर्म की उन मुख्य विशेषताओं और सिद्धान्त को एकत्रित किया जिनका पूँजीवाद को विकसित करने में विशेष महत्व रहा है। इसके बाद उन्होंने आनुभाविक आधार पर यह देखा कि यूरोप मे पूँजीवाद के विकास में काल्विन धर्म का यह आदर्श प्रारूप कहाँ तक प्रासंगिक है। यदि हम भारत का उदाहरण

लें तो यहाँ बहुदलीय प्रणाली, वयस्क मताधिकार, धर्मनिरपेक्षता, समानता, का अधिकार और जन प्रतिनिधियों द्वारा सरकार का गठन आदि लोकतन्त्र को प्रतिनिधि विशेषताएँ हैं। यही विशेषताएँ संयुक्त रूप से लोकतन्त्र का आदर्श प्रारूप होंगी तथा इन्हीं के आधार पर यह स्पष्ट किया जा सकता है कि हमारी लोकतान्त्रिक प्रणाली किस सीमा तक प्रभावी या अप्रभावी है।

वेबर द्वारा प्रस्तुत आदर्श-प्रारूप की प्रकृति को इसकी कुछ विशेषताओं की सहायता से सरलतापूर्वक समझा जा सकता है—

(1) आदर्श-प्रारूप स्वयं में कोई सिद्धसन्त न होकर अध्ययन की केवल एक प्रणाली है। यह प्रणाली इस बात को मानकर नहीं चलती कि सभी सामाजिक घटनाएँ तार्किक होती हैं, यद्यपि स्वयं आदर्श-प्रारूप एक ऐसा आधार प्रदान करता है जिसकी सहायता से किसी अवलोकन अथवा अध्ययन को तार्किक बनाया जा सकता है। वास्तव में समाज विज्ञानों का सबसे महत्वपूर्ण कार्य सामाजिक व्यवहारों के अवलोकन का आधारित बोध तथा विवेचनात्मक बोध प्राप्त करना है। आदर्श-प्रारूप ही वह माध्यम अथवा उपकरण है जिसके द्वारा ऐसा बोध प्राप्त किया जा सकता है।

(2) आदर्श-प्रारूप कुछ तर्कपूर्ण और सुसम्बद्ध व्यवहारों की एक ऐसी श्रेणी है जिसे विशुद्ध में किसी भी समाज ने नहीं पाया जा सकता है। इसका तात्पर्य है कि आदर्श-प्रारूप का उपयोग केवल तुलना के लिए बनायी जाने वाली एक श्रेणी से ही होता है।

(3) वेबर ने अनुसार आदर्श-प्रारूप को कोई ऐसी सैद्धान्तिक परिकल्पना नहीं माना जा सकता है जिसे अनुभवसिद्ध तथ्यों के द्वारा प्रमाणित या अप्रमाणित सिद्ध किया जा सके। इसके विपरीत, आदर्श-प्रारूप स्वयं में एक ऐसा मॉडल है जिससे अनुभव सिद्ध तथ्यों की तुलना करके नयी परिकल्पनाओं का निर्माण किया जा सकता है।

(4) आदर्श-प्रारूप की प्रकृति 'औसत प्रारूप' से भिन्न होती है। आदर्श-प्रारूप अपनी प्रकृति से गुणात्मक होता है। इसका निर्माण उन विशेष तत्वों से होता है जो एक विशेष परिस्थिति के अन्तर्गत बहुत विशिष्ठ और अनिवार्य प्रकृति के होते हैं। दूसरी ओर, औसत प्रारूप कुछ ऐसी सामान्य विशेषताओं से निर्मित होता है जिन्हें अध्ययन के दौरान अक्सर सांख्यिकीय गणना से प्राप्त कर लिया जाता है। यही कारण है कि आदर्श-प्रारूप की 'विश्लेषण की अवधारणात्मक रचना भी कहा जाता है।

(5) आदर्श प्रारूप का निर्माण करना स्वयं से एक लक्ष्य नहीं है बल्कि यह केवल एक साधन है जिसकी सहायता से वर्तमान व्यवहारों का विश्लेषण किया जाता है इसे न ता ऐतिहासिक वास्तविकता कहा जा सकता है और न ही अनुभवसिद्ध वास्तविकता। यह केवल तर्कपूर्ण तथ्यों के चुनाव की एक श्रेणी है।

(6) प्रत्येक परिस्थिति अथवा क्षेत्र से सम्बन्धित आदर्श-प्रारूप एक-दूसरे से भिन्न हो सकते हैं। इनका नैतिकता या अनैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसका तात्पर्य है कि जहाँ आर्थिक व्यवस्था राजनीतिक व्यवस्था, धार्मिक आचरणों अथवा परिवार

के कुछ आदर्श-प्रारूप हो सकते हें वहीं वेश्यालय (Brother) और अपराध के क्षेत्र में भी आदर्श-प्रारूपों को निर्माण किया जा सकता है। ऐसे सभी आदर्श-प्ररूपों का उपयोग एक विशिष्ट सैद्धान्तिक श्रेणी से वर्तमान व्यवहारों की तुलना करने के लिए किया जाता है।

(7) तुलना के एक घटक के रूप में आदर्श-प्रारूप की प्रकृति बहुत स्थायी होती है लेकिन कोई भी आदर्श-प्रारूप एक-दूसरे से इसलिए भिन्न हो सकते हैं कि उनकी परिस्थितियों एक-दूसरे से भिन्न होती है।

(8) एक आदर्श-प्रारूप का निर्माण करने वाले तत्व उस आदर्श-प्रारूप की प्रत्येक विशेषता से सम्बन्धित न होकर केवल कुछ अधिक महत्वपूर्ण और अनिवार्य विशेषताओं से ही सम्बन्धित होते हैं।

वेबर ने आदर्श प्रारूप की विशेषताओं को स्पष्ट करने के साथ ही इसके तीन मुख्य प्रकारों को भी स्पष्ट किया; (1) पहले प्रकार के आदर्श-प्रारूपों का आधार कुछ ऐतिहासिक विशिष्टताएँ होती है। उदाहरण के लिए प्रोटेस्टेन्ट आचार, वास्तविकताओं के तर्कपूर्ण चुनाव के द्वारा किया जाता है। (2) दूसरे प्रकार के आदर्श-प्रारूप उस सामाजिक यथार्थ से सम्बन्धित होते हें जिनमें अनेक अमूर्त अथवा गुणात्मक तत्वों का समावेश होता है। नौकरशाही, सत्ता के प्रकार तथा क्रिया के प्रकार इसी तरह के आदर्श-प्रारूप हैं। (3) तीसरी तरह से आदर्श-प्रारूप वे होते हें जिनका निर्माण कुछ विशेष तरह से व्यवहारों की तार्किक संरचना के आधार पर किया जाता है। वेबर के अनुसार आर्थिक सिद्धान्तों से सम्बन्धित अधिकांश मान्यताएँ इसी तरह के आदर्श-प्रारूपों को स्पष्ट करती हैं।

(1) विशिष्ट ऐतिहासिक तत्वों के आदर्श-प्रारूप—वेबर ने यह स्पष्ट किया कि आधुनिक पूँजीवाद को प्रोटेस्टेन्ट धर्म के आचारों से ऐतिहासिक सम्बन्ध रहा है। उन्होंने बतलाया कि पूँजीवाद का उद्देश्य अधिकाधिक लाभ पाना और पूँजी का संग्रह करना है। यह लक्ष्य उत्पादन के तार्किक संघटन पर आधारित होने के साथ ही व्यक्ति की तार्किक क्रियाओं और अनुशासित जीवन से सम्बन्धित है। प्रोटेस्टेन्ट धर्म के आचार लगातार और नियमित मेहनत को ईश्वर के गौरव के लिए किया जाने वाला काम मानते हैं। यह आचार परिश्रम को पूजा के रूप में देखते हैं तथा सुख की इच्छा का विरोध करते हैं वेबर के अनुसार पूँजीवाद अर्थव्यवस्था के विकस का सम्बन्ध मुख्य रूप ये पश्चिमी देशों से रहा है, इसलिए पूँजीवाद तथा प्रोटेस्टेन्ट धर्म के आदर्श-प्रारूप एक विशेष ऐतिहासिक घटना क्रम से सम्बन्धित हैं प्रोटेस्टेन्ट धर्म के आचार जिन आदर्श-प्रारूपों को स्पष्ट करते हैं, वे हिन्दू धर्म, इस्लाम, यहूदी तथा बौद्ध धर्मो में देखने को नहीं मिलते।

(2) सामाजिक यथार्थ के अमूर्त तत्वों पर आधारित आदर्श-प्रारूप—अनेक आदर्श-प्रारूप ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सन्दर्भ में कुछ ऐसे अमूर्त तत्वों से बनते हैं जिनकी सहायता से सामाजिक वास्तविकता को समझा जा सकता है। इसके लिए वेबर ने निम्नांकित तीन उदाहरण दिये।

(क) **नौकरशाही** का सम्बन्ध बहुत-से अधिकारियों और कर्मचारियों की एक ऐसी कार्यप्रणाली से है जो विवेकपूर्ण ढंग से किसी प्रशासनिक या औद्योगिक संगठन से

सम्बन्धित लक्ष्यों को पाने का प्रयत्न करती है। वेबर के अनुसार नौकरशाही के आदर्श-प्रारूप में अनेक तत्वों का समावेश है। उदाहरण के लिए विभिन्न अधिकारियों और कर्मचारियों में कार्यो का स्पष्ट विभाजन, उनके बीच अधिकारों का एक निश्चित और व्यवस्थित संस्तरण, प्रशासनिक कार्यो का लिखित रूप, निश्चित नियमों के आधार पर कार्य करना, नौकरशाही से जुड़े अधिकारियों और उनकी सेवाएँ लेने वाले व्यक्तियों वे अवैयक्कि सम्बन्धों का होना, अधिकारियों की नियुक्ति योग्यता के आधार पर होना तथा निजी और सरकारी आय के बीच एक स्पष्ट विभेद बनाये रखना कुछ प्रमुख तत्व है। नौकरशाही के से सभी तत्व अमूर्त हैं तथा सामाजिक वास्तविकता के एक विशेष रूप को दर्शाते हैं।

(ख) **सत्ता के प्रकार** सामाजिक यथार्थ से सम्बन्धित आदर्श-प्रारूप का दूसरा प्रमुख उदाहरण है। इसे स्पष्ट करने के लिए वेबर ने सत्ता के तीन आदर्श-प्रारूप स्पष्ट किये जिन्हें उन्होंने परम्परागत सत्ता, वैधानिक सत्ता तथा चमत्कारी सत्ता का नाम दिया। परम्परागत सत्ता पुराने रीति-रिवाजों और पवित्रता पर आधारित नियमों के विश्वास पर आधारित होती है। वैधानिक सत्ता व्यक्ति को कुछ कानूनों के द्वारा दी जाती हे। चमत्कारी सत्ता वह है जिसमें कोई व्यक्ति चमत्कारी कार्यो के द्वारा एक बड़ी संख्या में लोगों की श्रद्धा और विश्वास प्राप्त कर लेता हे।

(ग) **क्रिया के प्रकार** वेबर के अनुसार इस श्रेणी का तीसरा आदर्श-प्रारूप है। वेबर ने समाजशास्त्र को एक ऐसे विज्ञान के रूप में प्रस्तुत किया जिसमें सामाजिक क्रिया का व्यवस्थित रूप से अध्ययन किया जाता है। एक आदर्श-प्रारूप के रूप में सामाजिक क्रिया का सम्बन्ध उन सभी मानवीय व्यवहारों से है जिसका इसे करने वाले वेबर ने क्रिया के चार प्रकारों का उल्लेख किया जिन्हें लक्ष्यों के सन्दर्भ में क्रिया, मूल्यों के सन्दर्भ में क्रिया, परम्परागत क्रिया और भावात्मक क्रिया कहा गया। अपने वास्तविक जीवन में यह चारों तरह की क्रियाएं एक-दूसरे से पूरी तरह अलग नहीं होती बल्कि विभिन्न मानवीय क्रियाओं में इनका एक मिला-जुला रूप देखने को मिलता है।

(3) विशिष्ट व्यवहार की पुनःरचना से सम्बन्धित आदर्श-प्रारूप—कुछ आदर्श-प्रारूप इस तरह के होते हें जो एक विशेष तरह के व्यवहार की तार्किक संरचना से सम्बन्धित होते हैं। इसका उदाहरण देते हुए वेबर ने बतलाया कि आर्थिक जीवन से सम्बन्धित अधिकाशं मान्यताएँ और सिद्धान्त एक विशेष परिस्थितिया से लोगों के सम्भावित व्यवहार को कुछ आदर्श-प्रारूप के रूप में स्पष्ट होती है। बाजार में माँग और पूर्ति के अनुसार वस्तु की कीमत का निर्धारण होना तथा विभिन्न वस्तुओं की आपूर्ति और उनकी कीमत के आधार पर अक्सर उनकी उपयोगिता का मूल्यांकन करना इस तरह के आदर्श-प्रारूप के उदाहरण है। सामाजिक घटनाओं के अध्ययन के लिए वेबर ने इस तीसरी श्रेणी के आदर्श-प्रारूप के बारे में विस्तार से विवेचना नहीं की। उनके अनुसार समाजशास्त्रीय विश्लेषण के लिए पहले और दूसरे प्रकार के आदर्श-प्रारूप ही अधिक महत्वपूर्ण है।

समाजशास्त्रीय विश्लेषण के एक उपकरण के रूप में वेबर ने **आदर्श-प्रारूप के कुछ** प्रकार्य भी स्पष्ट किये। यह प्रकार्य मुख्य रूप से तीन है जो निम्न प्रकार हैं—

(1) आदर्श-प्रारूप का पहला प्रकार्य घटनाओं के वर्गीकरण के लिए एक व्यवस्थित आधार प्रदान करता है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना जरूरी है कि आदर्श-प्रारूप का तात्पर्य किसी अवधारणा से नहीं होता। उदाहरण के लिए, प्रस्थिति, भूमिका, चमत्कारी सत्ता तथा समूह आदि केवल कुछ अवधारणाएँ हैं। इसके विपरीत, आदर्श-प्रारूप को एक प्रतिमान अथवा परस्पर-सम्बन्धित अनेक कारकों का संकुल (Complex) कहा जा सकता है जिसमें अनेक अवधारणाओं का समावेश होता है। स्पष्ट है कि प्रत्येक आदर्श-प्रारूप की सहायता से सामाजिक घटनाओं का वर्गीकरण करना सरल हो जाता है।

(2) आदर्श-प्रारूप का दूसरा प्रकार्य उन कारकों को ज्ञात करता है जो किसी आधारभूत दशा में उत्पन्न होने वाले विचलन की प्रकृति और सीमा को स्पष्ट करते हैं जब हम तार्किक रूप ये अर्थपूर्ण क्रियाओं को लेकर किसी आदर्श-प्रारूप का निर्माण करते हैं तब यह जानना सरल हो जाता है कि कुछ अन्य क्रियाएँ को लेकर किसी आदर्श-प्रारूप की तुलना मे कितनी अधिक या कम तार्किक थी। इस प्रकार आदर्श-प्रारूप तुलना के लिए एक दृढ़ आधार प्रदान करता है। उदाहरण के लिए यदि किसी सम्प्रदाय की मौलिक वैचारिकी और उद्देश्यों के आधार पर आदर्श-प्रारूप का निर्माण कर लें तो यह सरलतापूर्वक समझा जा सकता है कि उस सम्प्रदाय से सम्बन्धित संगठनों की क्रियाएँ अपनी मूल वैचारिकी और उद्देश्यों से कितनी सम्बद्ध अथवा असम्बद्ध हैं।

(3) आदर्श-प्रारूप का तीसरा प्रकार्य सैद्धान्तिक विश्लेषण से सम्बन्धित है। इसका तात्पर्य है कि आदर्श-प्रारूप के आधार पर सामाजिक घटनाओं की भविष्यवाणी भी जा सकती है। वेबर का कथन है कि आदर्श-प्रारूप को एक मॉडल मानकर हम किसी विशेष परिस्थिति में होने वाले परिवर्तन का पूर्वानुमान कर सकते हैं। उदाहरण के लिए पूँजीवाद तथा प्रोटेस्टेण्ट आचार दो प्रमुख आदर्श-प्रारूप हैं जिनके पारस्परिक सम्बन्ध को स्थापित करके सह पूर्वानुमान किया जा सकता है कि संसार के किस देश में पूँजीवाद का विकास होने की अधिक सम्भावना है।

सामाजिक क्रिया

मेक्स वेबर ने सामाजिक क्रिया को समाजशास्त्र में एक समाजशास्त्रीय रूप प्रदान किया है। आपने सामाजिक क्रिया की परिभाषा, विशेषताएँ अध्ययन करने के दृष्टिकोण प्रकार आदि विभिन्न पक्षों का क्रमबद्ध वर्णन तथा व्याख्या की है। बेवर ने सामाजिक क्रिया की अवधारणा, सिद्धान्त तथा जो योजना दी है वे प्रमुख रूप से अपनी पुस्तक **'' दा थ्योरी ऑफ सोशियल एण्ड इकोनोमिक आर्गनाइजेशन''** अनुवादक ए. एम. हेण्डरसन तथा टेलकट पार्सन्स में है। इसके अतिरिक्त आपने अन्यत्र भी सामाजिक क्रिया के महत्व तथा विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डाला है। सामाजिक क्रिया का सिद्धान्त बेवर के समाजशास्त्रीय योगदानों में अत्यधिक महत्वपूर्ण है। बिना इसे समझे बेवर के विचारों को नहीं समझा जा सकता है। बेवर के अनुसार सामाजिक क्रिया का समाजशास्त्र में विशिष्ट स्थान है।

NOTES

समाजशास्त्र में सामाजिक क्रिया का महत्व (Importance of Social Action in Sociology)—मैक्स बेवर ने सामाजिक क्रिया को समाजशास्त्र के अध्ययन की वस्तु बताया है। आपके निम्न कथन में स्पष्ट हो जाता हे। कि सामाजिक क्रिया का समाज शास्त्र में विशेष महत्व है। बेवर ने **''दा थ्योरी ऑफ सोशियल एण्ड इकोनोमिक आर्गनाईजेशन''** में **'समाजशास्त्र और सामाजिक क्रिया की परिभाषाएं'** शीर्षक के अन्तगर्त इन दोनों की परिभाषाओं तथा इनके घनिष्ठ सम्बन्धों की विवेचना की है। आपने समाजशास्त्र की निम्न परिभाषा दी है—

''समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो सामाजिक क्रिया के व्याख्यात्मक बोध द्वारा उसके दिशा क्रम और परिणामों के कार्य-कारण विश्लेषण पर पहुँचने का प्रयास करता है''

आपके अनुसार सामाजिक क्रिया की वैज्ञानिक जानकारी होनी चाहिए। आपका कहना है कि सामाजिक क्रिया में विद्यमान कारणों तथा उनके परस्पर सम्बन्धों, प्रभावों आदि का विश्लेषण समाजशास्त्र को करना चाहिए। ऐसा करने पर ही सामाजिक क्रियाओं के सत्य तथा प्रमाणित परिणामों को ज्ञात किया जा सकता है। क्रिया में वेबर उन सभी मानवीय व्यवहारों को सम्मिलित करते हैं जिनमें क्रिया करने वाला व्यक्ति अपनी क्रिया के साथ व्यक्तिगत अर्थ जोड़ता है। इस सन्दर्भ में **एलेक्स इंक्लस** कहते हें कि बेवर सामाजिक व्यवहारों तथा कृत्यों का अध्ययन ही समाजशास्त्र का प्रमुख कार्य मानते हैं। आपने बेवर का निम्न कथन उद्धरित किया है—

''समाजशास्त्र प्रधानत: सामाजिक सम्बन्धों तथा कृत्यों का अध्ययन है।''

अत: है कि वेबर समाजशास्त्र में सामाजिक क्रिया को कितना महत्वपूर्ण मानते हैं आपके अनुसार, समाजशास्त्र को विषय-सामग्री अध्ययन का दृष्टिकोण अध्ययन पद्धति, सिद्धान्त आदि सामाजिक क्रिया के द्वारा ही नियन्त्रित निर्देशित और संचालित होते हैं। बेवर के इन विचारों का प्रभाव समाजशास्त्रियों पर पड़ा है जिनमें से उल्लेखनीय समाजशास्त्री टेलकट पारसन्स हैं। पारसन्स में मैक्स बेवर, कार्ल मार्क्स, दुर्खीम आदि विचारकों के सामाजिक क्रिया के सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या तथा समीक्षा की है तथा स्वयं का क्रिया का सिद्धान्त भी प्रतिपादित किया है।

सामाजिक क्रिया का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Social Action)—बेवर ने 'सामाजिक क्रिया' शब्द का प्रयोग विशिष्ट अर्थ में किया है। सामाजिक क्रिया की अवधारणा को समझे बिना वेबर द्वारा दी गई समाजशास्त्र की परिभाषा तथा उनके विचारों को भी नहीं समझा जा सकता है। आपने सामाजिक क्रिया की निम्न परिभाषा दी है—

''क्रिया में वे सभी मानवीय व्यवहार सम्मिलित होते हैं जिनके साथ क्रिया करने वाला व्यक्ति व्यक्तिनिष्ठ अर्थ जोड़ता है।''

इस परिभाषा के अनुसार बेवर ने सामाजिक क्रिया तथा विशेष मानवीय व्यवहारों को समान माना है। वे सभी मानवीय सामाजिक क्रियाएँ हैं जो व्यक्ति किसी अर्थ या उद्देश्य को ध्यान में रखकर करता है। बेवर ने अनुसार, मानव की अर्थहीन क्रियाएँ सामाजिक क्रियाएँ अथवा

मानवीय व्यवहार नहीं माने जाने चाहिए। आपने सभी अर्थपूर्ण व्यवहारों को सामाजिक क्रिया के अन्तगर्त रखा है। आपने आगे लिखा है—

''इस अर्थ मे क्रिया या तो बाह्य अथवा शुद्ध से आन्तरिक या व्यक्तिनिष्ठ हो सकती है, इसमें एक परिस्थिति में सकारात्मक व्यवधान आ सकते हैं अथवा ऐसी परिस्थिति में व्यवधानों से विचारपूर्वक बचा जा सकता है या धैर्यपूर्वक उससे लाभ उठाया जा सकता है।''

बेवर के अनुसार किसी क्रिया को तब सामाजिक क्रिया कहा जा सकता है, जब व्यक्ति या व्यक्तियों द्वारा लगाये गये व्यक्तिनिष्ठ अर्थ के कारण वह (क्रिया) दूसरे व्यक्तियों के व्यवहार से प्रभावित हो और उसके द्वारा उनकी गतिविधियों निर्धारित हों।''

वेबर के मत में सामाजिक क्रिया और वैयक्तिक क्रिया अलग-अलग हैं, दोनों में काफी अन्तर है अर्थात् सामाजिक-क्रिया नहीं है। बेवर उद्देश्यपूर्ण मानव व्यवहार को ही सामाजिक क्रिया कहते हैं और जिस मानव-व्यवहार को कोई उद्देश्यपूर्ण अर्थ न निकले वह सामाजिक क्रिया की परिधि से नहीं आता है। वेबर उद्देश्यपूर्ण अर्थ में यह तात्पर्य लगाते हैं कि जो अर्थ स्वयं कर्ता अपनी क्रिया के विषय में लगाया है साथ ही दूसरों को भी उसी प्रकार की क्रिया के उद्देश्यों की पूर्ति करने के लिये प्रेरित करता है।

इसे दूसरे रूप में इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है। मनुष्य के जीवन में अनेक आवश्ययकताएँ होती हैं। वह जो भी कार्य करता है, उसके पीछे कुछ-न-कुछ उद्देश्य अवश्य होता है और उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही उसे आचरण करना होता है। अत: समाज में रहकर सामाजिक अन्त:क्रिया आवश्यक है और इन्हीं अन्त:क्रियाओं के परिणामस्वरूप सामाजिक सम्बन्ध उत्पन्न होते हैं, किन्तु सामाजिक क्रिया के अन्तर्गत मानव के वे ही व्यवहार सम्मिलित किये जाते हैं, जो अर्थ-पूर्ण होते हैं। इसी को मैक्स बेवर **'अर्थपूर्ण क्रिया'** कहते हैं। अर्थात् जब व्यक्ति को क्रिया को विशिष्ट अर्थ प्रदान कर दिया जााता है तो वह सामाजिक क्रिया हो जाती है। इसके अतिरिक्त क्रिया का सम्बन्ध वर्तमान भूत अथवा भविष्य काल में भी हो सकता है। तथा वह बाह्य भी हो सकती है और आन्तरिक अथवा मानसिक भी हो सकता है।

सामाजिक क्रिया की विशेषताएँ (Charactcristics of Socil Action)

सामाजिक क्रिया को समझने के लिए इसकी विशेषताओं का अध्ययन करना अति आवश्यक है। वेबर ने सामाजिक क्रिया की परिभाषा देने के बाद इसको समझने के लिए क्रिया की विशेषताओं पर प्रकाश डाला है, जो निम्न प्रकार है—

1. **दूसरे के प्रति उन्मूख**—बेवर ने लिखा है, **''सामाजिक क्रिया दूसरे के सम्भावित भूत, वर्तमान या भविष्य के व्यवहारों की और उन्मुख हो सकती है।''** आपका कहना है कि सामाजिक क्रिया में दो या दो अधिक व्यक्ति होने चाहिये। ये आपस में एक-दूसरे के व्यवहार को प्रभावित भी करें। सामाजिक क्रिया परिचित या अपरिचित के साथ हो सकती है। क्रिया भूत, वर्तमान या भावी अनुमानित व्यवहार

के द्वारा भी प्रभावित हो सकती है। आपने उदाहरण दिया है कि क्रिया भूतकाल में किये गये हमले के कारण बदला लेने के लिए हो सकती है। वर्तमान में रक्षा के लिए हो सकती है तथा भविष्य में हमले से सुरक्षित रहने के लिए हो सकती है। आपने एक और उदाहरण द्वारा सामाजिक क्रिया की इस विशेषता की स्पष्ट किया है। आपका कहना है कि 'मुद्रा' विनिमय का साधन है, जिसे प्रत्येक कर्त्ता भुगतान के रूप में स्वीकार कर लेता हैं क्योंकि उसे आज्ञा है कि भविष्य में अपरिचित लोग अवसर आने पर मुद्रा को विनिमय में स्वीकार कर लेगें।

NOTES

2. **प्रत्येक क्रिया 'सामाजिक नहीं'**—वेबर ने सामाजिक क्रिया की दूसरी विशेषता निम्न शब्दों में व्यक्त की है, **''प्रत्येक प्रकार की क्रिया यहाँ तक कि बाह्य क्रिया भी, वर्तमान चर्चा के अर्थ में 'सामाजिक' नहीं है।''** आपने स्पष्ट करते हुए लिखा है कि बाह्य क्रिया यदि पूर्णरूपेण जड़ अथवा निर्जीव वस्तुओं के प्रति उन्मुख है तो वह असामाजिक क्रिया है। सामाजिक क्रिया की रचना व्यक्तिनिष्ठ दृष्टिकोण करता है, जब वह दूसरों के व्यवहार के प्रति उन्मुख होता है। आपने उदाहरण दिया है कि धार्मिक व्यवहार सामाजिक क्रिया नहीं है। यदि यह केवल ईश्वर का ध्यान लगा कर बैठे रहने या एकान्त में प्रार्थना, आराधना करने के रूप में व्यक्त होता है। व्यक्ति की आर्थिक क्रिया तभी सामाजिक होगी, जब वह दूसरों के व्यवहारों को भी ध्यान रखें। भविष्य में लोगों की आवश्यकता को ध्यान में रखकर उत्पादन करना सामाजिक क्रिया है।

3. **प्रत्येक प्रकार का मानवीय सम्पर्क सामाजिक नहीं**—मैक्स वेबर ने लिखा है, **''मानव प्राणियों का प्रत्येक प्रकार का सम्पर्क सामाजिक लक्षण वाला नहीं होता है, वह उसी सीमा तक सामाजिक कहलायेगा, जहाँ कर्ता का व्यवहार अर्थपूर्ण तरीके से दूसरो के व्यवहार के प्रति उन्मुख है।''** आपने इसे उदाहरण देकर समझाया है। अगर दो साइकिल चलाने वाले टकरा जाते हैं तो यह प्राकृतिक घटना जैसी बात है। यहाँ दो व्यक्तियों का सम्पर्क सामाजिक नहीं है। लेकिन एक-दूसरे से टक्कर से बचने के प्रयास, या टकरा जाने के बाद हाथापाई, गाली-गलौज, मारपीट या मित्रतापूर्ण बताचीत हो तो उसे 'सामाजिक क्रिया' कहेंगे।

4. **सामाजिक क्रिया समरूप नहीं होती**—बेवर ने सामाजिक क्रिया की चौथी विशेषता का उल्लेख करते हुए लिखा है, **''सामाजिक क्रिया न तो अनेक व्यक्तियों द्वारा की जाने वाली एक-सी क्रिया को कहते हैं और न ही उस क्रिया को कहते हैं जो केवल दूसरे व्यक्तियों द्वारा प्रभावित है।''** आपने उदाहरण दिया है कि वर्षा हो जाती है और सड़क पर लोग छाता खोल लेते हैं। इसप्रकार की क्रिया सामाजिक नहीं कहलायेगी क्योंकि छाता खोलने वाले लोगों का क्रियाएँ एक-दूसरे की क्रियाओं को प्रभावित कर रही है। वो वर्षा से अपनी रक्षा कर रहे हैं, इसी कारण उनकी क्रियाएँ एक-सी हैं। उन लोगों ने वर्षा से प्रभावित होकर छाता खोला है न कि एक-दूसरे को देखकर किसी ने भी किसी को अपनी क्रिया के द्वारा प्रभावित नहीं किया। उनमें परस्पर अर्थपूर्ण क्रियाएँ नहीं हो रही हैं। इसलिए एक सी या समरूप क्रियाएँ आवश्यक नहीं है कि सामाजिक क्रिया ही हों।

5. **अनुकरणात्मक क्रिया सामाजिक क्रिया नहीं**—मैक्स वेबर ने अपनी कृति में यह भी स्पष्ट किया है कि केवल दूसरों की क्रियाओं का अनुकरण मात्र ही सामाजिक क्रिया नहीं हो सकता जब तक कि वह अन्य व्यक्ति की (जिसका कि अनुकरण किया जा रहा है) क्रिया से अर्थपूर्ण सम्बन्ध न रखता हो अथवा उसकी क्रिया द्वारा अर्थपूर्ण रूप से प्रभावित न होता हो। उदाहरणार्थ—नदी में तैरते समय कोई व्यक्ति सामने तैरने वाले किसी व्यक्ति की नकल करने वाले का कार्य आगे तैरने वाले के व्यवहार या क्रिया से किसी रूप में सम्बन्धित नहीं है, किन्तु यह तैरने का प्रशिक्षण देने वाले व्यक्ति का अनुकरण करके तैरना सीखा जाये तो वह क्रिया सामाजिक-क्रिया कहलायेगी क्योंकि वह व्यक्ति उस प्रशिक्षक से अर्थपूर्ण ढँग से सम्बन्धित है।

   मैक्स वेबर ने सामाजिक क्रिया की उपर्युक्त पाँच विशेषताओं का वर्णन किया है। इन विशेषताओं के अतिरिक्त सामाजिक क्रिया की कुछ विशेषताओं का वर्णन किया है। इन विशेषताओं के अतिरिक्त सामाजिक क्रिया की कुछ और विशेषताएँ भी हैं जो आपके विभिन्न लेखों तथा पुस्तकों के अध्ययन में मिलती हैं। आपके तथा आधुनिक समाजशास्त्रियों के अनुसार कोई भी क्रिया तब सामाजिक कहलाती है, जब निम्न तीन शर्तें पूर्ण हों।

6. **कर्ता (ओं) और प्रतिकर्ता (ओं) का होना**—सामाजिक क्रिया में एक या/और अनेक कर्ता तथा एक या/और अनेक प्रतिकर्ता होते हैं जो एक-दूसरे की उपस्थिति से अवगत होते हैं तभी क्रिया हो सकती है। इसके निम्न सम्भावित रूप हैं—(1) एक कर्ता-एक प्रतिकर्ता में; (2) एक कर्ताओं अनेक प्रतिकर्ताओं में; (3) अनेक कर्ता-एक प्रतिकर्ता में और (4) अनेक कर्ताओं - अनेक प्रतिकर्ताओं में परस्पर सामाजिक क्रियाएँ होना सम्भव है।

7. **परिस्थिति**—सामाजिक क्रिया के लिए दूसरी महत्वपूर्ण शर्त ऐसी परिस्थिति का होना आवश्यक है जिसमें कर्ता (ओं) और प्रतिकर्ता (ओं) एक-दूसरे की क्रिया को प्रभावित करने से सम्बन्धित वस्तुओं और विशेषताओं की सुविधाओं से सुसज्जित हों तथा एक-दूसरे को प्रभावित करने की क्षमता रखते हों।

8. **मूल्य, विश्वास तथा प्रतीक**—सामाजिक क्रिया के लिए तीसरी महत्वपूर्ण शर्त कर्ताओं और प्रतिकर्ताओं के बीच सामान्य मूल्य, विश्वास तथा प्रतीक होने चाहिए तथा उनमें आपस में आशाएँ और अपेक्षाएँ होनी चाहिये।

ये शर्तें सामाजिक क्रियाओं में भिन्न-भिन्न मात्रा में तथा भिन्न-भिन्न अनुपात में देखी जा सकती हैं।

क्रिया के सिद्धान्त के अभिग्रह (Assumption of the Theory of Action)

मैक्स वेबर ने समाजशास्त्र में सामाजिक क्रिया अध्ययन को समाजशास्त्रीय दिशा प्रदान की है। आपका अनेक विद्वानों पर प्रभाव पड़ा है। टेलकट पारसन्स पर इनका विशेष प्रभाव देखा जा सकता है। आज समाजशास्त्र में सामाजिक क्रिया के सिद्धान्त का विशिष्ट स्थान है। सामाजिक क्रिया के सिद्धान्त के कुछ प्रमुख अभिग्रह हैं जिनका निर्धारण **मैक्स वेबर**

की 'द थ्योरी ऑफ सोसियल एण्ड इकोनोमिक ऑर्गनाइजेशन' एफ. वान. मिसस की 'ह्यूमन एक्शन' तथा **टेलकट पारसन्स** की **'दी स्ट्रक्चर ऑफ सोशियल एक्शन'** कृतियों के आधार पर किया जा सकता है। सामाजिक क्रिया के सिद्धान्त के ये प्रमुख अभिगृह निम्नांकित हैं जो किसी-न-किसी रूप में वेबर के साहित्य में मिलते हैं—

NOTES

1. लक्ष्य-अभिमुखन
2. साधनों का चयन
3. लक्ष्यों में परस्पर सम्बन्ध
4. कर्त्ता की परिस्थिति
5. कर्ता के अभिग्रह
6. कर्ता का परिस्थिति ज्ञान
7. संज्ञान के विचार और प्रकार
8. भाव एवं भावनाएँ
9. मानक और मूल्यों का महत्व

मैक्स वेबर के विचारों तथा कथनों का विशेष रूप से सहारा लेते हुए इनका क्रम से संक्षिप्त वर्णन तथा व्याख्या की जाएगी।

1. **लक्ष्य-अभिमुखन**—मानव क्रियाएँ लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये की जाती हैं। सामाजिक क्रिया में लक्ष्य को ध्यान में रखकर कर्ता क्रिया करता है। अनेक लक्ष्य स्पष्ट होते हैं तथा उनको आसानी से जाना जा सकता है। अपनी आय बढ़ाना इसका उदाहरण है। ऐसा भी होता है कि व्यक्ति अपनें लक्ष्यों को नहीं जानता है परन्तु औरों के लक्ष्यों को जानता है। इसका उदाहरण है—स्वयं का सम्मान या सत्ता में वृद्धि करना। यह लक्ष्य आवश्यक नहीं है कि पूर्ण स्पष्ट तथा विशिष्ठ हो। इसको प्राप्त करना तथा पहचानना भी सरल नहीं है। समाजशास्त्री को ये मान कर नहीं चलना चाहिए कि सम्बन्धित कर्त्ता अपने-अपने लक्ष्यों को समान रूप से जानते हैं तथा पहचानते हैं। इसी प्रकार लक्ष्यों को प्राप्त करना भी एक चर है। सामाजिक क्रिया इस प्रकार से लक्ष्य-अभिमुखन होती है।

2. **साधनों का चयन**—क्रिया में प्रात: लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए साधनों का चयन किया जाता है। समाजशास्त्री यह मानता है कि अनुभवों तथा विश्लेषण के द्वारा साधन और लक्ष्यों में अन्तर कर सकते हैं। जब लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अनेक साधन या तरीके होते हैं तो साधन और लक्ष्य में अन्तर करना सरल होता है। लेकिन जब लक्ष्य की प्राप्ति के लिए केवल एक साधन या तरीका उपलब्ध होता है तो साधन और लक्ष्य में अन्तर करना कठिन होता है। मानवीय क्रियाओं में लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए भौतिक वस्तुएँ काम में लाई जाती हैं तब लक्ष्य और साध न में अन्तर करना सरल होता है तथा जब मानवीय क्रियाओं में लक्ष्य और साधनों को समाज के मूल्य प्रभावित तथा निश्चित करते हैं, तब इनमें अन्तर करना कठिन होता है।

3. **लक्ष्यों में परस्पर सम्बन्ध**—कर्ता के सामने हमेशा अनेक लक्ष्य होते हैं। किसी एक लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जो वह क्रिया करता है उसकी क्रियाओं का प्रभाव दूसरों पर तथा दूसरों के लक्ष्यों को प्राप्त करने के प्रभाव उस पर पड़ते हैं। कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं जिसके मन में केवल एक लक्ष्य हो। एक व्यक्ति के मस्तिष्क में विभिन्न लक्ष्य होते हैं तथा दूसरे उससे सम्बन्धित होते हैं। आत्म-सम्मान की लक्ष्य ऐसा है जिसकी प्राप्ति से सम्बन्धित अन्य लोग साधन हैं। सम्पत्ति का संचय ऐसा लक्ष्य है जो अनेक रूपों में हो सकता है, जैसे—धन, आय आदि। इस प्रकार सम्पत्ति का संचय अनेक अन्य लक्ष्यों के रूप में पूर्ण होता है। इस प्रकार से लक्ष्य परस्पर सम्बन्धित होते हैं। लक्ष्य अनेक होते हैं। कुछ लक्ष्य अन्य से अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। लक्ष्यों में परस्पर तुलना करके कर्ता किसी एक लक्ष्य को एक समय में प्राप्त करने का प्रयास करता है। कर्ता और प्रतिकर्ताओं के लक्ष्य भी परस्पर एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। सामाजिक क्रिया में लक्ष्यों का परस्पर सम्बन्ध महत्वपूर्ण होता है।

4. **कर्ता की परिस्थिति**—लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयास तथा साधनों का चयन सर्वदा परिस्थितियों के अनुसार किया जाता है जो क्रिया के पथ को प्रभावित करते हैं। क्रिया की व्याख्या तभी की जा सकती है जब कर्ता की विशिष्ट प्रकार की परिस्थिति में स्थिति स्पष्ट हो। कर्ता विशिष्ट क्रियाएँ तक करता है जब परिस्थिति की दशाएँ सामाजिक सम्बन्धों तथा संस्कृति द्वारा विशेष रूप से नियन्त्रित तथा निश्चित होती है।

   किसी सीमा तक आदमी अपनी परिस्थितियों के अनुसार लक्ष्य निश्चित करता है तथा प्राप्त करता है। कई बार लक्ष्यों को परिस्थितियाँ निश्चित करती है। कई बार ऐसा होता है कि व्यक्ति किसी लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयास करता है तथा अनुकूल परिस्थितियाँ उसे अन्य लक्ष्यों को प्राप्त कराने में सहायक हो जाती हैं। व्यक्ति पर भी निर्भर करता है कि वह परिस्थिति को किस रूप में समझ पाता है। व्यक्तिगत गुण, जैसे—विचार, अनुभव, ज्ञान आदि परिस्थिति को समझने तथा लक्ष्य को प्राप्त करने में प्रभाव डालते हैं।

5. **कर्ता के अभिग्रह**—कर्ता हमेशा अपने लक्ष्यों की प्रकृति तथा उनके प्राप्त करने की सम्भावनाओं से सम्बन्धित निश्चित अभिग्रहों का निर्माण करता है। यदि कर्ता यह अनुमान लगाता है कि एक निश्चित लक्ष्य को एक निश्चित तरीके से प्राप्त किया जा सकता है या वह यह अनुमान लगाता है कि एक लक्ष्य पूरा को सकता है या वह ये अनुमान लगाता है कि एक निश्चित क्रिया का पथ निश्चित परिणाम देगा तो वह इन अनुमानों या अभिग्रहों के अनुसार क्रिया कर सकता है चाहे वह सही हो अथवा गलत हो। ये अभिग्रह दो प्रकार के होते हैं—(1) आनुभाविक प्रयोगात्मक तथा (2) गैर-आनुभाविक। एक जादुई विश्वास कि पानी का छिड़काव वर्षा लाता है। इसे परीक्षण द्वारा जाँचा जा सकता है। दूसरा एक धार्मिक विश्वास-प्रार्थना से मोक्ष की प्राप्ति होती है लेकिन इसकी जाँच नहीं की जा सकती है। समाजशास्त्रियों का मानना है कि सामाजिक क्रिया में कर्ता के अभिग्रह होते हैं जो क्रिया को प्रभावित करते हैं।

6. **कर्ता का परिस्थिति ज्ञान**—जैसी अवलोकनकर्ता (वैज्ञानिक) को परिस्थितियाँ दिखाई देती हैं उनके आधार पर कर्ता के आचरण की व्याख्या नहीं की जा सकती

है क्योंकि 'कर्ता का परिस्थिति का ज्ञान' अवलोकनकर्ता के ज्ञान से भिन्न हो सकता है। कर्ता का ज्ञान ही कर्ता की परिस्थिति के प्रति प्रतिक्रिया को नियंत्रित, निर्देशित और प्रभावित करता है। मैक्स वेबर ने इसी संदर्भ में सुझाव दिया है कि सामाजिक क्रियाओं के अध्ययन को दृष्टिकोणों के अनुसार करना चाहिए। ये दृष्टिकोण निम्न हैं—

NOTES

6.1. व्यक्तिनिष्ठ अध्ययन—कर्ता सामाजिक परिस्थिति का क्या ज्ञान रखता है ? वह किन उद्देश्यों को ध्यान में रखकर क्रिया करता है ? वैज्ञानिक को इन तथ्यों का अध्ययन करना चाहिए। यह व्यक्तिनिष्ठ अध्ययन कहलाता है।

6.2. वस्तुनिष्ठ अध्ययन—वैज्ञानिक को सामाजिक परिस्थिति का वस्तुनिष्ठ अर्थात् जैसी वह दिखाई देती है वैसा ही अध्ययन करना चाहिए। अवलोकन द्वारा वैज्ञानिक को पक्षपात रहित होकर तथ्य एकत्र करने चाहिए। यह वस्तुनिष्ठ अध्ययन कहलाता है।

बेवर के अनुसार सामाजिक विज्ञानों में सत्य, प्रमाणित तथा विश्वसनीय तथ्य एकत्र करने के लिए इन दोनों प्रकार के दृष्टि कोण को अपनाना अत्यावश्यक है, अन्यथा अध्ययन वैज्ञानिक नहीं हो सकते। अगर सेनापति को सूचना मिलती है कि दुश्मनों की सेना उनसे बहुत छोटी है तो हो सकता है कि सेनापति तुरन्त हमला कर दे। ऐसा भी हो सकता है कि सूचना पूर्ण सत्य हो अथवा अर्द्ध-सत्य हो। दुश्मन की सेना भले ही छोटी हो परन्तु एक विशेष स्थान या परिस्थिति में वह युद्ध करने में, नये-नये उपकरणों, गोला-बारुद तथा आधुनिकतम हथियारों से पूर्ण सुसज्जित हो। इस प्रकार सेनापति को ही परिस्थिति का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए तथा वही सही निर्णय ले सकता है जो सही अथवा गलत हो सकता है। वेबर, पारसन्स आदि के अनुसार क्रिया के सिद्धान्त में 'कर्ता का परिस्थिति का ज्ञान' एक महत्वपूर्ण अभिग्रह है।

7. **संज्ञान के विचार और प्रकार**—कर्ता के निश्चित विचार या संज्ञान के प्रकार होते हैं जो उसके परिस्थिति सम्बन्धी प्रत्यक्षीकरण को प्रभावित करते हैं। कर्ता जब परिस्थिति का अवलोकन करता है तथा जानकारी एकत्र करता है तो तथ्य संकलन की प्रक्रिया पर उसके विचारों का प्रभाव पड़ता है। संज्ञान की विधि या प्रकार का भी सूचनाओं के संकलन पर प्रभाव पड़ता है जो आगे चलकर उसके लक्ष्यों, साधनों यहाँ तक कि उसके आचरण को भी प्रभावित करते हैं। कर्ता के कई विचार तो ऐसे होते हैं जिनका उसको ज्ञान भी नहीं होता है और वह निश्चित प्रकार से लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए प्रभाव डालते हैं। जिस प्रकार से मानव को अच्छा-बुरा, लम्बा-नाटा, निर्दयी-दयालु आदि में वर्गीकरण करने की प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार से गोल, चौकोर, त्रिकोण, चिकना, खुदरा, हल्का-भारी आदि में वस्तु का वर्गीकरण करने की प्रवृत्ति होती है ये सब विचारों के प्रकार, क्रम विधि आदि को भाषा के द्वारा प्रभावित करते हैं। जिनका समाजशास्त्रीय अन्वेषण में महत्व होता है।

8. **भाव एवं भावनाएँ**—कर्ता की कुछ निश्चित भावनाएँ अथवा भावात्मक प्रकृति होती है जो उसकी परिस्थिति के प्रत्यक्षीकरण तथा लक्ष्यों के चुनावों को प्रभावित करती

है। परिस्थिति का प्रत्यक्षीकरण तथा लक्ष्यों का चयन भावात्मक इच्छाओं से भी प्रभावित होता है। स्नेह, शत्रुता, ईर्ष्या, विरोध, स्पर्द्धा, डर, भक्ति, सुरक्षा की आवश्यकता आदि भाव मिलकर कर्त्ता को एक के प्रति भक्ति तथा दूसरे के प्रति विरोध व्यक्त करने के लिए प्रभावित करते है। भाव तथा संज्ञान के प्रकारों में अन्तर करना कठिन है। ये आराम में घुल-मिलकर क्रिया को प्रभावित करते हैं। उनका निर्माण सामान्यता परिस्थितियाँ ही करती हैं।

9. **मानक और मूल्यों का महत्व**—कर्त्ता के निश्चित मानक और मूल्य होते हैं जिन्हें वह अपने समाज और संस्कृति में सीखता है। ये सीखे हुए मानक, मूल्य, आदर्श आदि उसके लक्ष्यों के चयन का निर्धारण करते हैं। लक्ष्यों की प्राथमिकता का क्रम भी इन्हीं मूल्यों तथा मानकों के अनुसार निर्धारित होता है। मानक समाज में आचरण को प्रचिलित मापदण्डों के अनुसार व्यवस्थित करते है। मूल्य प्राथमिकताओं तथा अपेक्षाओं की स्थिति के मामलों को व्यक्त करते हैं। मानक सांस्कृतिक हो सकते हैं, आवश्यक नहीं है कि वह सामाजिक ही हों। किसी विशिष्ठ अवसर पर कोई क्या खयेगा, ये सांस्कृतिक मानक है। विशेष अवसर पर कोई दूसरे निश्चित वर्ग के लोगों के साथ हिस्सा बाँट करके क्या खाता है, यह सामाजिक मानक है। मानक स्पष्ट करते हैं कि कौन सा साधन काम में लाया जा सकता है। मानक साधनों के प्रकारों को भी निश्चित करते हैं। मानक सिद्धान्त के रूप में साधनों के विकल्प भी निश्चित करते हैं जिनको कर्त्ता अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए उपयोग में ला सकता है। जिन समाजों में निश्चित नगद मुद्रा नहीं होती है वहाँ पर निश्चित वस्तुएं वस्तु-विनिमय के लिए व्यवहार में लाई जाती हैं। यह उस समाज के मानक निश्चित करते हैं। मानक लक्ष्य निर्धारित नहीं करते हैं। लेकिन जहाँ लक्ष्य प्राप्त होने के बाद साधन के रूप में प्रयुक्त किये जाते हैं वहाँ मानक साधनों का भी निर्धारण कर सकते हैं। धनी होना कोई मानक नहीं है। यह मानक तब बन सकता है जब धनी होने को मूल्यवान तथा प्रतिष्ठा का साधन माना जाए। अत: कर्त्ता के मानक तथा मूल्य उसकी सामाजिक क्रिया से सम्बन्धित साधन और लक्ष्यों को निर्धारित तथा नियन्त्रित करते हैं जिसको समाजशास्त्री क्रिया के सिद्धान्त का महत्वपूर्ण अभिग्रह मानते है।

सामाजिक क्रिया के प्रकार (Types of Social Action)

मैक्स वेबर में सामाजिक क्रिया की स्पष्ट योजना अथवा सिद्धान्त प्रतिपादित किया, जो मार्क्स से भिन्न है। क्रिया या आचरण व्यक्तिनिष्ठ रूप से पूर्ण होना चाहिए व व्यक्ति के अनुसार अर्थपूर्ण होना चाहिए। दूसरों के आचरण को समझनें के लिए केवल यह नहीं देखना चाहिए कि वे क्या कर रहे हैं बल्कि यह जानना चाहिए कि वे अपनी क्रियाओं के साथ क्या अर्थ जोड़ते हैं। यह अपने स्वयं के समाज को समझनें में भले ही स्पष्ट न हों, जहाँ अपने सन्दर्भ में क्रिया की प्रकृति का अवलोकन करते हैं। उदाहरण के लिये अपने शयन कक्ष में प्रात: सात बजे यदि कोई व्यक्ति अपने पैर के पंजों को छूता है तो इसका अभिप्राय है कि वह व्यक्ति कसरत कर रहा है न कि प्रार्थना कर रहा है किन्तु किसी विदेशी समाज में जिमनास्टिक के समय कसरत को कर्मकाण्ड से तब तक अलग नहीं किया जा सकता जब तक उसके विषय में कोई स्पष्ट ज्ञान न हो। इन्हीं बातों को ध्यान

में रखकर वेबर ने सामाजिक क्रिया के चार प्रकार बतायें हैं जिनके वर्गीकरण की विवेचना आपकी विश्वविख्यात पुस्तक **'द थ्योरी ऑफ सोशियल एण्ड इकोनामिक ऑर्गनाइजेशन'** में मिलती है। मैक्स वेबर ने समाजशास्त्रीय योगदान में सामाजिक क्रिया की व्याख्या प्रकार विशेषताएँ तथा सिद्धान्त अति महत्वपूर्ण हैं। जब भी समाजशास्त्र में सामाजिक क्रिया के प्रकारों का वर्णन और व्याख्या की जाती है। सर्वप्रथम मैक्स वेबर के विचारों का, विशेष रूप से प्रकारों का अध्ययन अवश्य किया जाता है। आपने सामाजिक क्रिया के प्रकारों के वर्गीकरण में तार्किकता, मूल्य अभिमुखता, भावात्मक और परम्परा के आधार लिए हैं। आपने सामाजिक क्रिया के निम्न चार प्रकार इसके अभिमुखन के प्रकारों के आधार पर किये हैं—

1. तार्किक क्रिया,
2. मूल्य-अभिमुखी तार्किक क्रिया,
3. पारम्परिक क्रिया और
4. भावनात्मक क्रिया।

मैक्स वेबर ने इस सामाजिक क्रियाओं की जो व्याख्या की है वह इस प्रकार है—

1. **तार्किक क्रिया**—वेबर ने सामाजिक क्रिया का प्रथम प्रकार तार्किक क्रिया बताया है। इसे जर्मन भाषा में स्वेकरेश्योनालिट्ट (Zweckrationalitat) आंग्ल भाषा में स्वेकरेश्योनाल (Zweckrational) या रेशनल एक्शन (Rational Action) तथा हिन्दी भाषा में तार्किक-क्रिया या विवेकी-क्रिया कहते हैं। मैक्स वेबर के अनुसार यह क्रिया तार्किक-क्रिया या विवेक-अभिमुखी होती है।

    वेबर का मत था कि व्यक्ति सामाजिक क्रिया अपनी आवश्यकता की पूर्ती के लिये करता है। व्यक्ति के सामने लक्ष्य और साधन होते हैं। जब व्यक्ति तर्क द्वारा कोई लक्ष्य निश्चित करता है तथा साधन का उपयोग उसकी प्राप्ति के लिये योजना-बद्ध रूप से करता है तो इन सबसे सम्बन्धित उस व्यक्ति की क्रिया पूर्ण रूप से तार्किक क्रिया कहलाती है। वेबर ने तार्किक क्रिया की एक और विशेषता यह बताई है कि जब लक्ष्य प्राप्त हो जाता है तो उस लक्ष्य के साधन के रूप में आने वाली आवश्यकताओं या उद्देश्य की पूर्ति के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। उदाहरण के रूप में छात्र शिक्षक द्वारा दिया गया निबन्ध गृह कार्य के रूप में लिखता है। निबन्ध लिखना लक्ष्य है। पुस्तक, पुस्तकालय, पैन आदि साधन हैं। निबन्ध तैयार हो जाता है। शिक्षक निबन्ध का मूल्यांकन करता है। बाद में छात्र उस निबन्ध का उपयोग वार्षिक परीक्षा के लिये करता है, उसे याद करता है। पहले निबन्ध लिखना लक्ष्य था यहाँ वार्षिक परीक्षा के लिये वही निबन्ध साधन बन जाता है। वार्षिक परीक्षा में प्रथम श्रेणी और प्रथम स्थान प्राप्त किया। यह लक्ष्य था जो पूर्ण हो गया। अब यही प्रथम श्रेणी तथा प्रथम स्थान नौकरी प्राप्त करने के लिये साधन के रूप में छात्र काम में लेता है। वेबर में इसे शुद्ध तार्किक क्रिया कहा है जिसमें लक्ष्य और साधन तर्कपूर्ण विचार द्वारा निश्चित किया जाते हैं तथा लक्ष्य प्राप्त होने पर भविष्य में वह लक्ष्य साधन के रूप में अन्य लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये प्रयुक्त किया

NOTES

जा सकता है। कुछ समाजशास्त्रियों ने इस क्रिया को जिसमें लक्ष्य प्राप्त होने पर वह साधन तार्किकता का नाम दिया है।

वेबर लिखते हैं, "**क्रिया का तार्किक अभिमुखन व्यक्ति के विभिन्न लक्ष्यों की व्यवस्था की ओर होता है जब लक्ष्य, साधन और द्वैतीयक परिणाम सभी जाँचे तथा परखे जाते हैं।**" आप इस कथन को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि इसमें लक्ष्य की प्राप्ति के लिये साधनों के विभिन्न विकल्पों पर तार्किक विचार किया जाता है। यह भी विचार किया जाता है कि उपलब्ध साधनों में से किस साधन से ऐसा लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है जो आगे चल कर अच्छे परिणाम दे सकता है। अर्थात् लक्ष्य को प्राप्त करने के बाद उसे साधन के रूप में भविष्य में अन्य लक्ष्यों को प्राप्त करने के बाद उसे साधन के रूप में भविष्य में अन्य लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए उपयोग कर सकते हैं। कर्त्ता विभिन्न संभावित लक्ष्यों के सापेक्ष महत्व का भी तार्किक मूल्यांकन करता है। इस तार्किक क्रिया का अन्य क्रियाओं-भावनात्मक या पारम्परिक के साथ भेद करना बेमेल तथा असंगत है। इनकी आपस में तुलना करना व्यर्थ है क्योंकि तार्किक क्रिया में विवेक, विचार बुद्धि आदि का प्रयोग साधन और लक्ष्य दोनों के चयन में किया जाता है जबकि पारम्परिक वैकल्पिक तथा विरोधी लक्ष्यों में से विचारपूर्वक लक्ष्यों का चयन किया जाता है। चयन करने में शुद्ध मूल्य के आधार पर निर्णय लिया जाता है कि परिणाम क्या आयेगे। अत: क्रिया तर्कपूर्ण विधि से व्यक्ति की विभिन्न इच्छाओं की व्यवस्था की ओर उत्मुख होती है जिनमें केवल साधनों का ध्यान रखा जाता वेबर का कहना है कि दूसरी ओर कर्ता वैकल्पिक तथा विरोधी इच्छाओं के चुनाव के स्थान पर इच्छाओं के विषयक आवश्यकताएँ मानकार क्रिया करता है। इन विषयक आवश्यकताओं को एक पैमाने पर क्रम से व्यवस्थित करता है तथा विचार करता है कि कौन-सी आवश्यकता अत्यावश्यक है।

अत: कर्ता अपनी क्रिया को इस पैमाने के अनुसार इस प्रकार योजनाबद्ध करता है कि प्राथमिकता के आधार पर आवश्यकताएँ क्रम संपूर्ण हो सकें।। वेबर ने लक्ष्यों को क्रम से व्यवस्थित करने, उनको प्राथमिकता के अनुसार पैमाने पर क्रमबद्ध करने तथा आवश्यकतानुसार क्रम में उन्हें पूर्ण करने की क्रिया को 'सीमान्त उपयोगिता का नियम' नाम दिया है सार रूप में यही वेबर की तार्किक क्रिया व्याख्या है।

2. **मूल्य-अभिमुखी तार्किक क्रिया (Value Oriented Rational Action)**—वेबर ने सामाजिक क्रिया का दूसरा प्रकार मूल्य-अभिमुखी तार्किक बताया है। इसे जर्मन भाषा में वर्टश्योनालिस्ट (Wertrationatitat), आंग्ल भाषा में वर्टरश्योनाल (Wetrational) या वैल्यू ऑरियेन्टेड रेशनोलिटी (Value 7 Oriented Rationality) तथा हिन्दी भाषा में मूल्य-अभिमुखी तार्किकता कहते हैं। वेबर ने मूल्य-अभिमुखी तार्किक क्रिया का वर्णन और व्याख्या प्रथम क्रिया के सन्दर्भ मे की है। आपका कहना है कि मूल्य अभिमुखी तार्किक क्रिया के सन्दर्भ में की है। आपका कहना है कि मूल्य अभिमुखी तार्किक क्रिया में ऐसा कोई तरीका नहीं है जिसके द्वारा साधन की क्षमता या सामर्थ्य

का मूल्यांकन किया जा सके। इस क्रिया में भी लक्ष्य एवं परिणाम है। लेकिन लक्ष्य जब प्राप्त हो जाता है तो इस प्राप्त लक्ष्य का उपयोग साधन के रूप में नहीं किया जाता है जैसा कि तार्किक क्रिया में कर्ता करता रहता है। वेबर ने इस क्रिया की परिभाषा देते हुए लिखा है, **''मूल्य अभिमुखन तार्किक के मामले में, बिना कीमत के प्रंसग को ध्यान में रखे, साधन का चयन का अभिमूखन एक पूर्ण मूल्य को प्राप्त करना है।''**

आपने इस परिभाषा में मूल्य को महत्वपूर्ण बताया है। कर्ता समाज का मूल्य को प्राप्त करना चाहता है। मूल्य को प्राप्त करना ही उसका अन्तिम लक्ष्य है। इसको प्राप्त करने के लिए कर्ता कीमत की चिन्ता नहीं करता है। साधन का चयन मूल्य प्राप्ति के लिए है। मूल्य जो कि लक्ष्य है उसे प्राप्त करने के बाद वह उस प्राप्त लक्ष्य को साधन के रूप में उपयोग करने की पहिले तथा बाद में नही सोचता ह। लक्ष्य उसका अंतिम उद्देश्य है। वेबर ने इस क्रिया को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि कर्ता नीति, सौन्दर्य, धर्म आदि मूल्यो में सचेत विश्वास रखता है। इनको प्राप्त करने के लिए वह जो क्रिया करता है वे केवल स्वयं के लिए होती हैं। वह किसी अन्य बाहरी सफालता की सम्भावना की परवाह नहीं करता है। बाहरी सफलता की सम्भावना से वह स्वतन्त्र होता है। वेबर ने ये विशेषताएँ पूर्ण मूल्य के प्रति तार्किक अभिमुखन को ध्यान में रखकर निश्चित तथा वर्णित की हैं। इन विशेषताओं को वेबर ने निम्न शब्दों में कहा है, ''पूर्ण मूल्य के तार्किक अभिमुखन के अनुसार देखें, तो इसमें नीति, सौन्दर्य, धर्म या अन्य किसी प्रकार के व्यवहार के मूल्यों में पूर्ण सचेत विश्वास मिलता है तो केवल स्वयं के लिए है तथा वह किसी भी बाहरी सफलता की सम्भावना स्वतन्त्र होता है।''

इस प्रकार की क्रियाओं का अभिमुखन पूर्ण मूल्यों के प्रति होता है। कर्ता वे क्रियाएँ करता है जो उसे कर्त्तव्य, सम्मान, धर्म, व्यक्तिगत भक्ति आदि के अनुसार करनी चाहिए। जब क्रिया का अभिमुखन पूर्ण मूल्यों के प्रति होता है तो उसमें हमेशा 'हुकम' या 'आदेश' तथा 'अपेक्षाएँ' होती हैं जिनको पूरा करना कर्ता अपना अहोभाग्य समझता है। वह इन कर्तव्यों आदि को पूरा करके गौरवान्वित होता है। यह तभी होता है जब व्यक्ति ऐसे अपेक्षाओं को बिना किसी शर्त के पूरा करते हैं। इसी को पूर्ण मूल्यों के प्रति अभिमुखन कहते हैं। यह अभिमुखन व्यक्तियों में व्यवहार में भिन्न-भिन्न मात्रा में मिलता है।

इस क्रिया में ल्क्ष्य एक अन्तिम परिणाम है इसे निम्न उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है। किसी आत्मा ईश्वर के साथ रहस्यात्मक मिलन के लिए कोई अनुष्ठान या कर्मकाण्ड करना इस प्रकार की क्रिया का सटीक उदाहरण है। वबर ने इसे मूल्य-अभिमुखी तार्किक क्रिया मानते हैं। क्योंकि इसमें यह मान्यता है कि साधन इच्छित लक्ष्य को प्राप्त करवा देगा। लेकिन इस क्रिया में साधन और ल्क्ष्यों को अलग करना असम्भव है। रहस्यात्मक मिलन की प्राप्ति वह स्थिति है जिसमें मस्तिष्क अनुष्ठान की क्रिया के समय समागत की स्थिति में होता है।

NOTES

ऐसा उदाहरण सोचना कठिन है जिसमें लक्ष्य परिणाम हो, अपने आप में मूल्य प्रधान हो। समाजशास्त्रियों की मान्यता है कि ऐसी क्रियाओं में साधनों के विकल्प होते हैं। एक और उदाहरण द्वारा इस क्रिया की विशेषताओं का अध्ययन किया जा सकता है। अगर कोई दूसरे के प्रेम पर विजय करना चाहता है। तो इसमें लक्ष्य अन्तिम मूल्य हो सकता है। इसमें ऐसा कोई कारण नहीं है कि कर्ता विभिन्न साधनों की क्षमताओं का आकलन करे तथा उपयुक्त साधन का चयन करके लक्ष्य को प्राप्त करे। अगर लक्ष्य केवल प्रेम व्यक्त करना है न कि जीतना, तब क्रिया लगभग वैसी ही होगी जैसी कि रहस्यमय अवस्था को प्राप्त करने के लिए कर्मकाण्ड किया जाता है। कि वह रहस्यमय अवस्था में पहुँचा या नहीं। इसका अवलोकन करने के लिए कोई सरल विधि नहीं है जिससे साधन की क्षमता का मूल्यांकन किया जा सके।

अत: यह स्पष्ट हो जाता है कि वेबर तार्किकता का प्रयोग आचरण के लिए करता है। लेकिन कभी-कभी कर्ता के विश्वासों के लिए भी कर लेता है। अगर किसी विश्वास को करने का कारण स्पष्ट किया जा सकता है तब जो कर्ता के विश्वास तार्किक हैं।

कोई धार्मिक कर्मकांड रहस्यमय अवस्थ में पहुँचने के लिए करता है इसी प्रकार कोई आदमी जादुई कर्मकाण्ड वर्षा करने के लिए करता है तो वह इन अभिग्रहों के कारण नहीं बता सकता। अत: उनकी क्रियाएँ तो तार्किक है, जहाँ तक उनके विश्वासों को बात है उनके विश्वास तार्किक नहीं है। वेबर ने इस प्रकार मूल्य-तार्किक क्रिया या विस्तार से वर्णन और व्याख्या प्रस्तुत की थी।

3. **भावात्मक क्रिया**—मैक्स वेबर ने सामाजिक क्रिया का तीसरा प्रकार भावात्मक क्रिया बताया है। इसे जर्मन में अफेक्चुअल (Affectual) तथा हिन्दी भाषा में भावात्मक क्रिया कहते हैं। यह क्रिया व्यक्ति विचारपूर्वक करता है और न ही किसी साधन पर विचार करता है। वेबर का मत है कि क्रिया प्रथम दो प्रकार की तार्किक क्रियाओं से बिल्कुल भिन्न क्रिया है। इस क्रिया में भावात्मक अभिमुखन होता है अर्थात् कर्ता भावावेश, संवेग या उद्वेग में आकर क्रिया कर बैठता है। क्रोध, सहानुभूति आदि से प्रभावित होकर भावावेश में बहकर की गई उद्वेगपूर्ण्ण क्रियाएँ कहलाती हैं।

भावात्मक क्रियायें वे होती हैं जिनका चयन तथा पूर्ण करने की प्रक्रिया आदि का निर्णय कर्ता की भावनाएँ और उद्वेगों के द्वारा होता है। वास्तव में इस प्रकार की क्रियाओं की उत्पत्ति तथा पूर्ण करने के चरण भी भावनाएँ करती हैं। वे क्रियाएँ जिनकी उत्पत्ति, नियन्त्रण, निर्देश तथा संचलन भी भावनाएँ करती हैं। भावात्मक क्रियाएँ होती हैं। उदाहरण के रूप में 'अ' व्यक्ति ने 'ब' व्यक्ति को गाली दी तथा 'ब' व्यक्ति ने 'अ' व्यक्ति को चाँटा मार दिया। उसने चाँटा बिना सोचे-समझे उद्वेग में मार दिया। लेकिन बाद मे 'ब' व्यक्ति को बताया गया कि 'अ' व्यक्ति पागल है तब 'ब' व्यक्ति का तर्क पूर्ण विचार करने पर स्वयं की क्रिया पर पछतावा होगा जो उसे पहिले नहीं हुआ था। तब वह आवेग में आकर क्रिया कर बैठा था। वेबर

का कहना है कि प्रेम, घृणा, दया, ईर्ष्या, क्रोध, सहानुभूति आदि से प्रभावित होकर की जाने वाली क्रियाएँ बाह्य उद्दीपन के प्रति अनियन्त्रित प्रतिक्रियाएँ होती हैं। भावात्मक क्रियाएँ स्थानापन्न के उदाहरण हैं। जब भावात्मक तनाव भावनात्मक क्रियाआं द्वार कम होते हैं तो इसको स्थानापन्न कहते हैं वेबर का मत है कि ये क्रियाएँ व्यक्ति को भावनात्मक तनावों, क्रोध, प्रेम आदि से छुटकारा दिलाने वाली क्रियाओं का निर्णय करती हैं। आपका यह भी कहना है कि इन क्रियाओं में थोड़ा-सा विवेक या विचार का प्रभाव आने पर वे कभी-कभी तार्किक क्रिया का रूप भी ले आती हैं वेबर ने भावात्मक क्रिया की व्याख्या करने के बाद लिखा कि भावात्मक क्रिया के उदाहरण किसी से बदला लेना, इन्द्रिय सुख प्राप्त करना, किसी विचार या व्यक्ति के प्रति समर्पित होकर सन्तोष प्राप्त करना आदि हैं।

NOTES

4. **पारम्परिक क्रिया**—मैक्स वेबर ने सामाजिक क्रिया का चौथा और अन्तिम प्रकार पारम्परिक क्रिया बताया है। यह जर्मन तथा आंग्ल भाषाओं में ट्रेडिशनल (Traditional) तथा हिन्दी भाषा में परम्पराएँ क्रिया कहलाती है। वेबर का कहना है कि पारम्परिक क्रियाओं का निर्धारण परम्पराएँ करती हैं। ये परम्परा-अभिमुखी क्रियायें हैं। आपने लिखा है, **''दीर्घ अभ्यास की अभ्यस्तता के द्वारा इनका पारस्परिक अभिमुखन हो जाता है।''**

पारम्परिक आचरण में वहीं क्रियाएँ की जाती हैं जो वर्षो से लोग समाज में करते आ रहे हैं इन क्रियाओं में किसी विकल्प पर विचार नहीं किया जाता है। वेबर का कहना है कि ये क्रियाएँ तार्किक नहीं होती हैं। क्योंकि कर्त्ता साधन और लक्ष्यों को बिना सोचे-विचारे ग्रहण कर लेता है। वह क्रिया के पथ का चयन किसी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए भी नहीं करता है।

पारम्परिक क्रियाएँ वे सामाजिक क्रियाएँ हैं जो आदतों तथा स्थापित परम्पराओं के प्रभाव या दबाव के फलस्वरूप लोग करते हैं। इसप्रकार की क्रियाएँ व्यक्ति सोच-विचार कर नहीं करता है। व्यक्ति औरों को देखा-देखी परम्परा मान कर इन क्रियाओं को करता है। जैसे आदिम समाज में विशेष पर्वों पर मुखिया को भेंट देने की क्रिया इसके अन्तर्गत आती है। जनसाधारण भेंट इसलिए देते हैं कि उन्होंने यह यह सीखा है कि भेंट देना उनकी परम्परा है। वे यह जानते हैं कि प्राचीन काल से मुखिया को भेंट देते आये हैं। भेंट देना उनके समाज की प्रथा है, उसके अनुसार व्यवहार करना तथा अनुसरण करना आवश्यक है। ये वे मानते हैं कि ऐसा उनके पूर्वज करते आये हैं, इसलिए उनको भी मुखिया को भेंट देनी है। पारम्परिक क्रिया में प्रेम, दया, घृणा आदि संवेगों का कोई स्थान नहीं होता है। व्यक्ति समाज की जनरीतियों, प्रथाओं, रूढ़ियों, परम्पराओं आदि के वशीभूत होकर इन क्रियाओं को करता है।

उपर्युक्त क्रियाओं के वर्गीकरण में प्रथम दो क्रियाएँ मानव तर्क द्वारा निर्धारित करता है, तीसरे उद्वेग और भावना के द्वारा निर्धारित होती है, जबकि चौथी न तो तर्क और विचार द्वारा होती है न ही भावना निश्चित होती है। केवल आदतें और परम्पराएँ उन्हें निश्चित करती हैं। वेबर के अनुसार उपर्युक्त चारों क्रियाओं के प्रकार सम्पूर्ण मानवीय सम्बन्धों की

व्याख्या करने के लिए पूर्ण समक्ष हैं। आपने लिखा है कि इन वर्गीकरण की उपयोगिता अन्वेषण में सफलता के द्वारा ही जाँची जा सकती है।

आलोचना (Criticism)—**पी. एस. कोहन, टोरेन** आदि ने इन सिद्धान्त की निम्न आलोचनाएँ की हैं—मैक्स वेबर का सामाजिक क्रिया का सिद्धान्त समाजशास्त्र में एक महान योगदान है। इस सिद्धान्त ने समाजशास्त्र को अन्वेषण करने की एक विधि भी प्रदान की है। लेकिन वेबर के समर्थकों तथा आलोचकों दोनों ने ही वैज्ञानिक कर्तव्य का पालन करते हुए इस सिद्धान्त की निम्नांकित कमियाँ बताई हैं—

1. **मनोविज्ञानपरता का दोष**—वेबर ने क्रिया के सिद्धान्त की पहली आलोचना ये है कि इनके सिद्धान्त से मनोविज्ञानपरता का दोष है। आपने साामाजिक क्रिया की मनोवैज्ञानिक अवधारणाओं या शब्दों के द्वारा परिभाषित तथा वर्गीकृत किया है। आपने समाजशास्त्रीय प्रश्नों तथा तत्वों को मानव मस्तिष्क के लक्षणों तथा विशेषताओं से परिभाषित किया है। भावात्मक क्रिया का प्रकार इसका प्रमाण है। एक ही वाक्य में वेबर की मनोविज्ञानपरता को इस आधार पर त्यागा जा सकता है कि आपने सामाजिक घटनाओं की व्याख्या मानसिक विशेषताओं के आधार पर स्पष्ट की है लेकिन ये विशेषताएँ सामाजिक स्वरूपों के ही परिणाम हैं जिनकी व्याख्या करनी चाहिए थी न कि इनके आधार पर सामाजिक क्रिया की।

2. **क्रिया का सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक है**—कुछ कट्टर समाजशास्त्रियों का निष्कर्ष यह है कि मनोविज्ञानपरता को स्वीकार करें अथवा नहीं करें, लेकिन यह सत्य है कि क्रिया का सिद्धान्त आवश्यक रूप से मनोवैज्ञानिक है। कुछ आलोचकों की यह दलील है कि क्रिया के सिद्धान्त के अभिग्रह, विशेषताएँ तथा क्रिया की परिस्थितियाँ विशिष्ट प्रकार के समाज और संस्कृति में स्वतन्त्र रूप से विद्यमान होते हैं। ये लोग इन विशेषताओं को मानव मस्तिष्क की उपज बताते हैं। इस प्रकार सामाजिक क्रिया सामाजिक न होकर मनोवैज्ञानिक हो जाती है। वेबर के क्रिया के प्रकारों में व्यक्ति उसके मस्तिष्क, भावनाओं, आदतों को अधिक महत्व देकर मनोवैज्ञानिक दोष से शिकार हो गये हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि सामाजिक क्रिया में दो सेट होते हैं—एक उन कारकों का सेट जो व्यक्ति के बाहर होते हैं तथा दूसरा कारकों का वह सेट जो व्यक्ति के अन्दर विद्यमान होते हैं। ये दोनों ही समाज की देन हैं। इसीलिए क्रिया में वस्तुनिष्ठ और व्यक्तिनिष्ठ अध्ययन समाजशास्त्रीय है न कि मनोवैज्ञानिक। पारसन्स ने अपने क्रिया के सिद्धान्त में इसे स्पष्ट भी किया है।

3. **सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या करने में असमर्थ—एलेन टोरेन** ने अपनी पुस्तक 'सोशियोलॉजी डील एक्ृान' में लिखा कि क्रिया का सिद्धान्त सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या करने में असमर्थ है। वे क्रिया के सिद्धान्त में मानकों में अनुरूपता मानते हैं और यह अपरिहार्य होता है जो न तो सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या कर सकता है नहीं यह स्पष्ट कर सकता है कि मानक किस प्रकार से स्थापित होते हैं ? वे तो इनको दिया हुआ मानकर चलते हैं। लेकिन इनकी व्याख्या करना भी अत्यावश्यक है जो सामाजिक क्रिया का सिद्धान्त नहीं करता है।

NOTES

4. **सामाजिक संरचना और संस्कृति की व्याख्या नहीं करती है**—किसी भी सामाजिक अध्ययन में सामाजिक संरचना और संस्कृति का विशेष महत्व होता है। इन्हीं के सन्दर्भ में सामाजिक परिस्थितियों की सीमाओं को देखा जाता है। लेकिन सामाजिक क्रिया का सिद्धान्त सामाजिक संरचना और संस्कृति के तत्वों को दिया हुआ मानकर अध्ययन करता है। यह इस सिद्धान्त की एक बड़ी कमी है।

5. **यह एक विधि है**—सामाजिक क्रिया के सिद्धान्त की यह आलोचना की जाती है कि यह बहुत थोड़ी व्याख्या करता है। इस प्रकार से सामाजिक क्रिया एक विधि है। यह सामाजिक अध्ययन के संज्ञान का एक प्रकार है। कुल मिलाकर क्रिया का सिद्धान्त सामाजिक क्रिया की परिस्थितियों और परिणामों से सम्बन्धित रहता है।

6. **पारम्परिक क्रिया में तार्किकता**—कुछ समाजशास्त्रियों तथा सामाजिक मानवशास्त्रियों का कहना है कि वेबर द्वारा वर्णित पारम्परिक क्रिया में कर्ता सोच-विचार नहीं करता, यह मानना त्रुटिपूर्ण और अवैज्ञानिक है। मुखिया को भेंट देने के सम्बन्ध में कर्ता विचार करता है कि अगर अच्छी भेंट दी जायेगी तो मुखिया को भेंटकर्ता को भविष्य में सहायता करेगा। अगर भेंट नहीं देगा तो मुखिया ऐसे व्यक्तियों से रुष्ट हो जायेगा तथा भविष्य में भी तंग कर सकता है। इस प्रकार से ही पारम्परिक क्रिया का प्रकार, वेबर द्वारा प्रतिपादित क्रिया का प्रकार निरर्थक, आधारहीन और त्रुटिपूर्ण है।

7. **अपूर्ण वर्गीकरण**—वेबर द्वारा निर्मित और प्रतिपादित सामाजिक क्रिया का वर्गीकरण अपूर्ण है। यह सभी प्रकार की क्रियाओं के प्रकारों को अपने वर्गीकरण में समेटने में असमर्थ रहा है। यही कारण है कि वेबर ने एक स्थान पर स्वयं लिखा है कि क्रिया के और भी प्रकार बनाये जा सकते हैं। पारसन्स ने सामाजिक क्रिया के प्रकार के अनेक आधार तथा प्रकार प्रतिपादित करके सिद्ध कर दिया है कि वेबर का वर्गीकरण अपूर्ण है।

8. **अस्पष्ट वर्गीकरण**—मैक्स वेबर का क्रिया का वर्गीकरण अस्पष्ट तथा गत्यात्मक है। आपने तार्किक क्रिया, मूल्य-अभिमुखी क्रिया, भावात्मक क्रिया और पारस्परिक क्रिया की व्याख्याओं में बार-बार लिखा है कि एक प्रकार की क्रिया किस प्रकार से दूसरे प्रकार की बन जाती है। यह स्पष्ट करता है कि आपके द्वारा प्रतिपादित सामाजिक क्रिया का वर्गीकरण स्थिर या स्थाई नहीं है जो इस वर्गीकरण को बड़ी भारी कमजोरी है।

9. **व्याख्यात्मक सिद्धान्त नहीं है**—कोहन का कहना है कि क्रिया का सिद्धान्त व्याख्यात्मक सिद्धान्त नहीं है। आपका कहना है कि यह सिद्धान्त जो व्याख्या करता है, वह घुमावदार या पुनरुक्त है। सामाजिक क्रिया क्रिया का परिणाम है और क्रिया का संचालन परिस्थिति करती है। बात को सीधी-सपाट या स्पष्ट वर्णन करके प्रस्तुत नहीं किया गया है। घुमावदार रूप में वर्णन किया गया है जो इसकी कमी है।

10. **सामान्यीकरण करने में असमर्थ**—क्रिया का सिद्धान्त लघु-स्तरीय सिद्धान्त है। समाज की विशेषताएँ ऐसा सामान्यीकरण करने में बाधा पैदा करती है। मर्टन, कोहन

NOTES

आदि समाजशास्त्रियों की मान्यता है कि समाज सामान्यीकरण न तो लघु स्तरीय सिद्धान्त कर सकते हैं और न ही वृहद स्तरीय सिद्धान्त। इसी सन्दर्भ में मैक्स वेबर का क्रिया का सिद्धान्त लघु-स्तर पर तो सामान्यीकरण एक सीमा तक कर सकता है परन्तु समाज का वृहद स्तर पर सामान्यीकरण करने में इनका सिद्धान्त सक्षम नहीं है। निष्कर्षत: मैक्स वेबर का सामाजिक क्रिया का सिद्धान्त समाज शास्त्र को एक महान् देन आयाम प्रस्तुत किये हैं।

मैक्स वेबर : आदर्श प्रारूप

'आदर्श प्रारूप' मैक्स वेबर की समाजशास्त्रीय जगत में एक महत्वपूर्ण अवधारणा है। 'आदर्श प्रारूप' वेबर की पद्धति शास्त्रीय अन्तर्दृष्टि की गहन सूझ-बूझ का परिणाम है। मैक्स वेबर से पहले 'डिल्थे' तथा 'सीमेल' ने आदर्श प्रारूप की अवधारणा का उल्लेख किया है लेकिन वेबर ने पहली बार एक नये ढंग से आदर्श प्रारूप की अवधारण को प्रस्तुत किया है।

आदर्श प्रारूप की अवधारणा : अर्थ तथा परिभाषा
(Concept of Ideal Type : Meaning and Definition)

आदर्श प्रारूप का अभिप्राय किसी आदर्श या किसी प्रकार के मूल्यांकन से नहीं है, बल्कि सामाजिक सम्बन्धों और सामाजिक तथ्यों के विशलेषण के लिए सामाजिक घटनाओं को समानताओं के आधार पर कुछ विशेष श्रेणियों में विभाजित कर लेना ही आदर्श प्रारूप की स्थापना करना है। वेबर ने आदर्श प्रारूप को परिभाषित करते हुये स्पष्ट किया है कि ''आदर्श प्रारूप प्राक्कल्पनात्मक मूर्त स्थितियाँ (व्यक्ति, सामाजिक दशा, परिवर्तन, क्रान्ति, वर्ग आदि) हैं। इनका निर्माण सामाजिक यथार्थ के आधार पर किया जाता है और इसका निश्चित उपयोग तुलनात्मक है।''

जुलियन फ्रेण्ड के अनुसार, ''आदर्श प्रारूप, कुल मिलाकर उन सभी अवधारणाओं का जोड़ है जिनका निर्माण विशेष विशुद्ध रूप से अनुसंधान के उद्देश्य से करते हैं।''

डॉन मार्टिनडेल ने वेबर के आदर्श प्रारूप की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ''आदर्श-प्रारूप उपकल्पित इकाइयाँ (व्यक्तित्व, सामाजिक परिस्थितियाँ, परिवर्तन क्रान्तियाँ, संस्थाएँ, वर्ग आदि) हैं जिनका निर्माण शोधकर्ता के द्वारा स्पष्ट तुलना करने के उद्देश्य से उनके सम्बन्धित निर्माणक तत्वों के आधार पर किया जाता है।''

अत: आदर्श प्रारूप न तो 'औसत-प्रारूप' है और न ही आदर्शात्मक एवं मूल्यात्मक है। इसका अर्थ है वास्तविक सामाजिक जीवन में जो पाये जाते हैं, उनमें से विचारपूर्वक कुछ तथ्यों का चयन किया जाये और उन्हें अध्ययन के लिए एक पैमाना या मान माना जाये। यद्यपि आदर्श प्रारूप का निर्माण वास्तविकता के आधार पर किया जाता है कि यह भी वास्तविकता के बराबर नहीं होता है और न ही वास्तविकता का औसत। वास्तविकता से कुछ विशेषताओं का चयन अध्ययनकर्ता अपने आदर्श प्रारूप के लिए चुनेगा और प्रत्येक अध्ययनकर्ता अपना भिन्न आदर्श-प्रारूप बना सकता है। वेबर ने अपने विश्लेषण में सत्ता,

प्रोस्टेंट धर्म, पूँजीवाद, युद्ध धर्म आदि आदर्श प्रारूपों को लिया है। इस आदर्श का चुनाव समस्या के स्पष्टीकरण, निष्कर्षों की व्याख्या और कार्य-कारण सम्बन्धों को निश्चित करने के उद्देश्य से किया जाता है।

NOTES

आदर्श-प्रारूप की विशेषताएँ—मैक्स वेबर के आदर्श प्रारूपों के प्रमुख लक्षण निम्नलिखित हैं—

(1) आदर्श प्रारूप में जो कुछ है, उसका वास्तविक जीवन में होना आवश्यक नहीं है—आदर्श प्रारूप में जिन लक्षणों को रखा जाता है, आवश्यक नहीं है कि वे लक्षण वास्तविक घटनाओं में भी मिलें। हो सकता है कि आदर्श के लक्षण वास्तविक घटनाओं में मिल जाएँ और उनके कुछ लक्षण नहीं मिलें। उदाहरण के लिए, पूँजीवाद के आदर्श प्रारूप में हम कुछ लक्षणों का सम्मिलित करते हैं, लेकिन जब हम पूँजीवाद को भारत में साकार रूप में देखते हैं तो यह हो सकता है कि उसके कुछ लक्षण इसमें न मिलें।

(2) एक विवेकपूर्ण ब्ल्यू प्रिंट—जिस समस्या या सामाजिक तथ्य के सम्बन्ध में आदर्श-प्रारूप बनाया जाता है, उसका एक खाका, विवेकपूर्ण ढंग से आदर्श प्रारूप में प्रस्तुत किया जाता है। वास्तविक संसार में यथार्थ तो बदलता रहता है लेकिन उससे सम्बन्धित आदर्श प्रारूप में इन परिवर्तनों का कोई समावेश नहीं होता है। इस प्रकार आदर्श प्रारूप का मुख्य आधार विवेक होता है।

(3) आदर्श प्रारूप नैतिक मूल्य नहीं होते—आदर्श प्रारूप के 'आदर्श' शब्द से अभिप्राय किसी नैतिक आदर्श से नहीं है और न ही ये आदर्श मूल्य होते हैं। यहाँ आदर्श से अभिप्राय विवेकपूर्ण से है।

(4) कर्ता की क्रिया के इच्छित अर्थ के अनुसार निर्माण—आदर्श प्रारूप का निर्माण कर्ता की क्रिया के इच्छित अर्थ के अनुसार किया जाता है अर्थात् प्रारूप में एक क्रिया का वह अर्थ महत्वपूर्ण होता है जो कि उसका कर्ता लगता है।

(5) एक सामाजिक घटना के महत्वपूर्ण पक्षों का निरूपण—आदर्श प्रारूप 'सबकुछ' का वर्णन या विश्लेषण नहीं है, यह तो एक सामाजिक घटना के महत्वपूर्ण पक्षों का निरूपण है। इसलिये आदर्श प्रारूप में कुछ तत्वों को उनके विशुद्ध रूपों में प्रस्तुत किया जाता है और कुछ को जानबूझकर छोड़ दिया जाता है।

(6) केवल ठोस ऐतिहासिक समस्याओं के विश्लेषण का साधन—आदर्श प्रारूप केवल ठोस ऐतिहासिक समस्याओं के विश्लेषण का एक साधन है।

(7) इसका सम्बन्ध किसी प्रकार के मूल्यांकन से नहीं है—वेबर का कहना है कि आदर्श प्रारूप का सम्बन्ध किसी प्रकार के मूल्यांकन से नहीं है।

(8) तुलना से सम्बन्धित—आदर्श प्रारूप का संख्यात्मक तरीका और सांस्कृतिक सामूहिक कारण घनिष्ठ रूप से तुलनात्मक पद्धति से सम्बन्धित है। यह पद्धति यह स्वीकारती है कि दो समूह तुलना के योग्य है। यह तुलना उन सामान्य विशेषताओं के आधार पर की जाती है जो इन समूहों या संस्कृतियों में समान हैं।

(9) प्रक्कल्पनात्मक—लेविस कोजर का कहना है कि आदर्श प्रारूप की प्रकृति प्रक्कल्पनात्मक होती है क्योंकि यह मूल्यों के उन्मुखन पर आधारित है, इसलिए शोधकर्ता प्रघटना के बारे में अपनी प्रक्कलपनाएँ बनाता है।

NOTES

(10) एक विशुद्ध प्रयोगात्मक प्रविधि—जुलियन फ्रेण्ड ने लिखा है कि 'आदर्श प्रारूप एक प्रकार की विशुद्ध प्रयोगात्मक प्रविधि है, जिसका निर्माण सामाजिक-वैज्ञानिक अपने मनमाने ढंग से करता है यदि कोई प्रारूप सामाजिक-वैज्ञानिक के शोध में कारगर सिद्ध नहीं होता तो बिना किसी हिचक के वह उसे फेंक देता है।''

आदर्श-प्रारूप अवधारणा की आलोचना (Criticism of the Ideal Type Concept)

मैक्स वेबर की आदर्श-प्रारूप अवधारणा की निम्न आधारों पर आलोचना की गयी है—

(1) नियमों का निर्माण असम्भव—वेबर के आदर्श प्रारूप की अवधारणा से समाजशास्त्र में सार्वभौमिक नियमों का निर्माण सम्भव नहीं है क्योंकि प्रत्येक वैज्ञानिक आदर्श-प्रारूप में अपनी-अपनी दृष्टि से महत्वपूर्ण तत्वों को सम्मिलित करेगा।

(2) तुलनात्मक अध्ययनों में इसका प्रयोग त्रुटिपूर्ण—वेबर के आदर्श-प्रारूप का प्रयोग केवल तुलनात्मक अध्ययनों के लिए ही हो सकता है क्योंकि आदर्श-प्रारूप के आधार पर हम किसी वास्तविक घटना और आदर्श-प्रारूप के बीच पायी जाने वाली समानता एवं भिन्नता ही ज्ञात कर सकते हैं। अत: तुलनात्मक अध्ययनों में इसका प्रयोग करना त्रुटिपूर्ण है।

(3) अनुभवात्मक अध्ययनों का महत्व नगण्य होना—यदि सभी घटनाओं का अध्ययन आदर्श-प्रारूप के आधार पर करें तो अनुभवात्मक अध्ययनों का महत्व कम हो जायेगा।

आदर्श-प्रारूप अवधारणा का महत्व—आदर्श प्रारूप अवधारणा के महत्व का विवेचन निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत किया गया है—

1. **वैज्ञानिक पद्धति की दृष्टि से महत्वपूर्ण**—वैज्ञानिक पद्धति की दृष्टि से आदर्श प्रारूप की अवधारणा अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि इसके बिना सामाजिक क्रियाओं का वैज्ञानिक विश्लेषण तथा निरूपण सम्भव नहीं है।
2. **यथार्थता तथा सुतथ्यता**—आदर्श प्रारूप पद्धति से एक वैज्ञानिक को काफी सुविधा होती है और उसके अध्ययन कार्य में अधिकाधिक यथार्थता और सुतथ्यता आती है।
3. **अन्य**—ऐन्ड्रेस्की (Andreski) ने अपनी पुस्तक 'The Comperative Sociology' में वेबर के आदर्श प्रारूप की अन्य दो देन ये बताई हैं—1. व्यक्त्यिों की क्रियायें सामाजिक अध्ययन की इकाइयाँ होनी चाहिए तथा 2. समाजशास्त्रों का अध्ययन मूल्य-निरपेक्ष होना चाहिए।

अध्याय का संक्षिप्त सार

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि विशिष्ट मानवीय व्यवहारों के विश्लेषण के लिए आदर्श-प्रारूप एक प्रतिमानित मानदण्ड है। इस मानदण्ड अथवा मॉडल से तुलना करके यह ज्ञात किया

जा सकता है कि एक विशेष अवधि से सम्बन्धित मानवीय व्यवहार निम्न विशेषताओं को प्रदर्शित करते हैं। यही वह आधार है जिसकी सहायता से सामाजिक घटनाओं की व्यवस्थित विवेचना की जा सकती है।

NOTES

परिक्षोपयोगी प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. मैक्स वेबर के बौद्धिक क्रिया कलापों का प्रकाश डालिए।
2. वेबर की प्रमुख कृतियों का उल्लेख कीजिए।
3. सत्ता से आपका क्या तात्पर्य है ? सत्ता के प्रकारों पर प्रकाश डालिए।
4. सामाजिक क्रिया के सिद्धान्त के प्रमुख अभिग्रहों का वर्णन कीजिए।
5. आदर्श प्रारूप का क्या अर्थ है ? इसकी विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
6. सामाजिक क्रिया से क्या तात्पर्य है ? इसकी विशेषताएँ लिखिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. शक्ति तथा सत्ता से आपका क्या अभिप्राय है ? सत्ता की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. परम्परागत सत्ता क्या है ? स्पष्ट कीजिए।
3. सत्ता की ऐतिहासिक विवेचना कीजिए।
4. आदर्श प्रारूप क्या है ? इसके प्रमुख प्रकार्यों का वर्णन कीजिए।
5. मैक्स वेबर द्वारा सामाजिक क्रिया के सिद्धान्त की आलोचनाओं का वर्णन कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. ''साधारण तथा परम्परागत सत्ता की प्रकृति आनुवंशिक होती है।'' यह कथन है—

   (अ) वेबर के अनुसार सत्य (ब) असत्य

   (स) सत्य (द) मार्क्स के अनुसार सत्य

2. निम्नलिखित में किस प्रस्थिति का सम्बन्ध वैधानिक सत्ता से नहीं है ?

   (अ) कुलपति का पद (ब) मन्त्री का पद

   (स) सामन्त का पद (द) सूबेदार का पद

3. वेबर के अनुसार सामाजिक क्रियाओं के वैज्ञानिक अध्ययन की पद्धति का नाम है—

   (अ) सामाजिक प्रतिक्रिया (ब) सामाजिक क्रिया

   (स) सामाजिक सम्बन्ध (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं

4. वेबर ने सत्ता की अवधारणा को समाजशास्त्र को किस शाखा को स्पष्ट करने के लिए प्रस्तुत किया—

   (अ) धर्म का समाजशास्त्र (ब) शिक्षा का समाजशास्त्र

   (स) ज्ञान का समाजशास्त्र (द) राजनीतिक समाजशास्त्र

NOTES

5. जब किसी व्यक्ति की असाधारण क्षमता के कारण बड़ी संख्या में लोग उसके अनुयायी बन जाते हैं तब ऐसे व्यक्ति की सत्ता को कहा जाता है—
(अ) वैधानिक सत्ता (ब) संवैधानिक सत्ता
(स) चमत्कारी सत्ता (द) उपर्युक्त सभी
6. बेवर ने अपनी किस पुस्तक में सामजिक क्रिया के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है-
(अ) सामाजिक और आर्थिक संगठन का सिद्धान्त
(ब) धर्म का समाजशास्त्र
(स) ऐरोज इन सोशियोलॉजी
(द) द सिटी
7. वेबर ने सामाजिक क्रिया के प्रकार बताये हैं-
(अ) दो (ब) तीन
(स) चार (द) पाँच
8. वेबर ने सामाजिक क्रिया की विशेषतायें बताई हैं-
(अ) तीन (ब) चार
(स) पाँच (द) छः
9. वेबर ने सामाजिक क्रिया को समझने की विधियों का उल्लेख किया है-
(अ) छः (ब) चार
(स) तीन (द) दो
10. नौकरशाही को 'आदर्श प्रारूप' में किस समाजशास्त्री ने विवेचित किया है-
(अ) कॉम्टे (ब) दुर्खीम
(स) मैक्समूलर (द) मैक्सवेबर

उत्तरमाला—1. (अ), 2. (स), 3. (ब), 4. (द), 5. (स), 6. (अ), 7. (स), 8. (ब), 9. (द), 10. (द)।

ꝏ

7 कार्ल मार्क्स

NOTES

अध्याय में सम्मिलित विषय सामग्री

- उद्देश्य
- प्राक्कथन
- मार्क्स का जीवन परिचय
- मार्क्स की प्रमुख रचनाएँ
- ऐतिहासिक भौतिकवाद
- उत्पादन सम्बन्धों का अर्थ
- उत्पादन सम्बन्धों की विशेषताएँ
- वर्ग और वर्ग संघर्ष
- वर्ग चेतना
- सामाजिक क्रान्ति
- सामाजिक क्रान्ति की विशेषताएँ
- सामाजिक क्रान्ति के सिद्धान्त की आलोचना
- अध्याय का संक्षिप्त सार
- परीक्षोपयोगी प्रश्न

उद्देश्य :

इस अध्याय अध्ययन के पश्चात् आप निम्न तथ्यों को समझ सकेंगे—

- प्राक्कथन
- मार्क्स का जीवन परिचय
- मार्क्स की प्रमुख रचनाएँ
- ऐतिहासिक भौतिकवाद
- उत्पादन सम्बन्धों का अर्थ
- उत्पादन सम्बन्धों की विशेषताएँ
- वर्ग और वर्ग संघर्ष
- वर्ग चेतना
- सामाजिक क्रान्ति
- सामाजिक क्रान्ति की विशेषताएँ
- सामाजिक क्रान्ति के सिद्धान्त की आलोचना

NOTES

प्राक्कथन

जिस समय मार्क्स बर्लिन विश्वविद्यालय में शिक्षा ग्रहण कर रहा था, उस समय हीगेल के अनुयायी दो खेमों में बंटे थे। परम्परावादी हीगेल पंथी खमें में अनुयायी तत्कालीन समाज व्यवस्था को संवाद की प्रौढ़ एवं अनिवार्य स्थिति मानकर निष्क्रिय होकर बैठे थे। उनका कहना था कि इस प्रक्रिया के साथ कोई जोर जबरदस्ती नहीं की जा सकती। हीगेन पंथ का दूसरा खेमा नव हीगेल पँथियो का था। तत्कालीन समाज व्यवस्था को प्रतिवाद के रूप में मानते थे और कहते थे कि शोषण तथा उत्पीड़न के खिलाफ आवाज उठानी चाहिये। इन दो खेमों में मार्क्स ने दूसरा खेमा यानी नये हीगेल पँथियों का खेमा स्वीकार किया। बाद में चलकर मार्क्स ने हीगेल की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के रहस्यवादी कारणों को अस्वीकार करके द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की नयी चिन्तन प्रणाली का प्रतिपादन किया। इसके अनुसार आर्थिक दशाएँ ही मानव जीवन के विभिन्न स्वरूपों को निर्धारित करती हैं। मार्क्स ने पूरी ताकत के साथ कहा कि समाज में होने वाले परिवर्तन कोई अदृश्य शक्ति काम नही करती और न ही यह सामाजिक परिवर्तन परमात्मा करता हैं यह परिवर्तन तो उत्पादन शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों द्वारा होता हैं उन्होंने दृढ़तापूर्वक कहा कि ईश्वर इस धरती पर कोई अवतार नहीं हैं समाज की गैर-बराबरी तो आर्थिक संरचना जनित असमानता के कारण ही है।

अपनी इस उपलब्धि को ऐतिहासिक आंकते हुए मार्क्स ने दावा किया कि उसने हीगेल के शीर्षासन कर रहे दर्शन को पैरों पर खड़ा कर दिया। हीगेल से प्रभावित चिंतकों ने इसे मार्क्स का बड़बालापन कहा और प्रत्युत्तर में यह बताया कि अपने गुरू को पराजित करने कै असफल प्रयास में मार्क्स स्वयं सिर के बल खड़ा हो गया। जो कुछ भी हुआ होगा, जो कुछ भी हुआ होगा, इन्ही दोनों से हुआ होगा। किन्तु ऐसा कुछ होने से पहले इतना निश्चित रूप से हुआ कि मार्क्स ने 1841 ई. में जेना विश्वविद्यालय में डाक्ट्रेट की उपाधि अवश्य अर्जित कर ली।

जीवन परिचय—मार्क्स यहूदी था उसका जन्म जर्मनी के राइन्स प्रांत के ट्रीयर कस्बे में मार्च 5, 1818 में हुआ था उसके पिता की कुल नौ संतानें थीं जिनमें मार्क्स ज्येष्ठ था। बाल्यकाल में मार्क्स ने इसके अतिरिक्त और कोई विशेषता नहीं थीं कि वह अपने घर से अधिक पड़ोसी के घर में आत्मीयता महसूस करता था। बगल वाला घर लुडविन वॉन वेस्ट फैलन नामक एक अभिजात्य व्यक्ति का था जिसे ट्रीयर में प्रशिया सरकार के वरिष्ठ प्रतिनिधि के रूप मे नियुक्त किया गया था किरो मार्क्स को पड़ोसी के घर की समृद्ध लाइब्रेरी तथा असाधारण रूप से सुन्दर पुत्री जेनी वालन वेस्ट फैलन दोनों से एक जैसा लगाव था। लगाव आने वाले वर्षो में बढ़ता ही गया। और जेनी मृत्युपर्यन्त मार्क्स की जीवनसँगिनी बनी रहीं।

जेनी और मार्क्स का कौमार्य प्रेम आसानी से विवाह में परिणित नहीं हो सका। इसका एक कारण तो यह था कि जेनी सौन्दर्य की राजकुमारी थी और मार्क्स सूरज की रोशनी में जितना बदसूरत देखा जा सकता था, उससे जरा भी कम नहीं थे। दूसरी अड़चन यह थी कि मार्क्स मध्यम वर्गीय परिवार से थे और जेनी कुलीन परिवार की। यह होते हुए भी जेनी

ने मार्क्स से विवाह करना पसन्द किया। विवाह के लिए भी पूरे सात वर्ष जब तक मार्क्स की शिक्षा पूरी न हो गयी प्रतीक्षा करनी पड़ी।

NOTES

हीगेल : मार्क्स के मार्गदर्शक

बॉन विश्वविद्यालय में अपने छोटे से प्रवास के बाद मार्क्स ने जर्मनी के बौद्धिक एवं राजनीतिक केन्द्र बर्लिन विश्वविद्यालय को अपनी उच्च शिक्षा के लिये चयन किया। पिता चाहते थे कि उनका बेटा पारिवारिक व्यवसाय वकालत को स्वीकार करे। लेकिन मार्क्स को यह स्वीकार न था। उसकी अभिरूचि कानून की पुस्तकों में नहीं, दर्शन एवं इतिहास के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक ज्ञान में थी। यही पर बर्लिन विश्वविद्यालय में मार्क्स का हीगेल Hegel के कृतियों से परिचय हुआ। यहीं पर उसने अपनी प्रारम्भिक चिन्तन शैली को हीगेल की द्वन्द्वातमक प्रणाली आधारित किया। इसी कारण हीगेल मार्क्स का गुरु और मार्गदर्शक माना जाता है।

उन्नीसवीं बीसवीं शताब्दी के मध्य यूरोप में हीगेल के दर्शन का बहुत बड़ा प्रभाव था। हीगेल द्वन्द्वात्मक विचारधारा के प्रणेता थे। द्वन्द्वातमक Dialectical प्रणाली और कुछ न होकर परस्पर विरोधी शक्तियों के बीच का संघर्ष और उनका समन्वय Synthesis है। समाजशास्त्र के क्षेत्र में यदि इसे लागू किया जाए तो कहा जा सकता है कि राज्य, समाज-जीवन की प्रत्येक दशावाद Thehesis, प्रतिवाद Antithehesis तथा सम्वाद Synthesis की प्रक्रियाओं से होकर गुजरती है। इसी प्रक्रिया में हिंसा द्वारा कोई मनचाहा परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

जीवन प्रवेश

विश्वविद्यालय से पढ़ाई लिखाई समाप्त करने के पश्चात् मार्क्स कोई अच्छी नौकरी नहीं कर पाया। उसे कहीं अध्यापकी नहीं मिली। ऐसी दशा में उसने पत्रकारिता को जीवन-यापन का माध्यम बनाया। इस नए क्षेत्र में पदार्पण करते समय ही मार्क्स और उसकी जन-विवाहिता पत्नी जेनी को संघर्षपूर्ण जीवन की शुरुआत का आभास हो गया, किन्तु इस नव-दम्पत्ति को यह ज्ञान नहीं था कि ये विषय परिस्थितियाँ जीवन भर उन्हें लताड़ती रहेंगी। 1842 ई. में मार्क्स कोलोन से प्रकाशित होने वाले पत्र ''रीनिश जीटिंग'' का सम्पादक बन गया। लेकिन सरकारी कोप से वह बच नही सका और एक वर्ष बाद 1843 ई. में उसे यह सम्पादकीय छोड़नी पड़ी। अब मार्क्स ने अपनी पत्नी जेनी के साथ फ्रांस जाने का निश्चय किया। यहाँ वह एक मासिक पत्रिका सम्पादक बन गया। मार्क्स का पेरिस प्रवास उसकी विचार धारा के लिये बहुत प्रेरणदायक रहा। वहाँ वह कुछ जाने माने चितंकों के सम्पर्क में आया। इन चिन्तकों में प्रोधों बाकुनिन, लुई ब्लाक विशेष रूप उल्लेखनीय हैं।

प्रमुख रचनाएँ

कार्ल मार्क्स ने अपनी विचारधारा के प्रतिवादन में कई पुस्तकें लिखी हैं। इन पुस्तकों के अतिरिक्त उन्होंने अपनी पत्रिकाओं और तत्कालीन समाचार पत्रों में कई फुटकर निबन्ध

NOTES

लिखे हैं। उनकी सम्पूर्ण कृतियों की केन्द्रिय समस्या तत्कालीन पूँजीवादी समाज है। यह पूँजीवादी समाज या वर्ग समाज (Class Society) सम्पूर्ण शोषण, निरंकुशता तथा सामाजिक गैर बराबरी के लिये उत्तरदायी है। पूँजीवादी का कारण मुनाफाखोरी है और मुनाफाखोरी इसलिए है कि उत्पादन शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों में बहुत बड़ा गेप (Gap) हैं। इस दूरी को किसी भी उदारतापूर्ण सुधारों द्वारा दुरूस्त नहीं किया जा सकता। मार्क्स को पूरा भरोसा है कि यह पूँजीवाद व्यवस्था या सामाजिक गैर-बरावरी केवल द्वारा ही ठीक की जा सकती है। उनकी सभी कृतियों में वर्ग संघर्ष, द्वन्दात्मक भौतिकवाद या ऐतिहासिक भौतिकवाद, अलगाव और सामाजिक परिवर्तन विश्लेषण के केन्द्रीय थीम (Theam) रहे हैं।

1. Capitaled, Fredderick Engles and Samual Moore & Edward Aveling 3Vols;Londan Lawrenew and Wishart, 1954-60.
2. A condtribution to the critique political Economy, trans-stonr, Chieago : Charles M.kerr, 1904.
3. Economic and philosophic Manuseripts of 1844,3d Drik, j. strul and Trans Mart in Milligan. London; Lawrence and Wishart, 1959.
4. The poverty of Philosophy, London, Lawrence and Language Publishing House, `955.
5. Marx-Engles, Selected Correspodence 1846-1895 london: Lawrence and Wishart, 1956.

ऐतिहासिक भौतिकवाद

मार्क्सवाद परम्परा में ऐतिहासिक भौतिकवाद को इतिहास की भौतिकवाद अवधारणा (Materislist Conception of history) भी कहा जाता है। मार्क्सवादी सिद्धान्त में ऐतिहासिक भौतिकवाद एक सामाजिक-वैज्ञानिक केन्द्र बिन्दु हैं। 1892 ई. में ऐंजिल्स ने सोशिलिज्म : यूटोपियन एण्ड साइन्टिफिक (Socialism : Utpian Scientific) पुस्तक की भूमिका में ऐतिहासिक भौतिकवाद की व्याख्या इस प्रकर की है—

ऐतिहासिक भौतिकवाद इतिहास की उस दिशा की खोज करता है जो सभी निर्णायक संचालन करने वाली महत्त्वपूर्ण शक्ति है, जो समाज के आर्थिक विकास को आगे सरकाती है, जो उत्पादन तथा विनिमय विधियों के परिवर्तन को समझती है, जो इसके परिणाम स्वरूप होने वाले श्रम विभाजन का पता लगाती है तथा समाज के विभिन्न वर्गी की पहचान करके उनसे होने वाले वर्ग संघर्ष को देखती है।

ऐंजिल्स ने इसी पुस्तक से यह भी लिखा है कि मार्क्स ऐसे पहले विचारक थे जिन्होंने ऐतिहासिक भौतिकवाद की अवधारणा को समाज विज्ञान में रखा। यहीं पर ऐंजिल्स यह भी कहते हैं कि ऐतिहासिक भौतिकवाद के अतिरिक्त मार्क्स का दूसरा बड़ा योगदान अतिरिक्त मूल्य (Surplus Valur) का है अन्यत्र वे दूसरी बात कहते हैं कि ऐंजिल्स ने ही पहली बार बिना किसी के सहयोग के ऐतिहासिक भौतिकवाद की अवधारणा को प्रस्तुत किया। इस अवधारणा को सर्वप्रथम ऐंजिल्य ने रखा या मार्क्स ने इस विवाद में पड़ने से कोई लाभ

नहीं है। तथ्य यह है कि इन दोनों विचारकों ने इतिहास को एक नये दृष्टिकोण से देखा और यह नया दृष्टिकोण इतिहास के उत्पादन विधि तथा उत्पादन सम्बन्धों से जुड़ा हुआ है।

मार्क्स के जीवन काल में और आज भी परम्परागत इतिहासकार, इतिहास को राजाओं, महाराजाओं तथा अभिजात्य वर्ग और उदगम और पतन के संदर्भ में वर्णित करते हैं। होता यहाँ तक है कि राजा-महाराजाओं के शासन काल को क्रमश: सन-संवतों में बाँध दिया जाता है। इस इतिहास जो रूढ़िगत हैं, जिसका प्रचलन यूरोप, अमेरिका और हमारे देश में भी रहा है, इसमें निम्न वर्ग के समूहों, जातियों और पद-दलितों के लिए कोई स्थान नहीं होता। मार्क्स को रूढ़िगत इतिहास का यह उपागम स्वीकार नहीं था। उन्होंने सम्पूर्ण मानव इतिहास का गहराई से अध्ययन का केन्द्र उत्पादन साधन, उत्पादन-शक्तियों और उत्पादन सम्बन्ध है। व्याख्या और निवर्चन की यह विधि, जिसका प्रयोग ऐंजिल्स और माल्र्स ने किया नयी थी।

ऐतिहासिक भौतिकवाद किसे कहते हैं ?

ऐतिहासिक भौतिकवाद की कोई भी व्याख्या या परिभाषा देने से पहले यह कहना उचित होगा कि यद्यपि मार्क्स के सम्पूर्ण लेखन और कृतित्व से ऐतिहासिक भौतिकवाद एक मार्गदर्शन सूत्र (Cundinjg Thread) होते हुए भी किसी भी तरह से दर्शन नहीं है। यह तो केवल एक आनुभाविक सिद्धान्त है, एक आनुभावित अभिधारणा संकलन (Collection of empirical thesis) मात्र है मार्क्स और एंजिल्स ने कभी भी ऐतिहासिक भौतिकवाद को एक वैज्ञानिक दर्जा देने के उद्यम नहीं किया। इस अभाव के होते हुए भी यह एक ऐसा पैना अवलोकन है जो समाज और इतिहास की वास्तविक स्थिति को दर्शाता है।

मार्क्स की कृतियों में ऐजिल्स के साथ में लिखा गया उनकी पुस्तक द जर्मन आइडियोलोजी (The german ideology : 1845-46) एक महत्वपूर्ण दस्तावेज है, जिसमें इन दोनों लेखकों ने इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की है। इस पुस्तक में इन्होंने इस तथ्य को रखा है कि समाज इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की है। इस पुस्तक में इन्होंने इस तथ्य को रखा है कि समाज का विकास उन परिस्थितियों से होता है जिनमें आदमी रहता है। मुख्यतया ये परिस्थितियाँ भौतिक होती हैं। भौतिक परिस्थितियों जड़ नहीं है— लगातार गतिशील है। जब इन परिस्थितियों में परिवर्तन आता है, इतिहास में नये युग का सूत्रपात होता है। मार्क्स और एंजिल्स ऐतिहासिक में परिवर्तन आता है, इतिहास में नये युग का सूत्रपात होता है। मार्क्स और एंजिल्स ऐतिहासिक भौतिकवाद की अवधारणा में यह स्पष्ट करते हैं कि समाज का विकास किसी एक भले या बुरे विचार से नहीं होता। समाज का विकास न तो सम्राट अशोक करता है और न ही अकबर महान। निश्चित है समाज का विकास न यह आदमी करता है न वह आदमी। और न कोई अवतार या वीर नायक। इसी तरह समाज का विकास न तो भौतिक पर्यावरण करता है और न ही ईश्वर की इच्छा। किसी परिस्थिति में मार्क्स यह दृढ़ता से मानते हैं कि इतिहास पूर्व निश्चित किसी यांत्रिक दिशा की ओर नहीं मुड़ता। यह तालाब में एक के बाद उठने वाली लहर की तरह नहीं है। सच्चाई यह है कि इतिहास की सोच उनका श्वास और प्रश्वास भौतिक परिस्थितियों

से बना हुआ है। जब-जब उत्पादन के तरीकों में बदलाव आया है, इतिहास की सांस भरी हुई है और उसमें परिवर्तन होता गया है।

यदि संक्षेप में ऐतिहासिक भौतिकवाद की परिभाषा दे तो कहना होगा कि मार्क्स का यह केन्द्रीय सिद्धान्त इतिहास, सन संवतों में बंधा हुआ, राजा-महाराजाओं का कालानुक्रमिक (Chronological) वृतान्त नहीं मानता। अवधारणा इतिहास के बदलाव को और इसी तरह समाज की संरचना को भौतिक उत्पादन के तरीके, उत्पादन शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के संदर्भ में देखती है।

समाज की संरचना में रोटी, कपड़ा, मकान इत्यादि भौतिक आधार है। ये भौतिक आधार आर्थिक संगठन को बनाते हैं। इन भौतिक वस्तुओं वे अलावा समाज में जो कुछ भी है साहित्य, कला, दर्शन, राजनीति इन सबके निर्माण या इन सबका उद्‌गम उत्पादन शक्तियों उत्पादन संबंधों और आर्थिक संरचना में निहित है। जब हम किसी भी समाज की विश्लेषण, भौतिक उत्पादन आदि के संदर्भ से करते हैं तो यह इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या हुयी। और यही मार्क्स का ऐतिहासिक भौतिकवाद है।

ऐतिहासिक भौतिकवाद के तत्व

यदि हम किसी राजनैतिक व्यवस्था की व्याख्या करते हैं कायदे कानून को देखते है तथा ललित कला को रोमाटिंक छवियों को देखते है तो ये सब भौतिकवादी संदर्भ में देखा जाये तो हमारा सारा निष्कर्ष बदल जायेगा। इसे हम थोड़ा विस्तार से देखेंगे। मार्क्स कहते हैं कि जबसे मनुष्य का अस्तित्व इस संसार में देखने को मिलता है तभी एक बात बहुत स्पष्ट है कि इस आदिम मनुष्य की सबसे बड़ी समस्या जीवित रहने की होगी। जीवित रहने के लिए उसे अपने इर्द गिर्द प्रकृति के साथ संघर्ष करना पड़ा होगा समायोजन करना पड़ा होगा। इस दृष्टि से देखा जाये तो आदमी को उसकी प्रकृति में जो साधन उपलब्ध थे, उसी के अनुरूप आदमी ने जीवित रहने का प्रयास किया। इसी कारण मार्क्स।

यह दावा करते है कि समाज की आर्थिक संरचना जो उत्पादन सम्बन्धों में बनी है, समाज की वास्तविक आधारशिला है यह वह आधार है जिससे कानूनी और राजनैतिक अधिरचना और तरह सामाजिक चेतना (Social Concepts) पैदा होती है। दूसरी और देखों तो समाज में उत्पन्न संबंध भी भौतिक उत्पादन शक्तियाँ को विकास के एक निश्चित स्तर तक ले जाते हैं इस तरह भौतिक जीवन के उत्पादन का तरीका, जीवन सामाजिक राजनैतिक और बौद्धिक प्रक्रियाओं को सामान्यता निश्चित करता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर ऐतिहासिक भौतिकवाद व निम्नलिखित तथ्य महत्वपूर्ण है। जब हम किसी भी समाज के इतिहास को इन तत्वों के सन्दर्भ में देखते हैं तो वे उस समाज की भौतिकवादी अवधारणा है।

(1) **उत्पादन का तरीका**—किसी भी समाज का बुनियादी ढांचा भौतिक है। जब मनुष्य इस धरती पर आया तो जीवित रहने के लिए उसने भौतिक साधनों को अपना स्त्रोत बनाया। इस स्त्रोतों का दोहन करने के लिए उसने विभिन्न तरीकों को काम में लिया ऐसी स्थिति में उत्पादन के तरीके जो विभिन्न युगों में मनुष्य द्वारा अपनाये गये,

महत्वपूर्ण हैं उत्पादन के ये तरीके अपने आकार या परिवेश में बहुत विशाल है। शायद प्रारम्भ में मनुष्य ने जंगल में शिकर से अपना पेट भरा हो। इसके बाद उसने छोटे अनाजों (Small Cereals) को पैदा करना शुरू किया हो, इससे आगे कृषि उत्पादन में और संशोधन हुये हों और ये ही संशोधन आज हरित क्रांति से सूत्रपात तक समाज को ले आये है। उत्पादन की प्रक्रिया में काम में आने वाली तकनीकों जटिलता भी इसी तरह बढ़ी हो।

उत्पादन के तरीकों को हम विशाल और जटिल इसलिए कहे हैं कि इसके अंतर्गत उत्पादन शक्तियाँ और उत्पादन सम्बन्ध दोनों ही सम्मिलित हो जाते हैं। राधाकृष्ण मुखर्जी जब मार्क्स एंजिल्स और लेनिन की व्याख्या की हैं तो उनका कहना है यौन नियंत्रण, यौन सम्बन्ध, पारिवारिक और नातेदारी सम्बन्ध, उत्पादन तरीकों यानी उत्पादन सम्बन्धों की श्रेणी में आ जाते हैं। अत: तब हम समाज की ऐतिहासिक भौतिकवादी व्याख्या करते हें जो उसका किसी भी त्रिभुज में शीर्ष स्थान है इसके आधार पर उत्पादन शक्तियाँ और उत्पादन सम्बन्ध है। अत: जब हम ऐतिहासिक भौतिकवाद की व्याख्या करते हैं। तक हमें (1) उत्पादन के तरीकों (2) उत्पादन शक्तियों (3) उत्पादन सम्बन्धों की व्याख्या अनिवार्य रूप से करनी चाहिए। इस व्याख्या का उद्देश्य यह होना चाहिये कि इतिहास में जो कुछ परिवर्तन आये हैं उनका बुनियादी कारण ये तीन तत्व हैं और इससे आगे मनुष्य या समाज की जो सामाजिक चेतना है वह इन तीनों भौतिक तत्वों के कारण है। इस तरह का उपागत मार्क्स की पदावली में इतिहास का भौतिकवादी विवेचन है।

उत्पादन के तरीकों में निहित तत्वों को हम निम्न सूत्र में रखेंगे—

मार्क्स के सम्पूर्ण लेखन में उत्पादन तरीकों की व्याख्या बार-बार की गयी है। यह कहना अनुचित नहीं होता कि मार्क्स के किसी भी सिद्धान्त को लें - द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, वर्ग संघर्ष क्रान्ति, मनुष्य जाति की शोषण की मुक्ति सभी में उत्पादन के तरीकों का केन्द्रीय स्थान है। वास्तविकता यह है कि उत्पादन का तरीका भरण-पोषण को निश्चित करता है। प्रत्येक समाज में उत्पादन का तरीका समाज के सदस्यों की जीवन पद्धति को अभिव्यक्ति देता है। जैसी उत्पादन पद्धति होगी-खेती बाड़ी की या उद्योग की वैसी ही निश्चित जीवन-यापन की शैली होगी। जैसे लोग हैं वैसी अभिव्यक्ति करते हैं और वे कैसे हैं यह इस बात से निश्चित होता है कि उनके उत्पादन का तरीका क्या है। इस भांति प्रत्येक व्यक्ति का दर्पण उसके उत्पादन के तरीकों की दशा है।

यदि इतिहास की ईमानदारी के साथ परिक्रमा की जाय तो ज्ञात होगा कि नागरिक जीवन में लोगों के साथ हमारा जो भी व्यवहार है— अन्त-क्रियाएं हैं वे उत्पादन के तरीकों से जुड़ी हुई हैं या उत्पादन से सम्पन्न हुई हैं अर्थात् किसी भी इतिहास का आधार और राज्य की गतिविधियों का विवरण उत्पादन तरीकों पर निर्भर है। इस तरह इतिहास उत्पादन पके तरीकों के सिद्धान्त से प्रारम्भ होता है। और हमारी सामाजिक चेतना, धर्म, दर्शन, आचार, और ऐसे कई सामाजिक सांस्कृतिक स्वरूप उत्पादन के

तरीकों से जुड़े होते हैं इतिहास को देखने का यह उत्पादनवादी संदर्भ परम्परागत इतिहास के एकदम भिन्न है। भौतिकवादी इतिहास मार्क्स आग्रहपूर्वक कहते हैं कि वास्तविक इतिहास है। मार्क्स कहीं पर भी इतिहास के वीर नायकों की गुणगाथा नहीं गाते, न ही वे उनकी कोई आलोचनात्मक टिप्पणी करते हैं। वे तो यह मानकर चलते हें कि इतिहास के पीढ़ियों को ढकेलने वाली शक्ति और इस अर्थ में धर्म दर्शन आदि के निर्माण के पीछे उत्पादन के तरीके है।

परम्परागत इतिहास वहाँ समाप्त हो जाता है जहाँ के समाज के सदस्यों में आत्म चेतना आ जाती है। मार्क्स के लिये इतिहास का यह अन्त बर्जुआ और पूँजीवादी है। वे तो कहते हैं कि इतिहास का एक युग वहाँ समान होता है तब एक प्रकार के भौतिकवादी सामाजिक सम्बन्ध समाप्त हो जाते हैं इतिहास के गुलाम और सामन्ती युग भौतिक सम्बन्धों के परिणाम है। होता यह है कि व्यक्तियों के सामाजिक सम्बन्ध ऐतिहासिक रूप से बने होते हैं। ये इतिहास द्वारा निर्धारित सामाजिक सम्बन्ध उत्पादन पद्धति से निर्मम होते हैं, और पीढ़ी दर पीढ़ी चलते रहते हैं उत्पादन पद्धति से बन्धे हुए ये सामाजिक सम्बन्ध, रीति-रिवाज, परम्पराएँ और संस्कार एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को बिना किसी परिवर्तन के ज्यों के ज्यों हस्तान्तरित होते हों, ऐसा नहीं है। हरपीढ़ी बदलने हुए उत्पादन तरीकों के आधार पर नये सामाजिक सम्बन्धों और रीति रिवाजों का सृजन करती है। उत्पादन तरीकों का यह दबाव इतिहास के प्रत्येक युग का एक विशिष्ट पहचान निश्चित करता है, अर्थात् जहाँ उत्पादन पद्धति इतिहास के एक युग या पीढ़ी की पहचान को निर्धारित करते हैं। वही इसी युग की पीढ़ी स्वयं उत्पादन तरीकों में बदलती है। जहाँ गुलाम युग ने यानी उत्पादन के साधनों के स्वामित्व ने गुलामों को अमानवीयता के स्तर पर ढकेल दिया वहीं इन साधनों के बदलाव ने सामंती युग को जन्म दिया। इसलिए उत्पादन पद्धति जहाँ एक युग को उसका चरित्र देती है तो दूसरे और युग भी पद्धति में बदलाव लाता है।

आखिर आदमी की मौलिकता क्या है ? उसके जीवन का सार क्या है? इस प्रश्न का उत्तर परम्परागत इतिहास नहीं देता। यह इतिहास तो राजाओं, महाराजाओं, ड्योढ़ियों और रावलों तक आकर रुक जाता है। भौतिकवादी इतिहास की अवधारणा ढेढ जनजीवन की तह में पैठ जाती है और इतिहास का यही मूल आधार है। उत्पादन पद्धति अपने आकार और प्रकार में बहुत विशाल है। इसी के परिणाम स्वरूप उत्पादन शक्तियाँ, पूँजी (Capital) और पूँजी सम्बन्ध निश्चित होते हैं।

प्रत्येक पीढ़ी अपने युग में उत्पादन पद्धति यानी उत्पादन शक्तियों और उत्पादन संबंधों के साथ जूझती है। इस संघर्ष में पूँजीवादी सुदृढ़ होता है और इसकी इस सुदृढ़ता में ही इसकी कब्र खुदती रहती है। इस तरह यदि हम थोड़ी गहराई से देखें तो उत्पादन पद्धति में ही द्वन्द्व बना हुआ है। हमने पिछले पृष्ठों में कहा है कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ऐतिहासिक भौतिकवाद से भिन्न है। यह अन्तर इस तरह है। कि जब हम भौतिकवादी अवधारणा है। दूसरी ओर जब हम इतिहास के प्रत्सेक उत्पादन के तरीकों के युग को द्वन्द्व के रू., में देखते हैं तो यह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ऐतिहासिक भौतिकवाद की प्रक्रिया में निहित

एक दूसरी प्रक्रिया है। ये दोनों प्रक्रियायें प्रत्येक युग में गुलामी, सामन्तवादी और पूँजीवाद में समान रूप से काम करती हुयी दिखाई देती हे।

NOTES

(2) उत्पादन शक्तियाँ—मार्क्स के सभी सिद्धान्तों का आधार और विशेषकर के सामाजिक परिवर्तन की बुनियाद को कुंजी अवधारणाएँ हैं—1. उत्पादन शक्तियाँ और 2. उत्पादन सम्बन्ध, जिन्हें सम्पत्ति भी कहते हैं। मार्क्स ने क्रीटिक ऑफ पोलिटिकल इकोनोमी 1859) में यह कहा है कि जब उत्पादन शक्तियाँ और उत्पादन सम्बन्धों में विसंगति आ जाती है। तो इतिहास से क्रांति का सूत्रपात होता है। अत: दोहरायेंगे कि उत्पादन शक्तियाँ उत्पादन तरीकों को एक अंग पात्र है और इसलिये ऐतिहासिक भौतिकवाद के एक तत्व के रूप में यहाँ हम उसकी मीमांसा को रखते हैं मार्क्स उत्पादन शक्तियों की अवधारणा को क्रान्ति का सूत्र मानते हुये अपने राजनैतिक अर्थव्यवस्था के क्रिटिक में लिखते हैं—

अपने विकास की एक निश्चित सीमा तक पहुँचने पर भौतिक उत्पादन शक्तियाँ अपने समकालीन उत्पादन सम्बन्धों के विरोध में आ जाती है। यह विरोध सामाजिक क्रान्ति का सूत्रपात करता है। अधिसंरचना त्वरित गति से बदल जाती है।

उत्पादन शक्तियाँ क्या है? एक किसान हल, बैल से खेत जोतता है रात और दिन खेत की रखवाली करता है, अपनी हाथों से खर-पतवार को हटाता है और फसल पक जाने पर हंसिया से फसल को काटता है। उत्पादन की यह शक्ति अब पुरानी हो गयी, परम्परागत मात्र है। इस शक्ति से ईजाफा हुआ। अब ट्रेक्टर से लोग हल बोवाई करते हैं। कीटनाशक दवाएं फसल को सुरक्षा देती है और इससे आगे थ्रेसर अनाज को भूसे से अलग कर देता है। यह उत्पादन शक्तियों में संशोधन है। मार्क्स का तर्क है कि उत्पादन पद्धति से विज्ञान और तकनीकी जुड़े हुए हैं और इसलिए इन शक्तियों में आये दिन संशोधन होता रहता है। इसी अनुपात में उत्पादन सम्बन्धों से संशोधन या परिवर्तन नहीं आता। बाजार के नियंत्रण, व सीमा शुल्क आदि में इतनी तेजी से परिवर्तन नहीं आता। औद्योगिक पूँजीवाद में उत्पादन शक्तियों और उत्पादन शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों में कभी-कभी गहरी खाई हो जाती है और यहीं पूँजीवाद की मृत्यु का संकेत है।

उत्पादन शक्तियाँ आदमी के प्रकृति के साथ सम्बन्धों को बताने वाली अवधारणा है। जिसे हम आज तकनीकी और वैज्ञानिक जानकारी कहते हैं, वही उत्पादन शक्तियाँ हैं। जब यूरोप में कृषि युग था और औद्योगिक क्रान्ति नहीं आयी थीं तब उत्पादन शक्तियाँ सामान्य थीं। औद्योगिक क्रान्ति ने भाप के आविष्कार को देखा और विशाल उत्पादन को बाजार में खड़ा कर दिया। ये उत्पादन शक्तियाँ समय दर समय अधिक विकसित और संशोधित होती गयी। उद्योग में आज स्वचालन आ गया है। इस संदर्भ में, प्रश्न है : क्या उत्पादन शक्तियों की त्वरित गति से बढ़ने वाली यह क्षमता कहीं रूक जायेगी?

उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में मार्क्स का एक तर्क है। उनका कहना है कि जब हम तात्कालिक आवश्कताओं की पूर्ति के लिये उत्पादन शक्तियों में वृद्धि करते हैं तब

एक और प्रक्रिया समानान्तर रूप से चलती है। यह प्रक्रिया नयी आवश्कता को पैदा करती है। और फिर नयी उत्पादन शक्तियाँ आती है। इससे और आगे आवश्यकताओं में वृद्धि और शक्तियों में विकास। यह चक्र चलता रहता है और दूसरी और उत्पादन शक्तियों और सम्बन्धों के बीच की खाई अधिक चौड़ी होती चली जाती है। इसी कारण उत्पादन शक्तियों की वृद्धि पूँजीवाद की मृत्यु का संकेत है।

अर्थशास्त्र के संदर्भ में उत्पादन शक्तियाँ—यदि हम उत्पादन शक्तियाँ की भूमिका को सैद्धान्तिक दृष्टि से देखो तो मार्क्स के बारे में हमें अधिक गहरी जानकारी प्राप्त होती है। यदि समाज विज्ञानों के विद्वान की परिपाटी में मार्क्स को कहीं रखना है तो उन्हें हीगेल का सीधा वारिस मानना चाहिए। हीगेल के आदर्शवाद और मार्क्स के भौतिकवाद में टकराव है, विरोध है फिर भी यह सभी स्वीकार करते हैं कि मार्क्स ने हीगले की विचार पद्धति को अपनाया है। हीगेल की तरह मार्क्स ने इस ऐतिहासिक दर्शन को अपनाया कि मनुष्य के विकास की प्रक्रिया इकहरी है। जिसका रुझान एक निश्चित लक्ष्य को प्राप्त करना है। मार्क्स की यह विचारधारा हीगेल से भिन्न होते हुए भी अपने लक्ष्य और चरित्र में समान है।

अपने युग के प्रत्येक विज्ञान उद्विकासियों ने इस तथ्य को प्रतिपादित किया कि मनुष्य का विकास एक सीधी रेखा की तरह ऊपर चढ़ता जाता है। विकास की रेखा के पिछले भाग से आगे वाले भाग में परिमाणत्मक वृद्धि होता है। उद्वविकासवादियों ने इस तथ्य को मार्क्स और हीगेल दोनो ंही अस्वीकार नहीं किया। इनका कहना है कि परिणाम के प्रत्येक दौर में विकास होने के अपेक्षा द्वन्द्व होता है। इस प्रक्रिया में मार्क्स का तर्क है कि विकास की वृद्धि निरन्तर तो बनी रहती है, लेकिन प्रत्येक स्तर पर द्वन्द्व होता है। इस प्रक्रिया में पिछला विकास समकालीन विकास के साथ टकराव करता है और यह टकराव, उत्पादन शक्तियों की वृद्धि के कारण होता हे।

अपने सिद्धान्त निर्माण में मार्क्स ने अर्थशास्त्र के क्लासिकल फ्रेमवर्क—से मुख्य अवधारणाएँ जी है लेकिन वे शास्त्र के इस क्लासिकल ढांचे से एकदम हटकर ऐतिहासिक सिद्धान्त पर आते हैं और कहते हैं कि विकास की परम्परा कुछ इस तरह चलती है कि इसका परिणाम पूँजीवादी व्यवस्था में होता है। यहाँ मार्क्स का बहुत बड़ा योगदान यह है कि वे यह स्थापित करने में सफल होते हैं कि इतिहास में उत्पादन शक्तियों के परिणाम स्वरूप विकास की सम्पूर्ण प्रक्रिया में द्वन्द्व पैदा हो जाता है।

क्लासिकल अर्थशास्त्रियों और कार्ल मार्क्स ने उत्पादन शक्तियों के सन्दर्भ में एक और बड़ा अन्तर है। क्लासिकल अर्थशास्त्री अपने सिद्धान्त का आधार अनुभाविकता मानते हैं। इस आधार पर मार्क्स कोई प्रश्न चिन्ह नहीं रखते। इसे वे स्वीकार करते हैं। लेकिन ये क्लासिकल अर्थशास्त्री जब अर्थव्यवस्था में उत्पादन, विनिमय, बाजार और उपभोग जैसे संस्थाओं की चर्चा करते हैं तो मार्क्स इन्हें नकारते हैं। मार्क्स का कहना है कि बाजार में उत्पादन इकाइयों की एकधिकता में प्रतियोगिता होती है। इस

तथ्य पर मार्क्स अधिक जोर देते हैं। यहाँ मार्क्स माल्थल के अधिक निकट हैं जब माल्थल यह कहते हैं कि "समाज में मालिक और श्रमिकों का श्रम विभाजन होता है।" इसका अभिप्राय हुआ उद्योग की बुनियादी व्यवस्था में अपने हितों को लेकर संघर्ष होता है यह संघर्ष पूँजीवादी उद्यम में होता है। माल्थल का संघर्ष मार्क्स का वर्ग संघर्ष है।

मार्क्स की उत्पादन शक्तियों की व्याख्या इस तरह तत्कालीन क्लासिकल आर्थिक विचारधार के सन्दर्भ में की जाय तो यह बहुत स्पष्ट हो जाता है कि मार्क्स के लिए सम्पत्ति का स्वामित्व और उत्पादन शक्तियों की भूमिका महत्वपूर्ण है। आर्थिक संगठन में उत्पादन शक्तियाँ इतनी ताकतवर होती है कि वे वर्ग संघर्ष को पैदा करती है। एक क्रान्तिकारी वर्ग संघर्ष को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहते है। यह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और उत्पादन शक्तियाँ इतिहास के प्रत्येक मोड़ पर देखी जा सकती है।

(3) उत्पादन सम्बन्ध—जब मार्क्स ऐतिहासिक भौतिकवाद को व्याख्या करते हैं तो वे इतिहास को उत्पादन के तरीकों के सन्दर्भ में देखते हैं उत्पादन के तरीकों का एक अंग, उत्पादन शक्तियों के अतिरिक्त उत्पादन सम्बन्ध है। उत्पादन सम्बन्ध केवल आर्थिक सम्बन्धों तक ही सीमित नहीं हैं वास्तव में आर्थिक सम्बन्धों सम्पूर्ण सामाजिक संरचना से जुड़े होते हैं। उत्पादन के तरीकों में यानी सामाजिक सम्बन्धों में भी परिलचित होता है। उत्पादन सम्बन्ध और सामाजिक संरचना के इस गठजोड़ की व्याख्या करते हुए मार्क्स लिखते हैं—

अपने जीवन के सामाजिक उत्पादन के क्षेत्र में व्यक्ति कुछ ऐसे निश्चित सम्बन्धों के साथ जुड़ता है तो उनके लिए अपरिहार्य हैं, ये सम्बन्ध स्वतन्त्र है और इन पर व्यक्ति की कोई मर्जी नहीं चलती। ये सम्बन्ध भौतिक उत्पादन के विकास की अवस्था में मेल खाते हैं उत्पादन के ये सभी सम्बन्ध मिल जुलकर आर्थिक संरचना को बनाते हैं जो कि समाज का वास्तविक आधार है

वास्तव में, उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादन शक्तियों के बीच में जो विरोध है वही इतिहास को आगे ले जाता है। जब मार्क्स उत्पादन शक्तियों की चर्चा करते है तो उनका तात्पर्य उत्पादन साधनों और श्रम शक्ति से होता है। जहाँ उत्पादन शक्तियाँ में मशीने और श्रम शक्ति में विकास और बदलाव आते हैं, वहाँ उत्पादन सम्बन्धों में मालिक और मजदूर के सम्बन्ध होते हैं।

उत्पादन सम्बन्धों का अर्थ

मार्क्स ने उत्पादन सम्बन्धों को पूँजीवादी व्यवस्था में देखा है। इस अवस्था में उत्पादन शक्तियों पर व्यक्तियों या कारपरेशन का मालिकाना स्वामित्व होता है। यहाँ बुर्जआ या पूँजीपति उत्पादन के साधनों का स्वामी होता है और सर्वहारा (Proletariat) केवल अपने श्रम का स्वामी होता है। लारेन्स हेरिस (Laurence Harris) ने उत्पादन सम्बन्धों की व्याख्या विस्तृत रूप में की है वे कहते हैं कि आर्थिक स्वामित्व कानूनी स्वामित्व से की व्याख्या विस्तृत रूप में है वे कहते हैं कि आर्थिक स्वामित्व कानूनी स्वामित्व से भिन्न है। जिसके

पास कानूनी स्वामित्व है यानी जो उत्पादन के साधनों का वास्तविक मालिक है, वहीं उत्पादन शक्तियों पर नियंत्रण रखता है। यदि कानूनी अर्थ में देखें तो मजदूर भी उत्पादन के साधनों का स्वामी है। इसलिये कि वह जो पगार वेतन लेता है, भविष्य निधि या पेंशन उठाता है वह कम्पनी के शेयर का एक अंग ही है। इस अर्थ में कामगार भी अप्रत्यक्ष रूप से उत्पादन के साधनों का मालिक हैं इस स्वामित्व के होते हुए भी कामगार उत्पादन शक्तियों पर नियंत्रण नहीं रखते। इनकी मर्जी से न तो कारखाना बन्द होता है और न खुलता है। कामगार कितना और कैसा उत्पादन होना चाहिये उसे भी निर्धारित नहीं करते। अत: वे कारखानो के अप्रत्यक्ष लेकिन कानूनी मालिक होकर भी नियंत्रण शक्ति अपने पास नहीं रखते।

मार्क्स की उत्पादन शक्तियों की व्याख्या बराबर विवादस्पद रही है। अपनी विचारधारा में मार्क्स ने इसे बराबर प्रस्तुत किया उदाहरण के लिए एक स्थान पर मार्क्स कहते हैं कि उत्पादन के तरीकों के साथ उत्पादन शक्तियाँ और उत्पादन सम्बन्ध मेल खाते हैं यह मेल उत्पादन सम्बन्धों और इसी तरह कानूनी, वैचारिक और अन्य सामाजिक सम्बन्धों का होता है। यह मेल तब तक बना रहता है जब उत्पादन शक्तियाँ, प्राथमिक होती है। इस प्राथमिक अवस्था में उत्पादन शक्तियाँ उत्पादन सम्बन्धों को निर्धारित करती है और इसी तरह ये शक्तियाँ अधिक रचना का भी सृजन करती है। ऐतिहासिक विकास में इस भाँति उत्पादन तरीके, उत्पादन शक्तियाँ में विकास होता है तो परिणामस्वरूप उत्पादन सम्बन्धों में विरोध आता है। इस विरोध के परिणामस्वरूप मौजूदा उत्पादन का तरीका टूट जाता है। और इसी तरह अधिसंरचना भी बिखर जाती है। इस संदर्भ में मार्क्स की ऐतिहासिक भौतिकवादी अवधारणा में उत्पादन सम्बन्धों की भूमिका निर्णायक है।

उत्पादन सम्बन्धों की मुख्य विशेषताएँ—इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा में मार्क्स इतिहास के विभिन्न युगों को उत्पादन तरीकों पर लिखा है, यदि उसे समग्र रूप में रखा जाय तो कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं, जो उत्पादन सम्बन्धों को केन्द्रीय स्थान प्रदान करती हैं। ये विशेषताऐं इस प्रकार हैं—

(1) **श्रम विभाजन**—इतिहास के जिस पड़ाव या मोड़; पर उत्पादन शक्तियों की वृद्धि के साथ उत्पादन सम्बन्ध बदलते हैं, तो समाजों में तुरन्त श्रम विभाजन प्रारम्भ हो जाता है। आदिवासियों को ही लें। , कुछ समय पहले तक सामाजिक मानवशास्त्री यह कहते रहे कि आदिवासी समाज में कोई गैर-बराबरी नहीं होती। लेकिन जैसे ही आदिवासियों में आधुनिकीकरण सामुदायिक विकास, संचार साधन, राजनीतिकरण का प्रार्दुभाव हुआ, उनमें गैर बराबरी आयी। यह गैर बराबरी श्रम विभाजन जैसे-जैसे समाज में उत्पादन सम्बन्ध जटिल होते हैं, उनमें गैर बराबरी श्रम विभजन जैसे। जैसे-जैसे समाज में उत्पादन सम्बन्ध जटिल होते है, वैसे-वैसे श्रम विभाजन भी जटिल होता जाता है। आज हमारे देश में गाँवों की तुलना में शहरों में श्रम विभाजन अधिक है। यह इसलिये कि शहरों में औद्योगिकीकरण, आधुनिकीकरण की प्रक्रियाएँ प्रारम्भ हो गई। ये इसलिये आये है कि इन शहरों में उत्पादन शक्तियाँ अधिकतम विकसित है। और इससे उत्पादन सम्बन्ध भी बहुमुखी हो गये हैं अत: जितनी उत्पादन शक्तियाँ बढ़ेगी, उत्पादन सम्बन्धों के आयाम भी बढ़ेगे और इस सबका

परिणाम श्रम विभाजन में देखने को मिलेगा ऐसे समाजों में सामाजिक संरचना (Social Formation) भौतिकवादी हो जाती है।

(2) **व्यक्तिगत सम्पत्ति और शोषण का उदगम**—औद्योगिक और पूँजीवादी समाज में मालिक तथा कामगार के बीच में यानी पूँजी और श्रम में दुराव आ जाता है, खाई पड़ जाती है। होता यह है कि जैसे-जैसे कामगार मेहनत करते हैं, उनका विभिन्न तरीकों से शोषण होता है। परिणामस्वरूप सम्पत्ति और व्यक्तिगत पूँजी में बृद्धि होती है। इस भांति उत्पादन सम्बन्धों पूँजीवाद के विकास और शोषण से जुड़ा है।

(3) **श्रमिकों में अलगाव**—पूँजीवाद के विकास के साथ कामगारों में यह सामाजिक चेतना आने लगती है और मजेदार बात यह है कि ज्यों-ज्यों पूँजीवाद बढ़ता है, सामाजिक चेतना भी तीव्र होती जाती है कि कारखानों में जो कुछ पैदा होता है उससे मालिक की पूँजी में वृद्धि होता है। कामगार तो बेचारा मंथरा की शब्दावली में ''चरि छोड़ि के होऊ रानी'' की स्थिति में बना रहता है। बहुत हुआ तो उसकी झोली में बोनस के रूप में कुछ धन ले आ जायेंगे। उत्पादन इतने सम्बन्ध दबावपूर्ण हो जाते हैं कि कामगार तो मात्र मालिक का दास बन जाता है। उसका श्रम तो केवल मालिक की व्यक्तिगत सम्पत्ति और लाभ की बढ़ाने में लग जाता है। वह मशीन के एक दांते की तरह हो जाता है जो चक्कर काटता रहता है। उत्पादन सम्बन्धों की तीव्रता कामगार में कारखाने के प्रति अलगाव पैदा कर देती है।

(4) **पूँजीवादी अवस्था**—अपनी सम्पूर्ण कृतियों में मार्क्स ने उत्पादन शक्तियों और उत्पादन सम्बन्ध की व्याख्या भौतिक दृष्टिकोण से रखी है। उनका विश्लेषण है कि समाज का विकास उद्विकास पद्धति से होता है। यह उत्पादन सम्बन्धों ही है जो उत्पादन शक्तियों के गठजोड़ से समाज को पूँजीवाद अवस्था तक पहुँचाते हैं।

(5) **उत्पादन सम्बन्धों के माध्यम से सामाजिक सांस्कृतिक अभिव्यक्ति**—मार्क्स के बारे में हमारी यह धारणा दोषपूर्ण होगी कि मार्क्स सामाजिक और सांस्कृतिक सम्बन्धों के बारे में कोई उल्लेख नहीं करते। वास्तविकता यह है कि मार्क्स ने विभिन्न कलाओं, भाषाओं लोक नृत्यों, लोक-साहित्य आदि की चर्चा की है। उनके सैद्धान्तिक परिवेश से कोई भाषा के बोलने और प्रयोग में लाने की क्षमता होती है, उसमें विचार करने शक्ति होती है और इससे आगे आदमी यह भी क्षमता रखता है कि अपने चतुर्दिक वातावरण खाना-पीना आदि ही नहीं एक तरह से सम्पूर्ण जीवन पद्धति ही उत्पादन सम्बन्धों के साथ देखिये कि सम्पूर्ण कला संसार, संगीत, नाटक, साहित्य और जीवन शैली बदल जाते हैं।

(6) **इतिहास में मोड़**—उत्पादन सम्बन्ध इतिहास को बनाते है, उसे नयी दिशा देते हैं। जब लोग सक्रिय होकर अपनी भौतिक दशाओं मे परिवर्तिन लाते हैं तो नये युग का संचार होता है। आज तीसरी दुनियाँ के देशों में जहाँ-जहाँ सिंचाई के बांध बड़े-बड़े कारखाने, संचार साधनों का जाल आवागमन, सुविधाए आदि तैयार किये हैं यानी भौतिक दशाओं में अन्तर किया है एक नया युग आया है। आधुनिक युग का। इससे आगे भी उन्नत देशों में जहाँ कम्प्यूटर विज्ञान का अन्य भौतिक क्षेत्रों में क्रान्तिकारी

परिवर्तन हुए हैं एक और युग आया है उत्तर आधुनिक युग (Post Modern Period) इस सम्बन्ध का मतलब हुआ, जब भौतिक स्थितियों की पुनः संरचना होती है, इतिहास में एक नया मोड़ आता है।

(7) **मनुष्य का उद्धार**—मार्क्स जब मनुष्य जीवन के सम्पूर्ण इतिहास को भौतिक सम्बन्धों की दृष्टि से देखते हैं तो उन्का केन्द्र बिन्दु आदमी या मनुष्य जाति होता है। इस संसार का एक मात्र सार मनुष्य है, और वह चाहे किसी देश का नागरिक हो, उसे शोषण से मुक्त करना है मुक्ति या उद्धार का यह लक्ष्य मार्क्स के सिद्धान्त का केन्द्रीय लक्ष्य है। वे चाहते थे कि मनुष्य शोषण से मुक्त होकर स्वतन्त्र जीवन बिताये।

मार्क्स सैद्धान्तिक संदर्भ में प्रत्यक्षवादी (Positivist) विचारक थे उन्होंने अपनी अध्ययन विधि का आधार इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा को बनाया। ऐतिहासिक भौतिकवाद में वे मुख्य रूप से उत्पादन पद्धतियों पर अपने सिद्धान्त को केन्द्रित करते हैं। अपने आकार, और विस्तार में उत्पादन पद्धतियों जो कि ऐतिहासिक भौतिकवाद की प्रमुख आधार हैं, दो प्रक्रियाओं को सम्मिलित करती है—

उत्पादन शक्तियाँ और उत्पादन सम्बन्ध मार्क्स का तर्क मानव जाति का इतिहास है, राजा-रानी, ठाकुर, जागीदार के इर्द-गिर्द नहीं धूमता। ऐसा इतिहास व्यक्ति और स्थान केन्द्रित है। उनका तो कहना है कि इतिहास का सम्पूर्ण उलट-फेर भौतिकवादी है। इतिहास की इसी अवधारणा को हमने आदिम साम्यवादी अवस्था से लेकर दास स्वामित्व, सामन्त, पूँजीवाद और समाजवाद के सन्दर्भ में अगले अध्याय में देखा है।

बदलती उत्पादन पद्धतियाँ : आदिम साम्यवाद से समाजवाद तक

इतिहास को भौतिकवादी अवधारणा इतिहास के परिवर्तन को उत्पादन पद्धति की दृष्टि से देखती है। वास्तविकता यह है कि एक युग में जो उत्पादन शक्तियाँ और उत्पादन सम्बन्ध होते हैं उनमें विरोध होना प्रारम्भ होता है। उसी स्थिति में एक छोटी-मोटी लड़ाई या क्रान्ति होती है और परिणामस्वरूप नये उत्पादन सम्बन्ध पैदा होते हैं। लोग यह सोचनें लगते हैं—उनमें एक तरह की वैचारिकी आती है कि किसी तरह यह संघर्ष होना चाहिये। जब यह नियंत्रण में होती है और तब इतिहास का दूसरा भौतिकवादी युग प्रारम्भ होता है। इस भाँति एक युग दूसरे युग से उत्पादन तरीकों से अर्थात उत्पादन शक्तियों और उत्पादन की दृष्टि से भिन्न होता है।

मार्क्स ने सम्पूर्ण यूरोप के इतिहास को उत्पादन के विभिन्न तरीकों के आधार पर बांटा है। भारत में जब परम्परागत इतिहासकार इतिहास को युगों में बांटते हैं तो कहते हैं शुरू में प्रागेतिहासिक युग था, फिर प्राचीन भारत, फिर मध्यकालीन भारत, इसके आगे ब्रिटिश भारत और तब स्वतन्त्र भारत। परम्परागत इतिहास का यह काल विभाजन राजाओं-महाराजाओं और नायकों के आधार पर है। मार्क्स तो इतिहास का इस तरह का अभिजनपरक विभाजन स्वीकार नहीं करते। उनका काल विभाजन युग परिवर्तत उत्पादन साधनों और उत्पादन शक्तियों के आधार पर होता है। जब एक युग में उत्पादन शक्तियों और सम्बन्धों में संघर्ष

होता है तो परिणामस्वरूप नया युग आता है। इस तरह उत्पादन के तरीकों के आधार पर मार्क्स ने इतिहास को पांच युगों में विभक्त किया है। जो निम्न प्रकार है—

(1) आदिम साम्यवादी अवस्था

(2) दास-स्वामित्व अवस्था

(3) सामन्तवादी अवस्था

(4) पूँजीवादी अवस्था

(5) समाजवादी अवस्था

इसकी अँतिम परिणिति अवस्था (Communism) है।

मार्क्स ने उत्पादन के तरीकों के आधार पर संसार के इतिहास की उपर्युक्त पांच श्रेणियों में रखा है। भौतिकवादी इतिहास की इस अवधारणा को एस. ए. डांगे ने भारतीय इतिहास पर अपनी पुस्तक इण्डिया प्रिमिटिव कम्युनिजम टू स्लेवरी (India from Primitive communism to Salvery] 1972) में व्याख्यात्मक रूप के एक युग से दूसरे युग के सूत्रपात के लिये भौतिकवादी युग को यानी आदिम समुदायी युग को देखते हैं तो ज्ञात होता है। कि कम से कम हमारे देश में (1) समाज में कोई युग वर्ग नहीं थे, (2) किसी के पास व्यक्तित्व सम्पत्ति नहीं थी, (3) कहीं भी समाज में वर्ग संघर्ष नहीं था, (4) कोई भी गरीब अमीर नहीं था इससे आगे, (5) कोई राज्य नहीं था।

जैसे ही इस युग में उत्पादन के साधनों के विकास हुआ, व्यक्तिगत सम्पत्ति आयी, वर्ग बनेंगे, तब इन वर्गो के बीच मे संघर्ष हुआ। यह दास युग की कहानी है। इसी कारण मार्क्स कहते हैं कि अब तक के सभी समाजों का इतिहास वस्तुत: वर्ग संघर्ष का इतिहास है। दास युग के बाद समान्तवादी और पूँजीवादी युग आये इन दोनों युगों में उत्पादन शक्तियों का अधिकतम विकास हुआ, सामाजिक सम्बन्ध जटिल हुए और पूँजी का संचय बढ़ा। पूँजीवाद के बाद मार्क्स अपने सिद्धान्त के तर्क को आगे बढ़ाते हैं और कहते हैं कि इस युग में भी उत्पादन के तरीकों में आशातीत परिवर्तन आयेगा और फिर क्रान्ति होगी।

इस द्वन्द्व के परिणामस्वरूप समाजवाद आयेगा। समाजवादी युग में मनुष्य अपने भाग्य का पूरी तरह से मालिक बन जायेगा। इतिहास एक प्रकार से अन्धा हो जायेगा, अपनी आँखें मूँद लेगा और वर्ग तथा राज्य हमेशा के लिये खत्म हो जायेगा।

आदिम समुदायी युग के बाद उत्पादन के तरीकों के संदर्भ में भारत में दास-स्वामित्व युग आता है, इस युग में डॉगे वर्णाश्रम व्यवस्था अर्थात वैदिक युग के बाद से मानते हैं। वर्णाश्रम व्यवस्था में व्यक्तिगत सम्पत्ति का उदगम हो चुका था। इतिहास के इस युग में जो सभी राज्य थे, वे दास-स्वामित्व के राज्य थे। इस युग के बाद जैसा कि रामशरण शर्मा अपने पुस्तक इण्डियन फ्युडेलिजम (Indian Feudalism, A. D. 300-1200) में कहते हैं, सामन्तवादी युग आया। रामशरण शर्मा इस युग का प्रारम्भ उत्तर मौर्यकाल और करके गुप्त काल में मानते हैं। इसी सामन्ती युग में आगे चलकर दिल्ली सल्तनत और मुगल काल आये। और फिर उपनिवेशवाद और देशी रियायतों की सामन्तवादी व्यवस्था रहीं। इस युग

में मध्य में ही अर्थात् 19 वीं शताब्दी के प्रारम्भ से उत्पादन शक्तियों में अत्यधिक विकास हुआ। इस प्रक्रिया ने पूँजीवाद को अधिक सशक्त किया। यहाँ आकर डाँग कहते हैं कि पूँजीवाद और कामगारों में अंतिम लड़ाई होगी और तब समाजवादी युग का सूत्रपात होगा।

वर्ग और वर्ग संघर्ष

मार्क्स ने अपने समाजवाद में अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र पर जो कुछ लिखा है, उसका सम्पूर्ण संदर्भ वर्ग व्यवस्था के विश्लेषण पर आधारित है। यदि सरसरी निगाह से देखें तो पूँजीवादी समाज में भरण-पोषण के कुछ निश्चित स्रोत हैं। मजदूर और कामगार बाजार में अपना श्रम बेचते हैं इसके बदले में उन्हें पगार या वेतन मिलता है। भरण-पोषण का एक और स्त्रोत है। कुछ लोग पूँजी के मालिक हैं उनके निजी कल-कारखाने है, व्यापार उद्योग है - भूमि की मिल्कियत। यदि हम इन तीनों स्त्रोतों का विश्लेषण करें तो ये हैं पगार, मुनाफाखोरी और भूमि कर समाज के ये तीन वर्ग श्रमिक, पूँजीपति और भू स्वामी आम लोगों के लिये सामान्य बात है।

प्रश्न उठता है वर्ग कैसे बनते हैं ? इसके उत्तर में यही करना होगा कि किसी भी वर्ग की पहचान या भरण-पोषण के स्त्रोत उनकी आमदनी है। किसी भी समाज के सदस्य या तो अपने पगार या दिहाड़ी से जीवन यापन करते हैं या अपने पास जो सम्पत्ति है उसके मुनाफे से मौज-मजों और जीवन की निरन्तरता बनाये रखते हैं, या ऐसे लोग है जिनके पास भू सम्पत्ति (Landed Property) और इसी से उन्हें जो आय होती है, उससे वे अपना भरण-पोषण करते हैं। तो हमनें देखा कि वर्ग के निर्माण में आदमी को आमदनी महत्वपूर्ण है। यह आमदनी ही वर्ग निर्माण की केन्द्रीय धुरी है।

रेमण्ड एरॉ (Raymond Aron) ने मार्क्स की एक विचारक की तरह अपनी पुस्तक मेन करेन्टस इन सोशियोलोजिकल थॉट (Main Currenrts in Sociological Thought) में व्याख्या की है कि मार्क्स का समाजशास्त्र वास्तव में वर्ग संघर्ष का समाजशास्त्र है। उनकी इतिहास की अवधारणा मे वर्ग संघर्ष का प्रस्ताव केन्द्रीय प्रस्ताव है। वे मौलिक अवधारणा हे। वे कहते हैं कि आधुनिक समाज की अवधारणा प्रतिरोधी (Antagoistic) अवधारणा है। इतिहास के विशाल नाटक के मुख्य किरदार जाति है। कहना चाहिये कि वर्ग संघर्ष वह जानदार शक्ति है जो इतिहास के पहियों को पूरी ताकत से आगे धकेलती है। धकेलना पूँजीवाद समाज को क्रान्ति की ओर ले जाता है और इसकी परिणिति एक ऐसे समाज में होती है जहाँ न तो प्रतिरोध होता है, न अन्तर्विरोध, न वर्ग और न राज्य।

रेमण्ड एरॉ वर्ग और संघर्ष की प्रासंगिकता की गहराई से देखते हैं वास्तव में उन्हें वर्ग की धारणा बुर्जआ समाजों की संरचना से मिली और यह भी विशेष करके फ्रांस के समाज से। एरॉ ने मार्क्स की वर्ग की अवधारणा के तीन मुख्य प्रस्ताव (Proppsitions) रखे हैं—

(1) वर्गो का अस्तित्व उत्पादन पद्धतियों के विकास के साथ इतिहास की विविध दशाओं के साथ जुड़ा है। यानि वर्ग उत्पादन के विकास के साथ बनते हैं।

(2) वर्ग संघर्ष अनिवार्य रूप से सर्वहारा को अधिनायकवाद की ओर ले जाता है।

(3) यह अधिनायकवाद जो कि केवल संक्रमण काल होता है, वर्गो का उन्मूलन करता है और वर्गहीन समाज की स्थापना की ओर ले जाता है।

उपर्युक्त तीन प्रस्ताव जिन्हें एरॉ ने रखा है, मार्क्स के सोच या उनकी समझ में केन्द्रीय हैं। यहाँ बुनियादी प्रश्न उठता है—सामाजिक वर्ग किसे कहते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर की खोज हम अगले पृष्ठों मे करते हैं।

NOTES

वर्ग संघर्ष किसे कहते हैं ?

सामान्यत: उत्पादन साधनों पर निजी स्वामित्व पर आधारित उत्पादन सम्बन्धों वाली संरचनाओं में वर्ग और वर्ग सम्बन्ध सामाजिक संरचना के मुख्य तत्व होते हैं। लेकिन ने अपनी कृति महान सूत्रपात में वर्ग की निम्न परिभाषा दी है—

वर्ग लोगों के बड़े-बड़े ग्रुपों को कहते हैं, जो सामाजिक उत्पादन की इतिहास द्वारा निर्धारित पद्धति में अपने स्थान की दृष्टि से, उत्पादन साधनों के प्रति अपने सम्बन्धों से श्रम के सामाजिक संगठन में अपनी भूमिका की दृष्टि से और फलस्वरूप सामाजिक सम्पदा के उस भाग की, जो उनके पास रहता है, प्राप्ति की विधि तथा आकार की दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न होते हैं।

वस्तुत: वर्ग की मुख्य विशेषता आर्थिक है। लेकिन वर्ग भेद राजनीति, दैनिक जीवन, विचार धारा आदि क्षेत्रों में भी देखने को मिलता है। प्रत्येक वर्ग अपनी राजनीतिक चेतना, नैतिकता आदि रखता है, लेकिन अंतिम विश्लेषण में वर्ग की विशेषताएँ आर्थिक तथ्यों द्वारा निर्धारित होती है, जो सबसे महत्वपूर्ण हैं। अत: उत्पादन साधनों के प्रति लोगों का सम्बन्ध अपने आप में प्रधान वर्ग विशिष्टता है और यह सब दूसरी विशिष्टताओं को निर्धारित करता है। इस बात को सभी मार्क्सवादी मानते हैं कि वर्गों में भेद सर्वप्रथम साधनों के प्रति सम्बन्धों में भिन्नता की वजह से होती है।

आर्थिक साधनों के मालिकाना अधिकार के कारण ही वर्ग दास-स्वामित्व बनते हैं। उदाहरण के लिये दास-स्वामित्व वाले समाज में दास और दास-स्वामी, सामन्तवाद में किसान और सामन्त तथा पूँजीवाद में सर्वहार वर्ग और बुर्जआ वर्ग प्रतिरोधी वर्ग है। इन वर्गो के अतिरिक्त कुछ और मुख्य वर्ग भी होते हैं, जैसे स्वतंत्र दस्तकार बुद्धिमानी लोग, पुरोहित आदि बुर्जआ वर्ग में टटपुँजिया वर्ग और इजारेदार वर्ग आदि आते हैं।

स्वयं मार्क्स ने वर्ग पर अपनी कृतियों में थोड़ा बहुत अवश्य लिखा है। वर्ग पर उनका एक परिच्छेद कैपिटल के अंतिम पृष्ठ पर मिलता है जिससे सभी मार्क्सवादी परिचित है। कपिटल मार्क्स की एक सम्मानित और बहुचर्चित वैज्ञानिक कृति है। इसमें दी गई की परिभाषा को हम यहाँ देते हैं—

जब लाखों परिवार ऐसी आर्थिक दशा में जीवन यापन करते हैं तो उन्हें उनकी जीवन पद्धति उनके हित और उनकी संस्कृति से, अन्य वर्गो से विमुख कर देती है, और उन्हें शत्रुतापूर्ण विरोधी खेमें में खड़ा कर देती हैं, वर्ग कहलाती हे।

मार्क्स और एंजिल्स ने जर्मन आइडियोलोजी (German Ideology, 1945) में भी एक स्थान पर वर्ग की व्याख्या की है। उनकी यह निश्चित धारणा है कि पूँजीवादी समाज की बहुत

बड़ी विशेषता वर्ग है। यहाँ मार्क्स ने वर्ग का विस्तृत खुलासा किया है। एक ही धन्धे को करने वाले लोग जिनकी आर्थिक व्यवस्था और काम की दशाएँ और इसी तरह शोषण के तरीके समान होते हैं, वर्ग नहीं बनाते। वर्ग के लिये बहुत बड़ी अनिवार्यता वर्ग चेतना और वर्ग संगठन हैं। काम की दशाएँ कितनी ही अमानवीय हों, मजदूर का जीवन कितना ही नारकीय हो, लेकिन जब तक उसमें यह चेतना नहीं आयी कि इस त्रासदी में वह अकेला ही नहीं है, उसके गाँव और कस्बे के लोग ही नहीं हैं, प्रान्त और देश के अन्य कामगार ही नहीं हैं वरन् सारी दुनिया के मजदूरों की चाहे वे किसी भी देश के हों, यही हालत है, तब तक वे वर्ग नहीं बनते। अत: वर्ग चेतना और वर्ग संगठन दो ऐसे खंभे हैं जिन पर वर्ग का ढांचा खड़ा हुआ है।

इस पुस्तक में मार्क्स और एंजिल्स ने दी नयी अवधारणायें रखी है; अपने आप में वर्ग-क्लास इन इट सेल्फ (Class in Itself) और अपने लिये वर्ग क्लास फार इट सेल्फ जब एक धन्धे मे काम करने वाले लोग संगठित हो जाते हैं तो उनमें यह चेतना आ जाती हे कि हम एक ही पेशे में है तो इस तरह का समूह अपने आप में वर्ग है - क्लास इन इट सेल्फ। दूसरी और धन्धों में फेर-फार हो सकता है। लेकिन उनमें काम करने वाले व्यक्तियों की हैसियत सामान्य कामगार की होती है और वे इस सामान्यता के आधार पर चेतना और संगठन बना लेते हैं तो यह अपने लिए वर्ग हैं - क्लास फॉर इट सेल्फ।

मार्क्स ने वर्ग के इन आधारभूति तत्वों की वर्ग चेतना और वर्ग संगठन की अनिवार्य भूमिका पर यह टिप्पणी रखी है—

आम जनता का एक समूह जहाँ तक पूँजीवादी सम्बन्धों का सरोकार है, एक पृथक वर्ग है। लेकिन यह अब भी अपने आप में वर्ग नहीं है। जब यह वर्ग संगठित हो जाता है, इसमें पारस्परिकता आ जाती है तब यह अपने आप में वर्ग बन जाता है। इससे आगे एक दूसरी और ऐसी अवस्था आती है जब वर्ग अपने वर्ग के सभी लोगों के लिये संगठित हो जाता है वर्ग बन जता है। इसका अर्थ होता है— दुनिया भर के मजदूर भाई-भाई।

उत्तवर्ती मार्क्सवादियों ने मार्क्स की अपने आप में वर्ग तथा वर्ग के लिए वर्ग की अवधारणाओं को स्वीकार नहीं किया है। इनका आग्रह यह है कि किसी भी वर्ग के बनने के लिये वर्ग चेतना का होना आवश्यक है। इस अस्वीकृति के होते हुए भी वर्ग सम्बन्ध में कुछ बात स्पष्ट हैं—क (1) वर्ग का सम्बन्ध उत्पादन साधनों, उनके सम्बन्धों और शक्तियों में जुड़ा हुआ हैं, (2) किसी भी वर्ग के लिए यह वर्ग चेतना आवश्यक है। कि हमारे काम की दशाएँ दिहाड़ी या पगार और शोषण एक समान है, (3) वर्ग तभी बनता है। जब वह दूसरे वर्गों को अपना दुश्मन समझता है। वर्ग निर्माण का आधार ही प्रतिरोध (Antagonism) है, (4) वर्गो की व्याख्या हर तरह के इतिहास की विभिन्न अवस्थाओं से जुड़ी हुई है।

वर्ग चेतना

समाजशास्त्र की एक विशिष्ट शाखा है जो ज्ञान मीमांसा (Epistemology) के नाम से जानी जाती है। ज्ञान मीमांसा के प्रणेताओं में हीगेल, मार्क्स और कार्ल मेनहीम का योगदान

महत्वपूर्ण समझा जाता है। इन विचारकों का तर्क है कि आदमी में जो कुछ भी ज्ञान है, वह उन भौतिक परिस्थितियों की उपज है जिनमें वह अपना जीवन यापन करता है। यह ठीक है कि ज्ञान पुस्तकालय की अगणित पुस्तकों में, शब्द कोषों में इतिहास और विज्ञान के अगणित ग्रन्थों में भरा पड़ा है, यह ज्ञान का खजाना है। किन्तु यह निरन्तर नहीं है, यदि हम इसमें आये दिन नयी खोजों अविष्कारों, निर्वाचनों और आनुभविकता से नये ज्ञान का योगदान नहीं करते। अतः ज्ञान का भण्डार तो अनुभविकता की प्रकृतियों में ही भरता और समृद्ध होता है। यूनेस्कों (Unesco) के एक अनुमान के अनुसार तकनीकी ज्ञान सात वर्ष से दोगुना हो जाता है। और समाजविज्ञान द्वारा अर्जित ज्ञान दस वर्ष में दुगना हो जाता है। ज्ञान की उपज में मार्क्स का समाजविज्ञान द्वारा अर्जित ज्ञान दस वर्ष में दुगना हो जाता है। ज्ञान की उपज में मार्क्स का उत्पादन सम्बन्धों का ऐतिहासिक विश्लेषण यह स्पष्ट है कि कामगार या पूँजीपति की उत्पादन सम्बन्धों के प्रति जो प्रतिक्रिया होती है वही नवीन ज्ञान पैदा करती है। जैसी उत्पादन शक्तियाँ और उत्पादन सम्बन्ध होंगे, उन्हीं के अनुवर्ती इन वर्गी का ज्ञान भी होगा।

मार्क्स की अवधारणा का खण्डन बेवलिन (Vebin) ने किया है। उनका मत है कि व्यक्ति का ज्ञान उन वर्गों के बारे में भी होता है, जिनका वह सदस्य नहीं है। बेवलिन ने एक आर्थिक थीसिस दिया; आदमी जितनी अधिक महंगी वस्तु खरीदेगा (इस बात की चिन्ता किये बिना कि यह वस्तु कितनी उपयोगी है) उतनी ही उसकी समाज में प्रतिष्ठा बढ़ेगी। वेबलिन का दृष्टतान्त है कि कारखाने का मजदूर जब मलमल का कुर्ता पहनता है तो वह यह जानता है कि मिल की खादी की तुलना में यह कुर्ता कम चलेगा। वह यह भी जानता है कि उसके कामगार वर्ग के लोग मिल की खादी की कपड़ा पहनते हैं फिर भी यदि वह मलमल का कपड़ा लेता है तो मजदूरों में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ जाती है। उसकी यह प्रयास निम्न मध्यम वर्ग की ओर बढ़ने का प्रयास है। ज्ञान मीमांसा की इस तरह की आलोचनाएँ बहुत हुई हैं, फिर भी मार्क्स का यह योगदान है कि व्यक्ति की सामाजिक चेतना उस वर्ग से पैदा होती है। जिसका वह सदस्य है।

यद्यपि मार्क्स ने हीगेल को उसके पाँवों के बल पर खड़ा कर दिया, फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि मार्क्स ने अपने सभी सिद्धान्तों में मुक्त हस्त से हीगेल से उधार लिया है। हीगेल ने भी सामाजिक चेतना का चर्चा की है। उनका तर्क है कि आदमी में चेतना उसकी वैचारिकी के अनुसार आती है। मार्क्स ने इसे नकारा है। उनका थीसिस है कि आदमी की चेतना उसकी भौतिक वस्तुओं यानी उत्पादन पद्धतियों और उत्पादन शक्तियों के सम्बन्धों के अनुसार होती है। दोनों में अन्तर यह है कि हीगेल चेतना का आधार वैचारिकी को मानते हैं और मार्क्स चेतना का आधार उत्पादन पद्धतियों से जोड़ते हैं। हीगेल चेतना का आधार वैचारिकी को मानते हैं और मार्क्स चेतना का आधार उत्पादन पद्धतियों से जोड़ते हैं।

वर्ग चेतना की विशेषताएँ

मार्क्स के अनुसार सत्तारूढ़ वर्ग के जो विचार होते हैं, वे ही विचार सम्पूर्ण युग में प्रभावशाली होते हैं। उदाहरण के लिये यदि राजस्थान मे ऐसे राजा हुए जो शिव के उपासक

थे, जिन्होंने जगह-जगह शिव मन्दिर बनवाये, विभिन्न प्रकार के शिव की पूजा के महोत्सव आयोजित किये, तो उनका प्रजा के लिये भी शिव को उपासनी अनुकरणीय हो गयी। मार्क्स कहते हैं कि जो वर्ग, और इस अर्थ मे पूँजीपति सत्ता में है तो उनकी सम्पूर्ण वैचारिकी समाज पर छा जायेगी, प्रभावपूर्ण हो जायेगी। यहाँ हम सामाजिक चेतना की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताओं को प्रस्तुत करेंगे।

(1) **झूठी चेतना**—मार्क्स का मत है कि सामान्यतया सत्तारूढ़ वर्ग की चेतना सामान्य जन की चेतना भी हो जाती है। होता यह है कि सत्तारूढ़ दल जिस दृष्टि से समाज की वास्तविकता को देखता है, इस वास्तविकता से पैदा हुई चेतना नहीं है। मार्क्स की व्याख्या में यह थोपी हुई और एक तरह से झूठी चेतना है। कालान्तर में कामगार वर्ग यह समझने लगता है कि सत्तारूढ़ वर्ग ने वास्तविकता के प्रति जो चेतना पैदा की है वह उनके वर्ग हितों के लिये नहीं है, और फिर झूठी चेतना का स्थान सही वर्ग चेतना को मिल जाता है।

(2) **सर्वहारा में वर्ग चेतना का उदय राजनैतिक दलों से हैं**—मार्क्स ने सबसे पहली बार वर्ग चेतना का उदय राजनैतिक संघर्ष में देखा। उस जमाने में फ्रान्स में छोटी जोत के किसानों ने सरकार के विरोध में संगठित आन्दोलन किया। उन्होंने पाया कि जहाँ एक ओर किसान में वर्ग चेतना का उदय हुआ, वहीं राजवंशों में भी किसानों को दबावे के लिये संगठित होने की चेतना आयी। धीरे-धीरे राजनीतिक लड़ाई से उत्पन्न हुयी यह चेतना अंश लड़ाइयों के लिए भी सर्वहारा में आई। अब बड़े-बड़े कारखानों में और उद्योगों में मजबूर संगठित होकर मालिक के विरुद्ध लड़ने लगे। मालिक और कामगारों की इस लड़ाई ने कामगारों में यह चेतना पैदा की कि उनका हित मालिक के खिलाफ लड़ने में ही है। इस भाँति अपने सामान्य हितों की पूर्ति के मजदूर वर्ग में जो चेतना आई उसी को वर्ग चेतना कहते है। यहाँ यह भी कहना चाहिए कि वर्ग चेतना की रचना की प्रक्रिया बराबर वर्ग संगठन से जुड़ी है। सर्वहारा जितने अधिक संगठित होंगे, जितनी अधिक उनमें एकता होगी उतनी ही तीव्र उनमें सामाजिक चेतना भी होगी।

(3) **वर्ग की वस्तुगत स्थिति व्यक्तिगत चेतना को पैदा करती है**—मार्क्स ने अपने रचना काल के प्रारम्भ से ही सामाजिक चेतना को वस्तुगत (objective) स्थिति के साथ जोड़ा है। वर्ग चेतना कोई ऐसी चेतना नहीं है जो रातों-रात पैदा हो जाती है। इसकी उत्पत्ति की भी एक लम्बी प्रक्रिया है। कामगार वस्तुगत स्थिति में अपने सम्पूर्ण जीवन को गुजारता है। वह मिल की पारियों में कभी रात तो कभी दिन खटता है। उसके लिए जीवन-यापन दूभर हो जाता है। काम की दशाएँ भी उसे सन्तोषजनक नहीं लगती कभी मशीन खराब तो कभी वह मशीन वांछित उत्पादन न होने पर मालिक का बराबर दबाव है, सोच विकसित होती है कि कारखाने का मालिक अपने उत्पादन की बढ़ोत्तरी औ मुनाफे को ही देखता है और उसे (कामगार को) भेड़ियों के बीच में छोड़ दिया है। अब उसमें व्यक्तिगत चेतना (Subjective Consciousness) आती हे। ऐसी ही दशा में काम करने वाले उसके सभी कारगारों में भी व्यक्तिगत चेतना आती है। थोड़ी अवधि गुजर जाने के बाद

यह व्यक्तिगत चेतना, सामूहिक चेतना (Collevtive Consciousness) में बदल जाती है। इस तरह वस्तुगत चेतना, व्यक्तिगत चेतना में बदलती है। और यह व्यक्तिगत चेतना वर्ग चेतना का रूप लेती है।

(4) **अपने-अपने में वर्ग, वर्ग के लिए वर्ग बन जाता है**—जब तक सामाजिक चेतना का घेरा एक निश्चित वर्ग और स्थानीयता तक सीमित होगा, यह अपने आप में वर्ग की स्थिति है। लेकिन जब यह वर्ग विशेष की चेतना अन्य समान वर्गो तक पहुँच जाती है। तो यह वर्ग के लिए वर्ग की चेतना है। वास्तविकता यह है कि उत्पादन प्रक्रिया में व्यक्ति को जो स्थान या दर्जा होता है— फोरमेन, कुशल, अकुशल, मजदूर इसी दर्जे से उसकी वर्ग चेतना पैदा होती हे।

(5) **व्यक्तियों के सोच की जोड़ और औसत, सामाजिक चेतना नहीं है**—यह कहना अनुचित होगा कि सामाजिक चेतना वर्ग के सभी व्यक्तियों की औसत या सम्पूर्ण चेतना है। सामाजिक वास्तविकता समाज के श्रम विभाजन में देखने को मिलती है। इस वास्तविकता को वर्ग विशेष का व्यक्ति अपने निजी दृष्टिकोण से देखता है। इस तरह के निजी दृष्टिकोण जो वर्ग सदस्यों में होते हैं। व्यक्तियों की औसत वर्ग चेतना की नहीं बनाते। मार्क्स ने कालान्तर में यह आग्रह पूर्वक कहा है कि सामाजिक दूसरे वर्ग को अपना दुश्मन समझते हैं तो लम्बे समय में जाकर उत्पादन सम्बन्धों के बारे में एक निश्चित धारणा बन जाती है अत: व्यक्तियों की सामाजिक चेतना जो उनके वर्ग के बारे में है, निजी चेतना नहीं है। न ही यह सभी चेतनाओं का सामूहिक स्वरूप है। वर्ग की चेतना ही व्यक्ति की चेतना बन जाती हे।

(6) **भू-सम्पत्ति को मिल्कियत वंशनुगत होती है, जबकि वर्ग चेतना उत्पादन प्रक्रिया से सम्बद्ध है**—मार्क्स ने वर्ग चेतना और जागीर चेतना में एक बुनियादी अंतर किया है। पिछली शाताब्दियों में जब यूरोप में सामंतवाद था, तब रियासत के लोगों में वर्ग चेतना जैसी कोई बात नहीं थीं। इसके दृष्टान्त मार्क्स ने फ्रांस में पाये। हमारे देश में भी जमींदारी और जागीदारी थी। उस व्यवस्था में जागीरदार परम्परागत था जागीरदार की मृत्यु के बाद उसका बड़ा लड़का जागीदार बनता था। मतलब वह, जागीदार का स्थान वंशानुगत था। इसलिये इस व्यवस्था में वर्ग चेतना का अभाव था इधर पूँजीवादी व्यवस्था में किसी वर्ग के व्यक्ति का जो स्थान है यानी वह बुर्जआ वर्ग का है। या सर्वहारा का, वंशानुगत नहीं है। यह सामान्य बात है कि मध्यम वर्ग का व्यक्ति उच्च वर्ग का सदस्य बन सकता है और कल उच्च वर्ग का व्यक्ति धन्धे में भारी घाटा आने पर दीवालियेपन के कगार पर आ सकता है। अत: वस्तुस्थिति यह है कि व्यक्ति जिस वर्ग का सदस्य है, उस वर्ग की उत्पादन पद्धतियाँ अर्थात् वर्ग में काम करने की दशाएँ वेतन आदि उसकी सामाजिक चेतना को बताते हैं।

वर्ग वाद समाज में कामगार से लेकर पूँजीपति तक की सामाजिक चेतना हर स्थिति में अपने वर्ग की चेतना होती हैं। जिसे हम सामाजिक चेतना कहते हैं वस्तुत: वह वर्ग चेतना है। जब किसी वर्ग का व्यक्ति समाज की अधिरचना साहित्य, कला, धर्म परम्परा आदि को देखता है तो उसकी प्रतिक्रिया उत्पादन सम्बन्धों द्वारा निर्धारित होता है। आज तक टेलीविजन या संचार माध्यमों में उपभोग की वस्तुओं का विज्ञापन होता है तो इन वस्तुओं के प्रति दर्शकों

की जो प्रतिक्रिया होती है। वह वर्ग जनित होती है, उदाहरण के लिए मध्यम वर्ग का व्यक्ति रंगीन टी. वी. या रसोईघर के प्रसाधनों के प्रति आर्कषक होता है जबकि मिल का कामगार इन वस्तुओं को केवल पूँजीपति वर्ग के चोंचले मानता है। वर्ग चेतना, इस तरह समाज की भौतिक और अधिरचना को अपने वर्ग के सन्दर्भ में ही रखता है।

वर्ग चेतना के साथ ज्ञान मीमांसा जुड़ी हुयी है। व्यक्ति का जो कुछ ज्ञान है, मार्क्स का तर्क है उसकी उत्पत्ति उसके किसी वर्ग में अस्तित्व के कारण है। दिलचस्प बात यह है कि जब एक वर्ग के सदस्य का दूसरे वर्ग में परिवर्तित होता है। तो उसका ज्ञान भी वर्ग जनित हो जाता है। वर्ग के विश्लेषण में ज्ञान मीमांसा की कई आलोचनाएँ हुयी हैं। फिर भी ज्ञान मीमांसा के बौद्धिक क्षेत्र में कार्ल मार्क्स का स्थान अविस्मरणीय है।

वर्ग संघर्ष

वर्गो की उत्पत्ति के साथ ही वर्ग संघर्ष भी शुरू हो गया। इतिहास दिखलाता है कि सभी बैर भाव पूर्ण समाजों में वर्ग संघर्ष हुये हैं मार्क्स और एंजिल्स ने कम्युनिस्ट मेनीफेस्टों में लिखा है—

अब तक आर्विभूत और बैर-भाव पूर्ण समाजों का इतिहास वर्ग सघर्ष का इतिहास रहा है। स्वतंत्र मनुष्य और दास, पेट्रीशियन और प्लेवियन, सामन्त और भू-दास, शिल्प संघ का उस्ताद और कारीगर और मजदूर तथा कारीगर संक्षेप में, शीर्षक और शोषित बराबर एक-दूसरे का विरोध करते आये हैं। कभी छिपकर और कभी प्रकट रूप से लगातार एक दूसरे से लड़ते रहें हैं इस लड़ाई का अंत हर बार या तो पूरे समाज के क्रातिकारी पुनर्गठन में या संघर्षरत दोनों ही वर्गो की बरबादी में हुआ है।

तात्विक रूप से वर्ग संघर्ष का स्त्रोत वर्ग हितों का प्रतिरोध हैं। जो एक वर्ग का हेतु है वह दूसरे वर्ग का प्रतिरोध है। पूँजीवादी समाज में मजदूर और पूँजीपति के हित एक-दूसरे के विपरीत होते हैं। एक वर्ग के रूप में बुर्जआ वर्ग शोषण बढ़ाने पूँजीवाद प्रणाली को बनाए रखने और अपने आर्थिक तथा राजनीतिक प्रभुत्व सुदृढ़ करने में दिलचस्पी रखता है। दूसरी और मजदूर वर्ग पूँजीवादी व्यवस्था में अपनी वस्तुगत स्थिति के कारण शोषण का उन्मूलन करने, निजी स्वामित्व और उस पर आधारित सामाजिक उत्पीड़न का खात्मा करने तथा शोषक राज्य को नष्ट करने में दिलचस्पी रखता है।

मार्क्स और एंजिल्स ने सिद्ध किया कि वर्ग संघर्ष बैर भावपूर्ण संरचनाओं में सामाजिक विकास की प्रेरक शक्ति है। सामाजिक विकास की एक निश्चित अवस्था में वर्ग संघर्ष अनिवार्य रूप से सामाजिक क्रांति की ओर ले जाता है। वर्ग संघर्ष की चरम अभिव्यक्ति स्वयं क्रांति है। जब क्रांतिकारी वर्ग राजनीतिक सत्ता अपने हाथों में ले लेता है तब उसका प्रयास सामाजिक सम्बन्धों में आमूलचूल परिवर्तन लाने के लिए होता है। क्रान्तिकारी वर्ग के लिये संघर्ष ही एक मात्र वह साधन है जिसकी सहायता से सामाजिक विकास के तात्कालिक कार्य पूरे किये जाते हैं।

पूँजीवाद समाज गहनतम सामाजिक गैर-बराबरी और प्रतिरोध का समाज है। पूँजीवादी के विकास के साथ समाज में बुर्जआ और सर्वहारा वर्गो में अधिकाधिक ध्रुवीकरण होता है। पूर्ववर्ती संरचनाओं में वर्ग संघर्ष की तुलना में सर्वहारा वर्ग का संघर्ष अधिक संगठित और विकसित हो जाता है।

ऐतिहासिक रूप से वर्ग संघर्ष का पहला रूप सर्वहारा वर्ग के आर्थिक हितों की रक्षा करना है। सामान्य रूप सर्वहारा के आर्थिक हित दिहाड़ी में वृद्धि, काम की अनुकूल दशाएँ, छँटनी, बेरोजगारी के विरुद्ध संघर्ष आदि में निहित है। इसी संघर्ष के दोहान श्रमिक संगठन पैदा होता है। आर्थिक संघर्ष अपना विशेष महत्व रखता है। उसके सकारात्मक परिणाम असंदिग्ध होते हैं फिर भी, वह मूल प्रश्नों को नहीं हल कर सकता। मजदूर वर्ग चेतना में तेजी आती है।

वर्ग संघर्ष राजनैतिक संघर्ष को भी बढ़ावा देता है। मजदूर वर्ग अपने राजनैतिक हितों की रक्षा के लिये, राजनैतिक सत्ता में हिस्सा लेने और अन्ततः सत्ता के लिये राजनैतिक सम्बन्धों की प्रणाली में मजदूर वर्ग के प्रभुत्व की स्थापना करने के लिये संघर्ष करता है। समाजवादी भावना के प्रति चेतना लाने के लिये राजनैतिक संघर्ष वास्तव में एक विचारधारात्मक संघर्ष है।

आधुनिक युग में वर्ग संघर्ष कुछ ऐसी विशिष्टताएँ लिये हुए है जो इस युग की विशेषताओं से जुड़ी हुई है। प्रयत्न यह किया जा रहा है कि क्या पूँजीवाद के विस्तार के साथ वर्ग संघर्ष में कोई तीव्रता आई हैं ? मार्क्स ने अपनी विचारधारा में यह भी कहा था कि वर्ग संघर्ष के दौरान यह सम्भव है कि सर्वहारा वर्ग कुछ देशों में कुलीन वर्ग का स्थान भी ले ले। हाल में सोवियत रूस में जो विघटन आया है उसके कारणों में जैसा कि डिजिलास का कहना है, सर्वहारा वर्ग का कुलीन वर्ग बन जाना भी है।

सामाजिक क्रान्ति किसे कहते हैं ?

यदि एक वाक्य में सामाजिक क्रान्ति की व्याख्या करें, जो कहेंगे कि इतिहास में जो गतिशीलता है जो परिवर्तन हैं वही उत्पादन शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच में संघर्ष है। पूँजीवाद की प्रारम्भिक अवस्था मे उत्पादन सम्बन्ध उत्पादन शक्तियों को विकसित करने में सहायक थें इस अवस्था में पूँजीपति उत्पादन शक्तियों का विकास तेजा के साथ करते हैं और इस विकास में मजदूरों की भागीदारी भी प्रशंसनीय होती है। मार्क्स ने अपनी केपिटल में इसका विस्तृत विवरण दिया है। लेकिन पूँजीवादी विकास का यह सिलसिला अधिक समय तक कामगारों को अपने साथ नहीं ले जा सकता। होता यह है कि थोड़े समय बाद उत्पादन सम्बन्ध वस्तुगत स्तर पर कामगारों के विरोधी हो जाते हैं। अब वह अवस्था आ जाती है जब उत्पादन सम्बन्ध तब तक ठीक नहीं हो सकते जब तक समाज की बुनियादी संरचना यानी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था बदल नहीं जाती।

क्रान्ति का आधार वर्ग संघर्ष है। यह वर्ग संघर्ष मालिक और मजदूर में होता है तथा इसे राजनैतिक, सामाजिक और मनौवैज्ञानिक अभिव्यक्ति में देखा जा सकता है। मार्क्स कहते हैं कि पूँजीवादी समाज में जो वर्ग संघर्ष होते हैं उन्हें व्यक्तिनिष्ठ स्तर पर देखा जा सकता है। कामगारों मे जो चेतना होती है वह बढ़ती हुई उत्पादन शक्तियों का यानी वास्तविकता का प्रतिबिम्ब है। इधर कारखानों के मालिकों में जो संघर्ष दिखाई देता है वह सम्पत्ति सम्बन्धों को यथास्थिति में बनाये रखने का होता है। दूसरे शब्दों में बढ़ती हुई उत्पादन शक्तियों को देखकर कामगार अपने आप को अजनबी समझते हैं और इधर मालिक वे-सम्पत्ति वर्ग के शोषण में इतिहास तो एक वस्तुगत परिणाम है। यह एक प्रकार का द्वन्द्व है,एक प्रतिरोध है और क्रान्ति इस प्रतिरोध का निवारण करती है। इतिहास एक और अर्थ में वर्गो के बीच का युद्ध भी है। सोच के ये प्रकार इतिहास वस्तुगत परिणाम है और वर्गो में युद्ध होता है, मार्क्स की केन्द्रिय

धारणा है। वर्ग समाज में इसलिये संघर्ष न कि वर्ग सामंजस्य एक प्राकृतिक दशा है और इसे किसी भी तरह टाला नहीं जा सकता। जब-जब पूँजीवादी समाज में वर्गों का अधिकतम ध्रुवीकरण (Polarisation) हुआ है, क्रान्ति के अवसर उतने ही बढ़े है।

सामाजिक क्रान्ति इस तरह वह है जिसमें सामाजिक सम्बन्धों की प्रणाली में एक ऐसा आमूल परिवर्तन होता है। जिसके फलस्वरूप एक सामाजिक आर्थिक संरचना, दूसरी सामाजिक-आर्थिक संरचना को जन्म देती है।

सामाजिक क्रान्ति समाज विशेष में विकसित हो चुके मुख्य सामाजिक राजनैतिक और सामाजिक आर्थिक वर्ग प्रतिरोध के समाधान की एक प्रक्रिया है। होता यह है कि क्रान्ति के दौरान वर्गो के बीच में प्रतिरोध उभरकर सामने आते हैं। यह प्रतिरोध रातों-रात नहीं उभरते। इनके जन्म और विकास में कई दशक और कभी-कभी तो कई सदियाँ खप जाती है। सच्चाई यह है कि सामाजिक क्रान्ति वस्तुगत आवश्यकताओं के आधार पर होती है। उत्पादन शक्तियों तथा आर्थिक प्रगति में बाधक बने कालातीत उत्पादन सम्बन्ध उत्पादन शक्तियों के विकास का आर्थिक सम्बन्धों, मुख्यतया स्वामित्व सम्बन्धों की प्रणाली में परिवर्तन की ओर ले जाती है। इस सन्दर्भ में आर्थिक प्रतिरोध सामाजिक क्रान्ति के निर्णायक कारण है। जब क्रान्ति होती है तो राजसत्ता एक वर्ग के हाथों से दूसरे वर्ग के हाथों में पहुँच जाती है। इस तरह सामाजिक क्रान्ति केवल आर्थिक क्रान्ति ही नहीं हैं यह एक सामाजिक तथा राजनैतिक क्रान्ति भी है।

क्रान्ति कब होता है ?

किसी भी देश में क्रान्ति आनन-फानन में नहीं होता। इसके पीछे वस्तुगत दशाएँ होता हैं इन दशाओं के परिपक्व होने पर ही क्रान्ति होती है क्रान्ति के कारण हैं। इन कारणों को हम यहाँ क्रमशः प्रस्तुत करेंगे।

(1) **उत्पादन पद्धति पर आधारित युगों का सिलसिला क्रान्ति की ओर ले जाता है**— ऊपर हमने कहा है कि क्रान्ति किसी एक राजा-महाराजा या नेता की इच्छा पर निर्भर नहीं है। इसका आधार तो युग विशेष की भौतिक दशाएँ या उत्पादन पद्धतियों हैं। इतिहास एक युग दूसरे युग की ओर बढ़ता हैं। युगो के बढ़ने के सिलसिले में भौतिक दशाएँ ऐसी अवस्था में आती है जब क्रान्ति होती हैं एक तरफ पुरानी सामाजिक व्यवस्था होती है। और दूसरी तरफ नयी उत्पादन शक्तियाँ ये नयी उत्पादन शक्तियाँ मनुष्य और इस अर्थ मे कामगार में संघर्ष होता है, जब क्रान्ति आती है।

    पुरानी व्यवस्था के निम्न वर्ग नयी उत्पादन शक्ति के युग में उच्च वर्ग को चुनौती देते हैं चुनौती देने का यह आलम तब तक चलता रहता है, जब तक क्रान्ति नहीं होती।

(2) **क्रान्ति का एक स्वरूप बुर्जुआ भी होता है**—मार्क्स की क्रान्ति का आधार उत्पादन पद्धति में बदलाव होता है: मार्क्स और मार्क्सवादियों ने क्रान्ति के कई स्वरूपों को देखा है। उदाहरण के लिये ऐंजिल्स ने जर्मनी के एकीकरण के प्रयासों का क्रान्तिकारी कहा है। यह क्रान्ति ऐतिहासिक शक्ति के कारण हुई थी। एक अन्य स्थान पर मार्क्स, भारतीय गांवों की हस्तकला, कारीगरी, ग्रामीण उद्योग आदि के पतन

को जो ब्रिटिश औद्योगीकरण के कारण आया (1853 ई.) को ग्रामीण क्रान्ति कहते हैं। एक और प्रकार की क्रान्ति यूरोप के अन्य देशों मे देखने को मिलती है, उदाहरण के लिये इंग्लैण्ड की 1640 ई. के दशक की क्रान्ति और इसी तरह 1848-49 ई. में जर्मनी में कामगारों द्वारा उठाया गया आन्दोलन या इसी भाँति 1789 ई. में फ्रांस की राज्य क्रान्ति बुर्जआ क्रान्ति कहलाते हैं मार्क्स और मार्क्सवादी, इन क्रान्तियों को परिभाषित करने के लिये एक मत नहीं हैं।

(3) क्रान्ति के लिये निश्चित भौतिक दशाओं का होना आवश्यक हैं—यह इतिहास में पहलीबार था कि पूँजीवाद ने मजदूर वर्ग का पैदा किया। इस वर्गो के कारण ही समाज में श्रम विभाजन हुआ। अत: कामगार वर्ग, मार्क्स की भली तरह से स्पष्ट करते हैं, पूँजी का स्वामित्व नहीं चाहते। वे तो पूँजी से अलगाव रखते हैं। क्रान्ति इसलिये नहीं होती कि कामगार उस सम्पूर्ण मिल्कियत के मालिक हो जायें तो आज पूँजीपतियों की हैं क्रान्ति तो इतिहास होती है कि वर्ग समाप्त हो जाये, राज्य समाप्त हो जाये और एक ऐसा समाज बन जाये जो वर्गहीन और राज्यहीन हो।

मार्क्स ने क्रान्ति की अवधारणा को भौतिक दशाओं के साथ जोड़कर एक और स्पष्टीकरण दिया है। वे कहते हैं कि युद्ध का मतलब क्रान्ति नहीं हैं। 1914 ई. में जब प्रथम विश्व युद्ध हुआ और एक राष्ट्र ने दूसरे राष्ट्र के विरोध उलट-फेर कभी भी क्रान्ति को नहीं बनाता।

क्रान्ति तो वह है जिसमें आम जनता की भागीदारी होती है। यह तब होती है जब पूँजीपति वर्ग किसी भी दशा में में अपने कल-कारखाने नहीं चला पाता। ये भौतिक दशाएँ जो वस्तुगत वास्तविकताएँ हैं, क्रान्ति को निश्चित करती हैं क्रान्ति न तो किसी राजनैतिक दल और वर्ग की इच्छा पर निर्भर है। इसकी दशा और दिशा तो इतिहास निश्चित करता है।

(4) वर्गों का ध्रुवीकरण—क्रान्ति होने के लिये कामगारों की हालत का अत्यधिक खस्ता होता आवश्यक है। कारखानों में धुएं और गन्दी बस्ती में रहने वाले कामगार की तंगहाली जितनी बढ़ती जाती है उतना ही उसका अलगाव भी बढ़ जाता है। कामगार का भी अपना एक वर्ग है और वह अपने आप की पहचान इस वर्ग से करता है। वास्तव में किसी भी कामगार को सबसे पहले तो अपनी पहचान केवल अपने जैसे कामगारों के साथ जोड़नी पड़ती है। उसकी यह अवस्था केवल एक समूह का समिष्ठ (Aggregate) के सदस्य मात्र की होती हैं इसे क्लास इन इट सेल्फ यानी अपने आप में वर्ग की अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में कामगार का आथिक पद्धति में अपना एक निश्चित स्थान होता है। स्थान यह है कि उसे कारखाने मे एक अजनबी की तरह रात और दिन खटता है। जो कुछ उत्पादन होता है उसका उससे कोई मतलब नहीं। यह ऐसी अवस्था है जिसमें जितना अधिक वह काम करता है उतना ही अधिक उत्पादन होता है। लेकिन यह उत्पादन उसका नहीं है। इस अवस्थ में पहुचकर वह वर्ग के लिए वर्ग (Class for itself) के स्तर पर आ जाता है। वर्ग संरचना में कामगार अब इतना चेतन हो जाता है कि वह कह सके कि दुनियाँ भर के मजदूरों संगठित हो जाओ, तुम्हारे पास तुम्हारी बेड़ियों को छोड़कर खोने के लिए और कुछ नहीं है। यह मजदूर-मजदूर, भाई-भाई की चेतना वर्ग के सदस्यों की सम्पूर्ण वर्ग के प्रति चेतना है।

अमरीका के औद्योगिक मनोवैज्ञानिक मत हैं। कि कामगार का अलगाव और कुछ न होकर कार्य के प्रति असंतोष हैं, गलत है। वास्तविकता यह है कि कारखाने का मालिक जब व्यक्तिगत मिल्कियत को बनाना शुरू कर देता है और कामगार का शोषण प्रारम्भ हो जाता है तब इसलिए की क्रान्ति का बिगुल बज गया है। अलगाव और आर्थिक शोषण कामगार की कमर तोड़ देते हैं और वह क्रान्ति के लिए तैयार हो जाता है।

जैसे-जैसे सर्वहारा वर्ग की तगंहाली बढ़ती जाती है क्रान्ति की दशा निकट आती जाती है। वैसे मार्क्स स्वीकार करते है, समाज में छोटे-मोटे कई वर्ग हैं: बुर्जआ वर्ग, लघु उद्योग, सफेदपोश, मध्यम वर्ग और सर्वहारा वर्ग। ज्यों-ज्यों गरीबों का शोषण अलगाव बढ़ता जाता है मालिक की व्यक्तिगत सम्पत्ति संचयी होती जाती है, सभी वर्ग दो ध्रुवों में बंट जाता है। यह वर्गो का ध्रुवीकरण है। क्रान्ति के समय तो दो ही वर्ग रहते हैं : बुर्जआ और सर्वहारा। शेष सभी वर्ग इन दोनों में से एक के साथ अपनी शिनाख्त कर लेते हैं। इधर ध्रुवीकरण पूरा हुआ और उधर क्रांति के लिए रेखा खींची गयी।

(5) **तीव्रतम वर्ग चेतना**—मार्क्स ने बार-बार इस थीसिस को रखा है कि व्यक्ति की जो कुछ समझ सोच और विचारधारा है वह वस्तुत: उसकी सामाजिक चेतना है। किसी भी व्यक्ति की सामाजिक चेतना मूल में जिस वर्ग का सदस्य है, उससे पैदा होती है। इस अर्थ में सर्वहारा वर्ग की जो भी सामाजिक चेतना है, उसका मूल स्त्रोत उसका सर्वहारा वर्ग ही है। जब एक कामगार धर्म को देखता है, संस्कारों और कर्मकाण्डों को देखता है, उपासना और अर्चना को देखता है तब उसकी चेतना कहती है कि यह सब धार्मिक संरचना और कुछ न होकर पूँजीपतियों द्वारा निर्मित शोषण की एक विधि है। जब मजदूर यह कहता है। कि जब संस्कार जोर और जुल्म करती है, जब सरकार नागरिकों का शोषण करती है तो यह कुछ न होकर सत्तारूढ़ दल द्वारा किया गया शोषण है जो पूँजीपतियों की साजिश के कारण है। अत: कामगार की धर्म या राजनीति के बारे में जो सामाजिक चेतना विचारधारा और सोच है उसकी उत्पत्ति सर्वहारा वर्ग से हुई है। यह इसलिये कि स्वयं सर्वहारा वर्ग पूँजीवाद उत्पादन पद्धति का ऐसा बेसहारा मोहरा बन गया है कि उसके भाग्य में और कोई सुनहरा विकल्प ही नहीं है। कामगार की तरह मालिक की विचारधारा भी यानी उसकी चेतना भी उसी पूँजीपति वर्ग में पैदा हुई है। जिसका वह सदस्य है। मालिक की सांठ-गांठ सत्तारूढ़ दल के साथ रहती है, उसी इसी कारण पूँजीपति वर्ग के धर्म, साहित्य, कला, नृत्य, संगीत आदि के विषय में जो विचार होते हैं उनका जन्म पूँजीपति वर्ग की कोख से ही होता है। कार्ल मार्क्स का, वर्ग चेतना के सम्बन्ध में यह कथन मार्क्स वादियों में बहुत लोकप्रिय है कि किसी भी समाज में सत्तारूढ़ दल के विचार सामान्यतर सम्पूर्ण युग के प्रभावी विचार होते हैं।

जब विभिन्न वर्गो में सामाजिक चेतना अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है। तो मानिए सर्वहारा वर्ग क्रांति के लिए प्रस्तुत है। अब स्थिति विस्फोटक हो गयी है।

(6) **क्रान्ति करने का अवसर तभी आता है तब वस्तुगत दशाएँ और व्यकित परक तैयारी मेल खाते हैं**—केवल वस्तुगत दशाएँ यानी कारखाना खस्ता मशीनरी, गन्दी

बस्ती, थोड़ा रोजगार आदि ही किसी भी क्रान्ति को सफल बनाने के लिये पर्याप्त नहीं है। इसी तरह सर्वहारा की बलवती इच्छा भी क्रान्ति को कारगर नहीं बनाती। मार्क्स कहते हैं कि वस्तुगत दशाओं और कामगार की इच्छा में बराबर उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। उतार-चढ़ाव के कारण ही राजनीति में भी यहीं उतार-चढ़ाव देखने को मिलते हैं।

(7) **मालिक वर्ग के हाथ में उत्पीड़न का हथियार होता है**—क्रान्ति का एक और कारण राज्य का आतंकवादी होना है। राज्य की शक्ति सामन्यता प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप ये बुर्जआ के वर्ग के हाथों में होती हे। राज्य बुर्जआ वर्ग का ऐसा हथियार है जिसके द्वारा सर्वहारा वर्ग के ऊपर अन्याय, अत्याचार किये जाते हैं। मार्क्स कहते हैं कि जो राज्य बुर्जआ के हाथों में शोषण को बढ़ावा देता है उसका आर्थिक पतन निश्चित रूप से होता है। अर्थहीनता की अवस्था में राज्य अधिक समय तक सत्ता को अपने हाथ में नहीं रख सकता। यह अवस्था क्रान्ति को गति देती हे।

(8) **पूँजीवाद एक के बाद एक आर्थिक संकट में उलझता रहता है। अन्तत्वोगत्वा यह बदतर आर्थिक संकट ही इसे ले डूबता है**—जब एक तरफ वस्तुगत दशाएँ खस्ता होती है, आमनवीय होती है और दूसरी तरफ कामगार क्रान्ति करने के लिए बेताव हो रहे होते हैं और ऐसी अवस्था में पूँजीवाद के लिए संकट जटिल होते हैं, तब क्रांति की सम्भाना बढ़ जाती है। मार्क्स ने क्रान्ति के लिये, इस भांति तीन अवस्थाओं को आवश्यक समझा है, (1) बिगड़ती हुई वस्तुगत दशाएँ, (2) कामगारों की क्रान्ति करने की तीव्र इच्छा और, (3) पूँजीवाद के लिए संकटों का गहराना।

क्रान्ति की विशेषताएँ

हमारे देश में जयप्रकाश नारायण ने सामाजिक परिवर्तन के लिये एक देशव्यापी आन्दोलन सातवें दशक में चलाया था। इसे उन्होंने सम्पूर्ण क्रान्ति का नाम दिया था। हम यह नहीं कहते कि जयप्रकाश नारायण ने सम्पूर्ण क्रान्ति का यह आन्दोलन मार्क्स से प्रेरित होकर उठाया था यद्यपि वे समाजवादी थे। लेकिन सम्पूर्ण क्रान्ति का यह आन्दोलन मार्क्स की क्रान्ति की अवधारणा को, उसकी विशेषताओं की समझने में सहायक है। मार्क्स जब क्रान्ति की चर्चा करते हैं तो उनका केवल यह सीमित अर्थ नहीं है कि उत्पादन पद्धतियों, सम्बन्धों और शक्तियों के कारण क्रान्ति के परिणामस्वरूप आर्थिक संरचना बदल जाएगा। क्रान्ति से मार्क्स का मतलब सम्पूर्ण सामाजिक परिवेश में परिवर्तन से हैं जब आर्थिक संरचना बदलती है, उत्पादन पद्धतियों बदलती हैं तो परिणाम स्वरूप सम्पूर्ण सामाजिक अधिंसरचना भी बदल जाती है। यहाँ हम मार्क्स द्वारा प्रतिपादित सामाजिक क्रान्ति या इस अर्थ में सामाजिक परिवर्तन की कुछ विशेषताओं को रखेंगे—

(1) **क्रान्ति केवल एक झटके में ही पूरी नहीं होती**—क्रान्ति की बहुत बड़ी पहचान यह है कि एक एकाएक तो होती है, लेकिन एक सांस में ही समाप्त नहीं होती। यह क्रान्ति उत्पादन पद्धतियों में ही नहीं होती, समाज के सम्पूर्ण परिवेश में पूरी संरचना में होती है। ऐसा होता है कि समाज के किसी एक क्षेत्र में क्रान्ति होती है। धीरे-धीरे यह क्रान्ति समाज के अन्य क्षेत्रों—राजनीति, परिवार, विवाह, धर्म आदि में भी देखने को मिलती है। इसलिए इस सम्पूर्ण क्रान्ति की अवधि अपेक्षित रूप से लम्बी होती है।

(2) सामाजिक क्रान्ति समाज सुधार नहीं है—मार्क्स ने यूरोप की कई क्रान्तियों का अध्ययन किया। उन्होंने इटली में मेजिनी द्वारा प्रेरित क्रान्ति को समझा। इसी तरह यूरोप में 1818 ई. के बाद जो क्रान्तिकारी उलट फेर हुई उनका भी विश्लेषण किया। इस सबसे बाद मार्क्स इस निष्कर्ष पर आये कि क्रान्ति का उद्देश्य समाज सुधार नहीं है। जगह-जगह थिगली लगाने से समाज की दशाओं में अन्तर नहीं आता। जब तक समाज का सम्पूर्ण परिवर्तन नहीं होता पूरे दांतें, नट और बोल्ट नहीं बदलते, तब तक गरीब भागों की शोषण से मुक्ति नहीं हो सकती। एक व्यवस्था को गिराकर, उसके शब पर दूसरी व्यवस्था को खड़ा करना ही क्रान्ति है।

(3) अधिसंरचना का आविर्भाव—मार्क्स का तर्क है कि इतिहास के प्रत्येक युग में पिछले युग का प्रतिरोध हुआ है और इसलिये किसी भी क्रान्ति का उद्देश्य तत्कालीन युग की बुनियादी संरचना को उखाड़ की उसके स्थान पर नयी अधिरचना को स्थापित करना होना चाहिए। जब बुनियादी संरचना क्रान्ति के परिणामस्वरूप बदल जाती है, तब अपने आप ही अधिसंरचना में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन आते हैं। यह इसलिये कि बुनियादी संरचना ही समाज के सोच, समझ और विचारधारा को बदलती है और इसी कारण अधिरचना का सम्पूर्ण परिवेश भी बदल जाता है।

मार्क्स के सिद्धान्त में जो पूँजीवद की कटु आलोचना है, उसके अनुसार धर्म अफीम की तरह है, जो कामगारों को, उनकी वर्ग चेतना को सुलाये रखती है। धर्म पूँजीवादी अधिरचना का एक साधन है। जो पूँजीपतियों की यथास्थिति को बनाये रखता है। और सर्वहारा की क्रान्ति की भावना पर उसके उदभव पर ठण्डा पानी डालती है। इस अर्थ में धर्म में धर्म अधिरचना का वह भाग है जिसकी उपज बुर्जआ समाज है। मार्क्स की धर्म के प्रति जो विचारधारा थी उसका उद्‌गम जर्मनी का समाज था उन्हें और एंजिल्स को यह समाज देखकर ज्ञात हुआ कि इसमें धर्म के प्रति इतनी गहरी आस्था है कि वहाँ किसी भी राज्य और पूँजीपति दोनों की रुचि है। उनके अनुसार धर्म तो जनता को दी गयी अफीम (Opium of the Masses) हे। इसका नया जनता को क्रान्ति के लिये हथियार उठाने को निरुत्साहित करता है। धर्म के नशे में जनता समझने लगती है कि उनका शोषण तो ईश्वर की इच्छा है, वही ऊपर बैठा हुआ सर्वहारा के भाग्य को निश्चित करता है। अपने यौवन काल में मार्क्स ने धर्म का अध्ययन व्यवस्थित रूप से किया। इन अध्ययनों के परिणामस्वरूप वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि पूँजीवादी समाज में धर्म की भूमिका पूँजीपति वर्ग और राज्य निश्चित करते हैं। धर्म की तरह सम्पूर्ण संस्कृति भी पूँजीवादी अधिरचना की उपज है। इसी कारण क्रान्ति जब होती है तो पूँजीवादी व्यवस्था पर आधारित सम्पूर्ण अधिरचना ताश के पत्तों के महल की तरह धराशायी हो जाती है। अत: क्रान्ति की एक पहचान यह भी है कि इसके परिणामस्वरूप समाज की अधिरचना भी बदल जाती है।

(4) सर्वहारा का अधिनायकवाद—इग्लैंण्ड की रक्तहीन क्रान्ति फ्रांस की राज्य क्रान्ति और ऐसी ही यूरोप की कई क्रान्तियाँ जो उन्नीसवीं में हुई मार्क्स की परिभाषा के घेरे में क्रान्ति नहीं कहलाती। क्रान्ति की बहुत बड़ी शिनाख्त यह है कि इसमें बुर्जआ की समाप्ति के बाद अनिवार्य रूप से सर्वहारा वर्ग प्रभावशाली हो जाता है। उसी का प्रभुत्व चलता है। वही दिशा निर्देश देता है। इस अवस्था को मार्क्स सर्वहारा का अधिनायकवाद कहते हैं। जब तब क्रान्ति के बाद सर्वहारा का प्रभुत्व नहीं आता

यानी मजदूरों की हुकूमत नहीं आती क्रान्ति को मार्क्सवादी क्रान्ति नहीं कहते। इस अधिनायकवाद में पूँजीपतियों से यह कहा जाता है कि वे बपनी मिल्कियत राज्य को सौंप दें। यह प्रक्रिया अ-वर्ग (De-class) की प्रक्रिया है जिसमें पूँजीपति वर्ग किसी भी वर्ग के स्थान से हट जाते हैं।

NOTES

मार्क्सवादी राजनैतिक विचारधारा में सर्वहारा के अधिनायकवाद की अवधारणा एक निर्णायक विचारधारा है। एक स्थान पर (1852 ई.) मार्क्स कहते हैं कि उन्होंने वर्ग या वर्ग संघर्ष की अवधारणा को रखा हो, ऐसा कोई बात नहीं है। लेकिन वे आग्रहपूर्वक कहते हैं कि उन्होंने जो नया तथ्य रखा है और जिसे प्रमाणित भी किया है वह सर्वहारा का अधिनायकवाद है। उनका तर्क है कि वर्ग संघर्ष अनिवार्य रूप से सर्वहारा के अधिनायकवाद को जन्म देता है।

सामाजिक क्रान्ति के सिद्धान्त की आलोचना

प्रारम्भ में जब मार्क्स और एंजिल्स ने उत्पादन पद्धतियों का उल्लेख जर्मन आइडियोलोजी में किया जब ये दोनों लेखक क्रान्ति की अवधारणा के सम्बन्ध में स्पष्ट नहीं थे। उन्होंने जब 1843 ई. में इग्लैण्ड, फ्रांस और अमेरिका की क्रान्तियों का अध्ययन किया। तक इन्हें बुर्जआ क्रान्ति के नाम से पुकारा। इसके बाद उन्होंने जर्मनी में हुए किसान युद्ध (Peasant War of 1524-25) का विश्लेषण किया जब उन्हें लगा कि यह भी एक क्रान्ति की क्योंकि इसमें किसान सामन्तवादी शिकंजे से बाहर निकल आये थे। लेकिन फिर उन्हें लगा कि शहरी लोगों में तो यह क्रान्ति हुई ही नहीं। बाद में चलकर मार्क्स ने क्रान्ति की अवधारणा को अधिक गहन रूप से रखा। यहाँ हमारा यही मत है कि क्रान्ति की अवधारणा की क्रमशः उद्‌विकास हुआ है। और इसी कारण इसमें अभाव भी रहे हैं। मार्क्स की क्रान्ति की अवधारणों की कई आलोचनाएँ हुई हैं। यहाँ हम कुछ प्रमुख आलोचनाओं का उल्लेख करेंगे।

(1) मार्क्स ने संघर्ष का कारण बुनियादी संरचना को बताया है, उसका कहना है कि सम्पत्ति और शक्ति का गैर बराबर वितरण क्रान्ति का कारण है। राल्फ डेहरनडोफ ने क्रान्ति की इस बुनियादी अवधारणा को अस्वीकार किया है। वे आग्रहपूर्वक अपनी पुस्तक ''क्लास कोन्फलीक्ट इन इण्टस्ट्रियल सोसायटी'' में कहते हैं। कि संघर्ष कर मुख्य कारण वर्ग नहीं है। आज के समाज में कई छोटी बड़ी संस्थाएँ हैं। उद्योग और उद्योग घराने हैं। इन संस्थाओं के नियम उपनियम होते हैं, एक बन्धा बन्धाया संगठन होता है, जिसमें कर्मचारियों को निश्चित भूमिकाएँ होती हैं। ऐसी प्रत्येक संगठन में कर्मचारियों की भूमिका में शक्ति यानी प्राधिकार होता है। निदेशक के अधिकार सचिव से अधिक होते हैं। और इस सोपान में लिपिक के अधिकार न्यूनतम होते हैं। संगठनों के इस जाल का जो औद्योगिक समाज में देखने को मिलते हैं, डेहरनफोर्ड को और डीनेटेड एसोसिएशन कहते हैं इन एसोसिएशनों यानी संगठनों में कर्मचारियों के आपसी सम्बन्ध में टकराव आने पर ही क्रान्ति होती है। मार्क्स की तरह वर्ग संघर्ष से क्रान्ति नहीं। मार्क्स तो इस तरह के प्राधिकार सम्बन्धों को केवल अधिरचना का एक अंग ही मानते हैं।

(2) डेहरनडोर्फ ने अपनी इस पुस्तक में मार्क्स से एक और बहुत बड़ी असहमति व्यक्त की है। मार्क्स ने जिस पूँजीवाद की अवधारणा को रखा है उसमें उत्पादन साधनों के

NOTES

मालिक पूँजीपति या उसके नातेदारी सदस्य होते हैं। डेहरनडोर्फ का आग्रह है कि अब पूँजीपति का स्वरूप बदल गया है। औद्योगिक समाज में ऐसे संगठनों का बहुतायत है जिसमें कई हजार शेयर होल्डर होते हैं। पूँजीवाद का यह स्वरूप कोरपोरेट पूँजीवाद (Corporate Capitalism) है। यहाँ शक्ति और प्राधिकार कई लोगों में बँटते हैं। इस तरह के पूँजीवाद में संघर्ष का स्परूप मार्क्स से बहुत भिन्न होता है।

(3) कई आलोचकों ने जिसमें पित्रिम सोरोकिन भी हैं, मार्क्स पर यह आरोप लगाया है कि वे क्रान्ति का निर्धारण केवल वस्तुगत दशाओं और व्यक्तिगत तैयारी के साथ जोड़ते हैं। ऐसा करने में उन्होंने संघर्ष के अन्य कारणों जैसे परिवार, जाति, धर्म, आदि को छोड़ दिया है। भारत जैसे देश में तो गाँव और जाति की भूमिका वर्ग संघर्ष शक्ति को प्राप्त करने का दृष्टान्त रखा है, उसमें कहा जाता है कि अब देश में जातियाँ भी वर्ग बन रही हैं। अत: क्रान्ति के कारण आर्थिक चर होते हुए भी गैर-आर्थिक चर भी उतने ही महत्वपूर्ण हैं।

अध्याय का संक्षिप्त सार

आर्थिक एवं दार्शनिक विचारों के इतिहास में कार्ल मार्क्स वह महान विचारक हैं जिन्हें 'साम्यवाद के जनक' (Father of Communism) के रूप में देख जाता है। उन्होंने सम्पूर्ण विश्व के लिए एक ऐसी क्रान्तिकारी विचारधारा दी कि उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय सर्वहारा वर्ग के महान शिक्षक और नेता के रूप में देखा जाने लगा। यह सच है कि कार्ल मार्क्स से पहले सेन्ट साइमन, फोरियर, रॉबर्ट ओवन, लुई ब्लॉक तथा अनेक दूसरे विद्वानों ने आर्थिक असमानताओं से उत्पन्न होने वाली समस्याओं तथा सम्पत्ति के न्यायपूर्ण वितरण पर बल देकर समाजवादी आधार पर अपने विचार प्रस्तुत किये थे लेकिन कार्ल मार्क्स वह पहले विचारक थे जिन्होंने साम्यवाद की वैज्ञानिक विवेचना करके उसे सम्पूर्ण विश्व में स्थापित किया। वह एक ऐसे राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक विचारक थे जो गरीबों, श्रमिकों और शोषित वर्गो के एक बौद्धिक मसीहा बन गये। मार्क्स ने सर्वहारा और शोषित व्यक्तियों को यह सन्देश दिया कि संगठित होकर ही सामाजिक और आर्थिक विषमताओं को दूर करके अपने लिए एक वर्गरहित समाज की स्थापना कर सकते हैं। अपने गहन अध्ययन के द्वारा उन्होंने यह प्रमाणित कर दिया कि अब तक के सभी समाजों का इतिहास वर्ग सघर्ष का इतिहास रहा है। पूँजीवादी नये समाज का निर्माण करेगी। सच तो यह है कि उन्नीसवां शताब्दी के मध्य से लेकर आज तक चाहे किसी विद्धान ने मार्क्स की आलोचनों की हो अथवा उनका समर्थन किसा हो लेकिन प्रत्येक सामाजिक विचारक ने किसी-न-किसी रूप में मार्क्स का उल्लेख अवश्य किया है।

परिक्षापयोगी प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. कार्ल मार्क्स का जीवन परिचय दीजिए तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद के सम्बन्ध में उसके विचारों की समीक्षा कीजिए।
2. वर्ग चेतना के सम्बन्ध में मार्क्स की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए तथा वर्ग चेतना की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

3. उत्पादन सम्बन्धों का क्या अर्थ है ? उत्पादन सम्बन्धों की प्रमुख विशेषतओं पर प्रकाश डालिए।
4. सामाजिक क्रान्ति क्या है ? क्रान्ति कब होती है ?
5. ऐतिहासिक भौतिकवाद के तत्वों का वर्णन कीजिए।

NOTES

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. वर्ग संघर्ष क्या है ? स्पष्ट कीजिए।
2. क्रान्ति की विशेषतओं पर प्रकाश डालिए।
3. ऐतिहासिक भौतिकवाद किसे कहते हैं ?
4. सामाजिक क्रान्ति के सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. ''अब तक के सभी समाजों का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है।'' यह कथन किसने दिया—

   (अ) दुर्खीम (ब) डी. पी. मुकर्जी

   (स) कार्ल मार्क्स (द) कोजर

2. यह निष्कर्ष किसने निकाला कि ''वास्तविक जगत का निर्माण विचारों से होता है।''

   (अ) स्पेन्सर (ब) हीगल

   (स) एडम स्मिथ (द) कोई नहीं

3. मार्क्स ने किस पुस्तक में वर्ग संघर्ष की प्रकृति की व्याख्या प्रस्तुत की ?

   (अ) साम्यवादी घोषणा-पत्र (ब) दास कैपिटल

   (स) फ्रान्स में वर्ग-संघर्ष (द) यह सभी

4. मार्क्स ने किस वर्ग को बुर्जआ नाम से सम्बोधित किया—

   (अ) पूँजीपति (ब) श्रमिक

   (स) जमींदार (द) बुजुर्ग किसान

5. निम्नांकित में से किस एक विचारक को साम्यवाद का जनक कहा जाता हैं ?

   (अ) एडम स्मिथ (ब) मैक्स वेबर

   (स) हीगल (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं

6. मार्क्स के अनुसार निम्नांकित में से कौन सी एक दशा वर्ग-सघर्ष का अनिवार्य परिणाम हैं ?

   (अ) पूँजीपति वर्ग का ध्रुवीकरण (ब) श्रमिकों में अलगाव

   (स) क्रान्ति (द) जनसंख्या में वृद्धि

7. कार्ल मार्क्स का विवाह किसके साथ हुआ था-

   (अ) नेन्सी के साथ (ब) कैथरी के साथ

   (स) गेनी के साथ (द) हावर्ड के साथ

8. मार्क्स के निम्न में से किस सिद्धान्त को समाजशास्त्र में सबसे अधिक महत्व दिया जाता है-

(अ) इतिहास की आर्थिक व्याख्या के सिद्धान्त को

(ब) वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त को

(स) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त को

(द) अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त को

9. मार्क्स के अनुसार किस व्यवस्था में वर्ग का अभाव रहता है-

(अ) समाजवादी (ब) पूँजीवादी

(स) आतंकवादी (द) साम्यवादी

10. मार्क्स के अनुसार पूँजीपति कौन हैं-

(अ) जिसके पास पैसा होता है

(ब) जो उत्पादन के साधन अपने हाथ में रखता है

(स) जो मजदूरों को शोषण करता है

(द) उपरोक्त सभी

11. मार्क्स ने द्वन्द्ववाद की अवधारणा किससे ग्रहण की-

(अ) फिक्टे (ब) थोरे

(स) हीगल (द) स्पेन्सर

12. मार्क्स के अनुसार अतिरिक्त मूल्य किस का परिणाम है-

(अ) श्रम का (ब) पूँजी का

(स) समय का (द) वस्तु का

13. मार्क्स ने प्रमुख रूप से समाज में कितने वर्ग माने हैं-

(अ) दो (ब) तीन

(स) चार (द) पाँच

14. मार्क्स की मृत्यु किस सन् में हुई-

(अ) 1883 (ब) 1880

(स) 1838 (द) 1879

15. कम्युनिष्ट घोषणा पत्र किस सन् में प्रकाशित हुआ।

(अ) 1848 (ब) 1850

(स) 1852 (द) 1847

उत्तर— 1. (स), 2. (ब), 3. (द), 4. (अ), 5. (अ), 6. (स), 7. (स), 8. (ब), 9. (द), 10. (ब), 11. (ब), 12. (अ), 13. (अ), 14. (अ), 15. (अ)।

NOTES

8 विलफ्रेडो पैरेटो

अध्याय में सम्मिलित विषय सामग्री

- उद्देश्य
- प्राक्कथन
- पैरेटो की जीवनी
- पैरेटो की कृतियाँ
- पैरेटो का पद्धतिशास्त्र
- समाजशास्त्र एक समन्वयात्मक
- तार्किक एवं अतार्किक क्रियाएँ
- पैरेटो की अवशेषों की अवधारणा
- अवशेषों के प्रकार
- अवशेषों का महत्व
- भ्रान्त तर्क की अवधारणा
- भ्रान्त तर्कों के प्रकार
- अभिजात वर्ग का सिद्धान्त
- अभिजात वर्ग का परिभ्रमण
- अध्याय का संक्षिप्त सार
- परीक्षोपयोगी प्रश्न

उद्देश्य :

इस अध्याय अध्ययन के पश्चात् आप निम्न तथ्यों को समझ सकेंगे—

- प्राक्कथन
- पैरेटो की जीवनी
- पैरेटो की कृतियाँ
- पैरेटो का पद्धतिशास्त्र
- समाजशास्त्र एक समन्वयात्मक
- तार्किक एवं अतार्किक क्रियाएँ
- पैरेटो की अवशेषों की अवधारणा
- अवशेषों के प्रकार
- अवशेषों का महत्व
- भ्रान्त तर्क की अवधारणा
- भ्रान्त तर्कों के प्रकार
- अभिजात वर्ग का सिद्धान्त
- अभिजात वर्ग का परिभ्रमण

NOTES

प्राक्कथन

आधुनिक सामाजिक विचारों के इतिहास में विलफ्रेडो पैरेटो, जोकि इटली के एक प्रमुख सामाजिक विचारक थे, का योगदान अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं पैरेटो एक समाजशास्त्री तथा अर्थशास्त्री दोनों ही थे। उन्हें गणितीय समाजशास्त्र का संस्थापक माना जाता है। उनकी सभी रचनाएँ उनकी असामान्य योग्यता, क्षमता व प्रतिभा को दर्शाती हैं। इटली और फ्रांस की अर्थशास्त्रीय व समाजशास्त्री विचारधाराओं का आप स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। इटली के फासिस्टों ने पैरेटो के विचारों एवं सिद्धान्तों को अपने मत के प्रचार के लिए बहुत कुछ सीमा तक प्रयोग किया और उनका नाम भी इटली के फासिस्ट आन्दोलन के साथ जोड़ा गया, यहाँ तक कि उनकी फासिज्म का भविष्यवक्ता तथा बुर्जुआ समाज का कार्ल मार्क्स आदि उपाधियों से सम्बोधित किया जाता रहा है। इसी कारण अमरीका के समाजशास्त्रियों ने पैरेटो के विचारों एवं सिद्धान्तों की उपेक्षा तक कर डाली थी। पैरेटो ने अपने राष्ट्र के युवकों को प्रेरणा देने वाले संदेश भी दिये हैं। आपके विचाराक में अधिनायकवाद की ओर विशेष रुझान देखने को मिलता है। दूसरी ओर कुछ विद्वानों की मान्यता है कि पैरेटो के जीवन ओर कृतियों के अध्ययन के आधार पर उन्हें फासिस्टवाद के समर्थक या प्रर्वतक कहना अतार्किक व अनुचित दोनो ही है। पैरेटो का कृतित्व बहुत विशाल है। उनकी रचनाओं से उनकी तीक्ष्ण बुद्धि, विचारों की मौलिकता एवं वैज्ञानिकता का पता चलता है।

पैरेटो की जीवनी

पैरेटो का जन्म 15 जुलाई 1848 में पेरिस में हुआ था। उनकी माँ पेरिस की तथा पिता जेनेवा के नागरिक थे। उनके पिता मानवतावादी एवं आदर्शवादी विचारों के समर्थक थे। वे गेरीबाल्डी मैजिनी के प्रशंसक एवं उनके विचारों के समर्थक थे, प्रजातान्त्रिक न्याय एवं मानवतावादी विचारों के कारण उनके पिता को इटली से निर्वासित किया गया था और इसी दौरान पैरेटो का जन्म हुआ और पैरेटो की प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा पैरिस में ही हुई जहाँ इन्होंने लगभग दस वर्षो की आयु तक अध्ययन किया। 1858 में जब इटली की सरकार की नीति बदली तो पैरेटो का परिवार पुनः इटली के ट्येरिन नगर में रहने लगा। ट्यूरिन विश्वविद्यालय के पॉलीटेक्नीक इन्स्टीट्येट ने आपने 22 वर्ष की आयु में स्नातक स्तर की शिक्षा प्राप्त की और इंजीनियर बन गये। आपने गणित एवं भौतिकशास्त्र में भी विशेष शिक्षा प्राप्त की। आपने सोलह वर्ष तक एक लोहे के उद्योग में मैनेजिंग डायरेक्टर के पद कार्य किया। इस पद पर रहते हुए उन्होंने इंग्लैण्ड व यूरोप के अनेक देशों की यात्रा की कई प्रसिद्ध विद्वानों से सम्पर्क करने का अवसर भी मिला। इसी अवधि में उन्हें अर्थशास्त्र से सम्बन्धित कई सम्पर्क करने का अवसर अर्थशास्त्र के अध्ययन किया। आपने कई सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं से सम्बन्धित लेख भी लिखें समस्याओं के प्रति समझ ने आपको इन्जीनियर से अर्थशास्त्री व समाजशाास्त्री बना दिया। सन् 1882 में पैरेटो के पिता का देहान्त हुआ और उत्तराधिकार में उन्हें लोहे की खानें व पर्याप्त धन-सम्पत्ति मिली अतः जीवनयापन या कमाने की चिन्ता से मुक्त होकर उन्होंने अपने आप को अर्थशास्त्र व समाजशास्त्र के विभिन्न विषयों में लगा दिया। उन्होंने प्रकट किये। पैरेटो प्रोफेसर वालरस के गणितीय अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों से अत्यधिक प्रभावित हुए और उनके कहने से 1893 में स्विट्जरलैण्ड के लोसान विश्वविद्यालय में राजनीतिक अर्थशास्त्र के प्राध्यापक बन गये। इसी विश्वविद्यालय में मुसोलिनी उसका शिष्य रहा था। 1897-98 में आपने राजनीतिक अर्थशास्त्र व समाजशास्त्र दोनों ही विषयों को पढ़ाया।

सन् 1900 में पैरेटो अस्वस्थ हो गये और चार वर्ष तक उन्हें छुट्‌टी लेनी पड़ी, छुट्‌टी से लौटने पर वे अर्थशास्त्र के साथ-साथ समाजशास्त्र भी पढ़ाने लगे। बदलाव का उल्लेख करते हुए आपने कहा कि सामाजिक घटनाओं का वास्तविक अध्ययन तभी सम्भव है जबकि उन्हें दूसरी घटनाओं से सम्बन्धित मानकर उसका अध्ययन किया जाय। 1909 में दिल की बीमारी के कारण आपने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया और जिनेवा के पास ग्राम में जाकर रहने लगे। यहीं पर आपने अपनी अधिकांश श्रेष्ठ कृतियों की रचना की और 1923 में आपका स्वर्गवास हुआ। पैरेटो के विचारों पर प्रभाव डालने वालों में उनके पिता, अर्थशास्त्री वालरस, जे. एल. मिल आदि प्रमुख थे। उनके विचारों में मौलिकता होने के कारण अन्य समाजशास्त्रियों का उन पर प्रभाव नहीं पड़ा।

NOTES

पैरेटो की कृतियाँ (Works of Pareto)

पैरेटो की प्रमुख कृतियाँ अग्रांकित हैं।

(1) 'कोर्स डी इकॉनामी पॉलीटिक' (Course of Economic Politique) के प्रथम व द्वितीय भाग क्रमश: 1857 व 1897 में प्रकाशित हुए।

(2) लेस सिस्टमस् सोशियलिस्ट्स् (Les Systemes Socialistes), 1903.

(3) मैनयुअल डी इकोनोमिया पॉलीटिका (Manuale d' Economia Politica) 1906.

(4) ट्रेरेटो डी सोशियोलॉजिया जनरल (Trattato di Sociologia generale) 1919- यह पुस्तक पहले तीन खण्डों में प्रकाशित हुई जिसका 1935 में The Mind and Society' नाम से चार खण्डों में प्रकाशन हुआ।

(5) द रूलिंग क्लास इन इटली बिफोर 1900 (The Ruling Class in ltaly before 1900) – इसका प्रकाशन 1950 में इनकी मृत्यु के बाद हुआ।

पैरेटो का पद्धतिशास्त्र (तार्किक प्रयोगात्मक पद्धति)

गणित और भौतिकशास्त्र का विद्यार्थी होने एवं इंजीनियर होने के कारण इन सभी का पैरेटो के चिन्तन पर प्रभाव पड़ा और उन्होंने अपने सिद्धान्तों में गणनात्मक पद्धति का प्रयोग किया। उन्होंने समाजशास्त्र को विज्ञान बनाने के लिए गणित के प्रयोग को आवश्यक माना। वे गणित को विज्ञान की भाषा मानते थे पेरेटो से पूर्व के वैज्ञानिकों ने इस बात पर बल दिया। कि समाजशास्त्र को विज्ञान बनाने के लिए उसे भौतिक विज्ञानों की पद्धति को अपनाना चाहिए। लेकिन पैरेटो ने इस विचार को विरोध किया। उन्होंने कॉम्ट एवं स्पेन्सर का भी इसी आधार पर विरोध किया था। पैरेटो का मत था। कि समाजशास्त्र एक स्वतन्त्र विज्ञान है अत: इसके सिद्धान्तों का निर्माण भी अपने विषय क्षेत्र में तथ्यों के अवलोकन तथा परीक्षण के आधार पर विरोध किया और कहा कि प्रत्येक विज्ञान की अपनी ही अध्ययन पद्धति होनी चाहिए।

पैरेटो वैज्ञानिक समाजशास्त्र का निर्माण करना चाहते थे जिसकी अध्ययन पद्धति भी वैज्ञानिक होगी। उनकी अध्ययन पद्धति को 'तार्किक प्रयोगात्मक पद्धति' कहा गया जिसके तीन प्रमुख तत्व हैं निरीक्षण, तथ्युक्ता या वैषयिक अनुभव तथा इसके आधार पर निकाले गये तर्कयुक्त निष्कर्ष। एक वैज्ञानिक समाजशास्त्री अनुभवों के आधार पर सामाजिक घटनाओं का अध्ययन करता है उन्हें निरीक्षण और प्रयोग की कसौटी पर परखता है तथा इस प्रकार अध्ययन से प्राप्त समान तथ्यों को खोजता है, उनके आधार पर नियमों का

NOTES

निर्माण करता है। जिन तथ्यों एवं घटनाओं का अध्ययन अवलोकन एवं परीक्षण के आधार पर नहीं किया जा सकता उन्हें समाजशास्त्र के क्षेत्र से बाहर ही रखा जाना चाहिए। यह हो सकता है कि इस पद्धति के द्वारा प्राप्त परिणाम सामान्य प्रचलित धारणाओं के विपरीत हों लेकिन यही एक मात्र पद्धति है जिसके द्वारा सत्य तक पहुँचा जा सकता है। परेटो के अनुसार विज्ञन का उद्देश्य सत्य कि तक पहुँचना है। यह सत्य समाज के लिए चाहे स्वर्ग का निर्माण करे अथवा नरक का पैरेटो ने सत्य और उपयोगिता को अलग-अलग करने का प्रयत्न किया।

पैरेटो की तार्किक-प्रयोगात्मक पद्धति प्राकृतिक विज्ञानों की पद्धति के अनुरूप ही होगी जो जटिल घटनाओं को सरल घटलाओं के रूप मुं प्रस्तुत करेगी। जटिल को सरल बनाना ही विज्ञान की कसौटी है। वैज्ञानिक सत्य तक पहुँचने के लिए हमें धार्मिक, नैतिक मानवीय तथा राष्ट्रीय भावना से ऊपर उठकर केवल वैज्ञानिक आधार पर ही अनुसंधान करना होगा समाजशास्त्र में अनुमान, कल्पना, दर्शन एवं अन्धविश्वासों का कोई स्थान नहीं होगा।

पैरेटो ने सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में एकतरफा कारणों पर बल न देकर विभिन्न घटनाओं की पारस्परिक निर्भरता पर जोर दिया। पैरेटो कहता है कि चूँकि वास्तविक सामाजिक तथ्य स्थिर नहीं होते, परिवर्तनशील एवं सापेक्ष होते हैं, अत: समाजशास्त्रीय नियम भी परिवर्तनशील एवं सापेक्ष होगें। अत: कोई भी पूर्ण सत्य नहीं हैं पूर्ण सत्य को स्वीकार करने का अर्थ हैं सामाजिक घटनाओं एवं तथ्यों की गतिशीलता और बदलाव को अस्वीकार करना। अत: समाजशास्त्र के कोई भी निष्कर्ष अन्तिम (Final) नहीं होते। समयानुसार एवं नये तथ्यों की खोज से उनमें परिवर्तन होते रहते हैं; उनमें संशोधन सम्भव है।

पैरेटो का मत है कि समाजशास्त्र में 'क्या है' का वर्णन होगा न कि 'क्या होगा' और 'क्या होना चाहिए' का। इसमें सभी पूर्व प्रचलित धारणाओं (Pre-con-ceptions) को अस्वीकार कर सामाजिक घटनाओं की पुष्टि तथ्यों के आधार पर की जायेगी। इसमें सामाजिक घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर उनका अध्ययन किया जायेगा तथा गुणातमक तथ्यों के स्थान पर संख्यात्मक तथ्यों के आधार पर घटनाओं का विश्लेषण किया जायेगा। वैज्ञानिक समाजशास्त्र में सामाजिक घटनाओं में पायी जाने वाली समानताओं के आधार पर सामाजिक नियमों का प्रतिपादन किया जायेगा। इसका उपदेश देना या सामाजिक नियोजन करना नहीं है।

अपने उपर्युक्त पद्धतिशास्त्रीय नियमों के आधार पर पैरेटो ने अपने से पूर्व के सभी समाजशास्त्रियों जैसे कॉम्ट एवं स्पेन्सर आदि के सिद्धान्तों की कटु आलोचना की कहा कि इनके सिद्धान्त रूढ़िवादी अतार्किक, निरपेक्ष, पूर्ण एवं नैतिकता आदि विशेषताओं से ग्रस्त थे, अत: अवैज्ञानिक थे।

समाजशास्त्र एक समन्वयात्मक विज्ञान
(Sociology As A Syntheic Seience)

जैसा कि हम पूर्व कह चुके हैं कि सन् 1900 में पैरेटो बीमार हो गये थे। चार वर्ष पश्चात् जब वे समाजशास्त्र पर व्याख्यान देने लगे। इस परिवर्तन का कारण यह था कि उन्होंने विभिन्न प्रकार की सामाजिक घटनाओं तथा तथ्यों के बीच पायी जाने वाली पारस्परिक निर्भरता और सम्बन्धों को अनुभव किया। वे स्वयं लिखते हैं, ''मेरे राजनीतिक अर्थशास्त्र

के अनुसंधान में कुछ निश्चित बिन्दुओं पर पहुँचने पर इसे आगे चालू रखने में मैं असमर्थता अनुभव करता हूँ। मेरे सामने कई बाधाएँ आयीं एवं उनमें में एक सभी प्रकार की सामाजिक घटनाओं के बीच वास्तव में परस्पर निर्भर सम्बन्धों का पाया जाता था। जिस प्रकार हमारे समय में यह अनुभव हो गया है कि रसायनशास्त्र का सिद्धान्त बिजली के सिद्धान्तों से सम्बन्धित है और इसी प्रकार इसकी विपरीतावस्था में भी, इसलिये यह भी स्पष्ट है कि कोई भी एक सामाजिक विज्ञान अन्य सभी विज्ञानों की सहायता के बिना अधिक प्रगति नहीं कर सकता।''

इस अनुभव के ही पैरेटो समन्वयात्मक समाजशास्त्र की अवधारणा का विकास किया। साथ ही उन्होंने समाजशास्त्र का विभिन्न विशिष्ट विज्ञानों से क्या सम्बन्ध है, इसे भी दर्शाया। पैरेटो कहते हैं कि विभिनन मानवीय एवं सामाजिक घटनाओं का एक साथ एक यसमय में अध्ययन किसी भी एक विज्ञान के द्वारा असम्भव है अत: उनक बारे में सही ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसके विभिन्न विभागों का अध्ययन अलग-अलग विशिष्ट विज्ञानों द्वारा किया जाना चाहिए तत्पश्चात् इन अलग-अलग अध्ययनों को संयुक्त कर घटना के बारे में समन्वयात्मक ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। घटनाओं के अलग-अलग पक्षों का अध्ययन करने वाला विज्ञान समाजशास्त्र है। इस प्रकार विशिष्ट विज्ञान घटना के एक विशिष्ट पहलू का तथा समाजशास्त्र उनका संयुक्त रूप से अध्ययन करता है। इस नाते समाजशास्त्र का अन्य विज्ञानों से घन्ष्ठि सम्बन्ध है कि यह उनके निष्कर्ष का सामान्य समन्वित रूप है। इस अवधारणा के आधार पर पैरेटो विभिन्न सामाजिक घटनाओं के सम्बन्धों को बताना एवं उनकी सादृश्यताओं व समानताओं के आधासर पर समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का निर्माण करना चाहते थे।

इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए पैरेटो ने अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र के सम्बन्धाों पर प्रकाश डाला। अर्थशास्त्र आर्थिक पक्ष ही सभी कुछ नहीं है। इसके अतिरिक्त मानव की भावनाएँ, प्रवृत्तियाँ, पक्षपात, उद्वेग, भावनाएँ आदि का भी मानव के व्यवहार एवं क्रियाओं पर प्रभाव पड़ता है जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इनका प्रभाव आर्थिक क्रियाओं पर भी पड़ता है। लेकिन अर्थशास्त्र इनका अध्ययन नहीं करता। सामाजिक व मानवीय घटनाओं पर समन्वित एवं संयुक्त रूप से अध्ययन तो समाजशास्त्र ही करता है जो अर्थशास्त्र एवं अन्य विज्ञानों के निष्कर्षो का उपयोग करते हुए सामान्य निष्कर्ष निकालता है, विभिन्न घटनाओं में पायी जाने वाली समानताओं के आधार पर समाजशास्त्रीय नियमों का प्रतिपादन करता है। इसप्रकार से विभिन्न सामाजिक विज्ञानों में पायी जाने वाली सादृश्यताएँ और समानताएँ ही समाजशास्त्रीय नियम है। सामाजिक घटनाओं और मानव जीवन का सही ज्ञान प्राप्त करने का उचित उपाय उनका समन्वयातमक अध्ययन है। अत: कोई भी सामाजिक विज्ञान तथा अन्य सामाजिक विज्ञानों की सहायता के बिना उन्नति नहीं कर सकता।

तार्किक एवं अतार्किक क्रियाओं का सिद्धान्त
(Doctrine of Logical and Nonlogical Actions)

पैरेटो ने सामाजिक क्रियाओं को दो प्रमुख भागों में बाँटा-तार्किक क्रियाएँ अतार्किक क्रियाएँ। ये दोनों प्रकार की क्रियाएँ सामाजिक घटना के दो पक्षों पर आधारित हैं एक वैषयिक एवं दूसरा प्रातीतिक। तार्किक क्रियाओं का आधार वैषयिक होता है। जबकि अतार्किक का प्रातीतिक। तार्किक अतार्किक क्रिया को समझने से पूर्व वैषयिक और प्रातीतिक को समझना

आवश्यक है। घटनाएँ जैसे वे वास्तव में हैं, को वैषयिक और पैरेटो कहता है। कि सामाजिक घटना के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए इस प्रकार का विभाजन जरूरी है। इन दोनों को साथ रखकर अध्ययन करना उचित नहीं है। इस भेद को स्पष्ट करते हुए पैरेटो ने उदाहरण दिया है। एक रसायनशास्त्री द्वारा प्रयोगशाला में की जाने वाली क्रियाएँ एवं एक जादूगर द्वारा की जाने वाले क्रियाओं को एक ही श्रेणी में नहीं रख सकते। क्योंकि रसायनशास्त्री बिना किसी स्वार्थ के क्रिया करता है, उसका आधार वैषयिक है अत: वह वैज्ञानिक है। लेकिन जादूगर की क्रिया में उसका स्वार्थ निहित है, अत: वह प्रतीतिक या व्यक्तिनिष्ठ है जिसे वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता है पैरेटो मानते हैं कि फिर भी यह भेद कोई बहुत अधिक स्पष्ट नहीं है और इनके बीच विभाजन की एक स्पष्ट व दृढ़ रेखा खींची जा सकती।

पैरेटो ने तार्किक और अतार्किक क्रिया को स्पष्ट करने के लिए साधन और साध्य का सहारा लिया। हमें साध्य को प्राप्त करने के लिए साधनों का प्रयोग करना पड़ता है। किस साध्य के लिए कौन-सा साधन अपनाना पड़ेगा यह हमारी क्रिया की प्रकृति पर निर्भर करता है। साध्य की प्राप्ति के लिए जिस प्रकार की क्रिया हम करना चाहेंगे, उसके अनुरूप ही हमें साधन अपनाने होंगे। अत: साध्य और साधनों का औचित्य क्रियाओं के द्वारा तय होता है। यदि ये क्रियाएँ साधनों एवं साध्यों से तार्किक रूप से सम्बन्धित हैं तो ऐसी क्रियाओं की प्रकृति वैषयिक कही जायेगी। इसके विपरीत कुछ कार्य ऐसे होते हैं जो साधनों एवं साध्यों से तार्किक रूप ये सम्बन्धित नहीं होते उनकी प्रकृति व्यक्तिनिष्ठ होती है। इस प्रकार पैरेटो के अनुसार वे कार्य जिनका आधार वैषयिक है, तर्क संगत क्रियाएँ कहलाती है जिनका आधार व्यक्तिनिष्ठ प्रातीतिक होता है वे अतार्किक क्रियाएँ हैं पैरेटो के ही अनुसार, ''हम उन क्रियाओं को तार्किक क्रियाएँ कहेंगे जो तर्कयुक्त रीति से साध्यों का साथ सम्बन्धित हैं, केवल उस कर्त्ता की दृष्टि से ही नहीं जो क्रिया सम्पन्न करता है वरन् उनकी दृष्टि से भी जो अधिक व्यापक ज्ञान रखते हैं।'' तार्किक क्रियाओं को लक्ष्य और साधनों के दृष्टि से भी जो अधिक व्यापक ज्ञान रखते हैं।'' तार्किक क्रियाओं को लक्ष्य और साधनों के दृष्टि से भी जो अधिक व्यापक ज्ञान रखते हैं।'' तार्किक क्रियाओं को लक्ष्य और साधनों के साथ सामंजस्य के आधार पर समझाया जा सकता है। अतार्किक क्रियाओं को साध्य और साधन के सामंजस्य से समझा तो सकते हें किन्तु इसके लिए भ्रांत-तर्क दिये जाते हैं ऐसे तर्क होते हैं नहीं। पेरेटो का मत है कि समाजशास्त्र की अध्ययन वस्तु में केवल ये ही क्रियाएँ होनी चाहिए। जो वैषयिक या वस्तुनिष्ठ हैं। पैरेटो द्वारा वर्णित दोनों क्रियाओं को हम इस प्रकार समझ सकते हैं।

(1) तार्किक क्रियाएँ (Logical Actions)—तार्किक क्रियाएँ वे होती हैं जिनमें तार्किक आधार पर साध्य और साधन के बीच सामंजसय स्थापित होता है तथा इनका आधार अनुभव, प्रयोग एवं तर्क होता है। ये क्रियाएँ अनुभव सिद्ध होने के कारण वास्तविक एवं प्रामाणिक मानी जाती है। इनमें कल्पना और पुर्वानुमान का कोई स्थान नहीं होता। इनका सम्बन्ध मूर्त एवं वास्तविक जगत से होता है अत: इनका परीक्षण और प्रयोग सम्भव है। अत: ये विज्ञान के क्षेत्र में आती हैं।

(2) अतार्किक क्रियाएँ (Non-Logical Actions)—पैरेटो के अनुसार क्रियाएँ जिनमें साधन और साध्यों के बीच सामंजस्य नहीं पाया जाता अतार्किक क्रियाएँ कहलाती हैं। ये भावना तथा अनुमान पर आधारित होती है अत: उनका औचित्य, अवलोकन,

परीक्षण और प्रयोग के द्वारा सम्भव नहीं है। अतः ये विज्ञान के क्षेत्र में नहीं आतीं।

परेटो कहता है कि मानव समाज में सर्वत्र ही और सभी युगों में तर्क संगत क्रियाओं का नहीं वरन् अतार्किक ही होती है क्योंकि मानव अपने वास्तविक जीवन में कल्पना, भावनाओं, अनुमानों तथा व्यक्तिनिष्ठता से ही अधिक काम करता है। अपनी इन क्रियाओं के औचित्य को सिद्ध करने के लिए वह अनेक युक्तियाँ भी देता है। उदाहरण के लिए समाज में पाये जाने वाले निषेधों को उचित ठहराने के लिए ईश्वरीय आज्ञा और अनेक पौराणिक गाथाओं का सहारा लेता है जबकि वास्तविकता यह है कि ये एक विशिष्ट मानसिक अवस्था की उपज होते हैं जो तर्कसंगत नहीं कहे जा सकते। धर्म और दर्शन क्षेत्र की अधिकांश क्रियाएँ भी अतार्किक होती है। तार्किक क्रियाओं की अपेक्षा समाज में अतार्किक क्रियाओं का अधिक महत्व है। पैरेटो के अनुसार तर्क इतना कमजोर कोई प्रभावशाली आचरण का निर्धारण नहीं किया जा सकता।

लेकिन इन सबका यह तात्पर्य नहीं कि अतार्किक क्रियाएँ निरर्थक व हानिकारक होती हैं फिर भी इन्हें हम विज्ञान की सामग्री नहीं मान सकते। ये उपयोगी भले ही हों। लेकिन इनमें सत्यता नहीं होती है और जो अनुभव सिद्ध एवं तर्कसंगत नहीं है उसे विज्ञान के क्षेत्र में सम्मिलित नही किया जा सकता, क्योंकि समाजशास्त्र एक विज्ञान है और समाजशास्त्रीय अध्ययन में सामाजिक घटनाओं को जानने के केवल तर्कसंगत तार्किक क्रियाओं का ही सहारा लिया जाना चाहिए।

पैरेटो की अवशेषों की अवधारण (Pareto's Concept of Residues)

पैरेटो ने 'Treatise on General Sociology' नामक अपनी पुस्तक में अवशेषों की धारण का उल्लेख किया है। अवशेषों या विशिष्ट चालकों की अवधारणा पैरेटो के सामाजिक विचारों में विशिष्ट स्थान रखती है। सामाजिक सन्तुलन को बनाये रखने वाले कारकों में इनका महत्वपूर्ण स्थान है। समाज व्यवस्था का सन्तुलन इसके सदस्यों के व्यवहार प्रतिमानों क्रियाओं तथा अन्य लक्षणों पर निर्भर है। मानव की क्रियाएँ अधिकांशतः चालकों पर निर्भर है इन चालकों में जो स्थायी चालक हैं उन्हें ही अवशेष या विशिष्ट चालक कहते हैं। ये अवशेष या विशिष्ट चालक न तो मूल प्रवृत्ति है और न भावना ही, वरन् यह मूल प्रवृत्ति एवं या भावना न होकर उनकी अभिव्यक्ति होते हैं। (3) अवशेषों में न तो तार्किक तत्व होते हैं और न ही उनकी तार्किक आधार पर व्याख्या की जा सकती है।

पैरेटो मानव व्यवहार को समझने में अवशेषों को बहुत उपयोगी मानते हैं अवशेषों की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए सोरोकिन लिखते हैं ''मानवीय क्रियाएँ बहुत अधिक सीमा तक उनके चालकों के लक्षणों पर निर्भर करती है। इन चालकों में विशेष महत्वपूर्ण वे हैं जो अपेक्षाकृत स्थायी होते हैं। इन्हें पैरेटो अवशेष कहता है। अवशेष न तो मूल प्रवृत्तियाँ हैं और व निश्चित रूप से संवेग ही।''

अवशेषों के प्रकार (Types of Residues)

पैरेटो ने सभी प्रकार के अवशेषों को निम्नांकित छः प्रमुख भागों में बाँटा है—

(1) संयोजन या सम्मिलन के अवशेष— इसके अन्तर्गत परस्पर समान या विरोधी तत्वों को मिलाने वाले अवशेष आते हैं इसमें समानता का नियम कार्य करता है जिसमें सभी वस्तुओं को समानता के आधार पर मिलाया जाता है। इस प्रकार के

NOTES

संयोजन या सम्मिलन का कोई तार्किक आधार नहीं होता। परस्पर समान बातों का मेल हम कई प्रकार से करते हैं उदाहरण के लिए कुछ जनजातियाँ मानती हैं कि धुआँ करने, पहाड़ से पत्थर लुढ़काने एवं बलि से वर्षा होता है क्योंकि धुआँ बादलों के समान एवं पत्थरों की आवाज बादलों के गड़गड़ाहट के समान तथा बलि दिये जाने वाले प्राणी के आँसू वर्षा के समान है। जादूगर दुश्मन को हानि पहुँचाने के लिए उसका पुतला बनाकर उसमें सुइयाँ चुभोते हैं इस प्रकार के विश्वासों का कोई तार्किक आधार नही होता।

(2) **समूहों के स्थायित्व के अवशेष**—ये वे प्रेरणाएँ हैं जो विभिन्न व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों को चाहे वे जीवित या मृत हों को जोड़ते हैं। ये अवशेष स्थिर होते हैं तथा इनका पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरण होता है। लोगों के मन में इनके प्रति सम्मान होता इन्हीं अवशेषों के आधार पर हम अपने परिवार, देश, जाति, प्रजाति के सदस्यों के साथ अपने सम्बन्ध बनाये रखते हैं। अपने मृत पूर्वजों की समाधि पर पुष्प चढ़ाते है महापुरुषों की जयन्तियाँ मनाते हैं, उनक जन्म स्थानों के दर्शन के लिए जाते हैं इन अवशेषों का समूह की स्थिरता, संगठन और स्थायित्व बनाये रखने में महत्वपूर्ण स्थान होता है।

(3) **बाह्य क्रियाओं द्वारा संवेगों की अभिव्यक्ति के अवशेष**—इस प्रकार के अवशेष हमारी भावनाओं एवं संवेगों को बाह्य क्रियाओं द्वारा अभिव्यक्त करने के लिए प्रेरित करते हैं। उदाहरण के लिए हम अपनी राष्ट्रीयता की भावना की अभिव्यक्ति राजनीतिक आन्दोलन के रूप में तथा धार्मिक भावनाओं की अभिव्यक्ति पूजा, पाठ और प्रार्थना के रूप में करते हैं।

(4) **सामाजिकता के अवशेष**— इस प्रकार के अवशेष समाज में साथ-साथ रहने, समाज में व्यवस्था व शान्ति बनाये रखने कै प्रेरित करते हैं। इस प्रकार के अवशेष मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी बनाते हैं, उसे अपने व्यवहारों को अन्य लोगों के व्यवहारों के समान बनाने कर प्रेरणा देते हैं। यही कारण है कि एक व्यक्ति जिस सामाजिक समूह का सदस्य होता है उसके रीति-रिवाज व प्रथाओं का पालन करता है। इन अवशेषों की अभिव्यक्ति दया, क्रूरता, त्याग, परोपकार, श्रेष्ठता और समूह में एकरूपता लाने के लिए प्रेरित करते हैं।

(5) **व्यक्ति एकता के अवशेष**—ये वे चालक है जो व्यक्तित्व सम्बन्धी विभिन्न गुणों को एकीकृत करने के लिए प्रेरित करते हैं। इन चालकों का स्वरूप हमें उस समय देखने को मिलता है जब कोई व्यक्ति सामाजिक सन्तुलन को नष्ट करने का प्रयास करता है। ये चालक ही व्यक्तित्व के विभिन्न और बिखरे हुए तत्वों को मिटकर व्यक्तित्व को उन्नत करने की प्रेरणा देते हैं। ये हमें समाज में होने वाली नैतिकता का विरोध करने की प्रेरणा देते हैं।

(6) **काम सम्बन्धी अवशेष**—इस श्रेणी के अन्तर्गत प्रेरणाएँ आती हैं जिनका सम्बन्ध का वासना और लिंग भावना से होता है। कभी-कभी इन्हें नियन्त्रित करने के लिए यौन सम्बन्धी निषेधों को भी लागू करना पड़ता है।

पैरेटो का मत है कि उपर्युक्त सभी अवशेष प्रत्येक समाज में पाये जाते हैं। इन्हें समझकर ही हम मानव व समाज के व्यवहार को समझ सकते हैं। ये अवशेष विभिन्न व्यक्तियों और

समूहों में अलग-अलग मात्राओं में होते हैं। समाज में परिवर्तन के साथ-साथ इनमें भी परिवर्तन होता रहता है।

अवशेषों का महत्व (Significant of Residues)

पैरेटो ने अवशेषों के महत्व को इस प्रकार समझाया है—

(1) अवशेष मानवीय व्यवहार और क्रियाओं का निर्धारण एवं संचालन करते हैं तथा समाज में व्यवस्था और सन्तुलन बनाने में सहायक होते हैं।

(2) अवशेष हमें कुछ विशेष व्यवहारों क्रियाओं को स्वीकार या अस्वीकार करने की प्रेरणा देते हैं।

(3) अवशेष मानवीय व्यवहारों को नियन्त्रित करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

(4) अवशेष समूह को स्थायित्व प्रदान करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ये व्यक्तियों को विभिन्न स्थानों, गाँव, देश और मातृभूति से जोड़कर बलिदान करने की प्रेरणा देते हैं।

(5) समाजिकता से सम्बन्धित अवशेष व्यक्ति को सामाजिक प्राणी बनने की प्रेरणा देते हैं।

(6) व्यक्तित्व निर्माण में भी अवशेषों का विशेष महत्व है।

भ्रान्त तर्क की अवधारणा (The Concept of Derivation)

एक सामाजिक प्राणी के रूप में मानव को अनेक प्रकार के कार्य एवं व्यवहार करने पड़ते हैं। मानव की अधिकांश क्रियाएँ अवशेषों द्वारा संचालित एवं नियन्त्रित होती हैं जिन्हें तर्कसंगत नहीं कहा जा सकता। इसका कारण यह है कि अवशेषों का आधार संवेग एवं भावनाएँ होती हैं। व्यक्ति जो भी व्यवहार करता है वह उसे उचित मानता है। लेकिन कई बार अन्य व्यक्ति उसके कार्यो को उचित नहीं मानते। ऐसी स्थिति में वह व्यवहार का औचित्य सिद्ध करने के लिए अपनी प्रकृति, परिस्थितियों और आदर्शो। के अनुसार अनेक प्रकार दलीलें और युक्तियाँ देता है। वह यह सिद्ध करने का प्रयत्न करता है कि वह जो कुछ कर रहा है वह अतार्किक नहीं वरन् तार्किक है। इसी को पैरटो भ्रान्त-तर्क कहता है। ये भ्रान्त-तर्क इस अर्थ में भ्रान्त हैं कि ये सामान्य मत के विरुद्ध होते है, अतार्किक होते हैं तथा अप्रयोग सिद्ध आधारों पर आधारित होते हैं, इसलिये ये हमें त्रुटिपूर्ण निष्कर्षो की ओर ले जाते हैं। भ्रान्त तर्को को परिभाषित करते हुए फेयरचाइल्ड लिखते हैं, "भ्रान्त तर्क क्रियाओं का वह व्यापक क्षेत्र है जिसके द्वारा मनुष्य व्यवहार को तार्किकता या औचित्य के सम्बन्ध में स्वयं अपने तथा अपने साथियों को समझाने का प्रयास करते हैं।"

पैरेटो भ्रान्त तर्क का अपशेषों की अपेक्षा अधिक अस्थिर, विविध, परिवर्तनीय तथा परस्पर विरोधी मानते हैं। पैरेटो के तार्किक प्रयोगात्मक विज्ञान मे भ्रान्त तर्को का कोई स्थान नहीं है। क्योंकि भ्रान्त तर्को। के आधार पर वैज्ञानिक निष्कर्षो। को प्राप्त नहीं किया जा सकता, वे अर्थ वैज्ञानिक होते है। कर्ता अपनी समझ में चाहे किसी भी तरह से अपने व्यवहार के औचित्य को सिद्ध करने के लिए तर्क प्रस्तुत करें लेकिन वास्तव में वे उचित वे सत्य नहीं होते। भ्रान्त तर्को। को उनकी सत्यता व असत्यता के आधार पर स्वीकार या अस्वीकार नहीं किया जाता वरन् इसलिये किया जाता है कि वे हमारी भावनाओं और संवेगों के अनुकूल

या प्रतिकूल होते हैं। प्रचार, विज्ञापन, फैशन सामान्यत: भ्रान्त तर्को। के आधार पर ही होते हैं न कि वैज्ञानिक आधारों पर।

पैरेटो का मत है कि उनसे पूर्व के अधिकांश सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा अन्य सिद्धान्त अधिकांशत: भ्रान्त तर्को। पर आधारित थे इसलिये वे अवैज्ञानिक, अतार्किक, उपदेशात्मक और सिद्धान्त ही थे। इस आधार पर उन्होंने अपने समय के प्रसिद्ध सामाजिक विचारकों जैसे स्पेन्सर, समजर, हेनरीमैन आदि के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को भी अस्वीकार किया। पैरेटो की मान्यता है कि संगठन, न्याय, समानता प्रजातन्त्र, समाजवाद, राष्ट्रीयता मानवता का धर्म आदि के सम्बन्ध में प्रतिपादित अवधारणाएँ और सिद्धान्त भ्रान्त तर्को। पर ही आधारित हैं अत: वे अवैज्ञानिक हैं।

भ्रान्त तर्को के प्रकार (Types of Derivations)

पैरेटो ने भ्रान्त तर्को को निम्नांकित चार श्रेणियों में विभाजित किया है—

(1) घोषणाएँ, (2) अधिकार या सत्ता, (3) संवेगों के साथ अनुकूलता, (4) मौखिक प्रमाण।

(1) **घोषणाएँ**—इसी श्रेणी के अन्तगर्त वे भ्रान्त तर्क आते हैं जिन्हें रूढ़ियों एवं प्रथानुकूल कथनों से स्वीकृति प्राप्त होती है। इन्हें स्वीकार कर लेते हैं। इनके समर्थन में काल्पनिक या यथार्थ तथ्य प्रस्तुत किये जा सकते है लेकिन वैज्ञानिक आधार पर उन्हें जाँचा नहीं जा सकता। जो कथन बार-बार दोहराये जाते हैं वे असत्य होते हुए भी सत्य प्रतीत होते हैं। जिस प्रकार शक्ति अथवा सत्ता के साथ घोषणाएँ की जाती हैं लोग उनका विरोध नहीं कर पाते और उन्हें उचित मानकर स्वीकार कर लेते हैं।

(2) **अधिकार अथवा सत्ता**—इसके अन्तर्गत के भ्रान्त-तर्क आते हैं जिनके पीछे कोई शक्ति या सत्ता होती है। प्रतिष्ठित व्यक्ति द्वारा दिये गये भ्रान्त-तर्को को भी लोग इसलिए ही स्वीकार कर लेते हैं कि वे अधिकार व्यक्ति द्वारा कहे गये हैं। इसी प्रकार से एक क्षेत्र के अधिकारी व्यक्ति की बात दूसरे क्षेत्र में भी उनकी प्रतिष्ठा के कारण स्वीकार कर ली जाती है। क्योंकि सत्ता के आधार पर वह अपने तर्क के औचित्य को सिद्ध करने का प्रयास करता है। हम प्रथा और परम्पराओं को उनकी सत्ता के कारण ही स्वीकार करते हैं। हम धर्म और धार्मिक नियमों को भी इसीलिये स्वीकार करते हैं। क्योंकि उनके पीछे ईश्वर की शक्ति और सत्ता होती है।

(3) **संवेगों के साथ अनुकूलता**—इसके अन्तगर्त वे भ्रान्त-तर्क आते हैं जो भावनाओं और संवेगों पर आधारित होते हैं कई ऐसे नेतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक और वैज्ञानिक नियम हैं जो संवेगों पर आधारित हैं। ये भ्रान्त-तर्क अवैज्ञानिक व काल्पनिक होते हुए भी लोगों की भावनाओं को छूते हैं, अत: लोग इन्हें तार्किक मानकर उनका पालन करते हैं। संवेगों पर आधारित भ्रान्त-तर्क व्यक्ति, कानून अथवा ईश्वर से सम्बन्धित हो सकते हैं।

(4) **मौखिक प्रमाण**—इस प्रकार की श्रेणी मे वे तर्क आते हैं जिनका औचित्य व्यक्ति मौखिक प्रमाणों के आधार पर सिद्ध करने का प्रयास करता है। इन मौखिक प्रमाणों में मिथ्या तर्क अनिश्चित, अस्पष्ट और सन्देहत्मक बातें आती हैं जो वास्तविकता के अनुरूप नहीं होती। इस श्रेणी के व्यवहारों को प्रामाणिक ठहराने के लिए व्यक्ति के पास मौखिक प्रमाणों तर्क के अतिरिक्त और कोई आधार नहीं होता।

पैरटो कहते है कि चूँकि भ्रान्त-तर्क सत्य नहीं होते, वैज्ञानिक नहीं होते लेकिन इनका यह अर्थ नहीं कि वे समाजोपयोगी नहीं होते। कई भ्रान्त-तर्क ऐसे भी हैं जो समाज में संगठन, एकता और व्यवस्था बनाये रखने में सहायक होते हैं। जबकि कई सत्य समाज को विघटित कर देते हैं। पैरेटो कहते हैं कि यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक सत्य उपयोगी हो और प्रत्येक अन्धविश्वास हानिकारक।

अभिजात वर्ग का सिद्धान्त (Theory of Elite)

सामाजिक विचारधारा के क्षेत्र में अभिजात वर्ग की अवधारणा पैरेटो की प्रमुख देन मानी जाती है। अंग्रेजी के Elite शब्द का हिन्दी में अनुवाद अनेक रूपों में किया गया है जैसे अभिजन अभिजात, वर्ग, विशिष्टजन या श्रेष्ठजन आदि। पैरेटो ने अभिजात वर्ग की अवधारणा का उल्लेख अपने मौलिख ढंग से किया है। उसके अनुसार प्रत्येक समाज में सामाजिक असमानता तथा संस्तरण पाया जाता है। प्रत्येक समाज में हमें दो वर्ग देखने को मिलते हैं एक शासक वर्ग तथा संस्तरण पाया जाता है। प्रत्येक समाज में हमें दो वर्ग देखने को मिलते हैं एक शासक वर्ग और दूसरा शासित वर्ग। ये दोनों वर्ग क्रमशः उच्च व निम्न वर्ग के प्रतीक हैं। पहले वर्ग को ही अभिजात वर्ग, विशिष्ट जन कहते हैं। इस वर्ग के हाथ में सत्ता होती है जिसके जोर पर ये समाज का संचालन करते हैं। यह वर्ग प्रभावशाली होता है और इसके सदस्यों में उच्च बुद्धि, चरित्र, कुशलता और क्षमता के गुण पाये जाते हैं। दूसरा वर्ग वह है जिसे हम सामान्यजन (Mass) कहते हैं।

विशिष्टजन को परिभाषित करते हुए पैरेटो लिखते हैं कि प्रत्येक मानवीय क्रिया (जैसे न्यायलय, व्यापार, कला, राजनीति आदि) में अगर हम व्यक्तियों की गतिविधियों अथवा विशिष्टजन कहें जायेंगे। पैरेटो के ही शब्दों में, ''जिन लोगों को किस विशिष्ट अभिजात गतिविधि के क्षेत्र में सर्वोच्च अंक मिले, यदि उनका एक वर्ग बनाया जाये तो उसे अभिजात वर्ग कहा जायेगा।'' इस प्रकार पैरेटो अभिजात वर्ग विशिष्टजन में उन लोगों को सम्मिलित करता है जो समाज उच्च पर धारण किये हुए होते हैं, शासन करते हैं और जो बुद्धिमान, चतुर, कुशल, समर्थ होते हैं हम आर्थिक राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक सभी क्षेत्रों में समाज के श्रेष्ठजनों को देख सकते हैं।

गायतानों मोस्का नामक विद्वान ने 'विशिष्ट जन' तथा 'जन-साधारण' शब्दों का प्रशेग विशेष अर्थ में किया है। आपके अनुसार, ''सभी समाजों में उन समाजों में जिनसे सभ्यता का विकास अभी बहुत ही कम हुआ है, से लेकर अत्यधिक विकसित एवं शक्तिशाली समाजों में दो प्रकार के वर्ग पाये जाते हैं—शासक वर्ग एवं शसित वर्ग। प्रथम वर्ग, जो संख्या की दृष्टि से अल्पसंख्यक होता है, सब प्रकार के राजनीतिक कार्यो को सम्पादित करता है सारी शक्ति या सत्ता पर एकाधिकार रखता है और इसके सभी लाभों का आनन्द उठाता है, जबकि दूसरा वर्ग जो संख्या की दृष्टि बहुसंख्यक है, प्रथम वर्ग द्वारा कभी वैधानिक तरीके से तो कभी स्वेच्छानुसार पूर्ण एवं हिंसक तरीके से निर्देशित और नियन्त्रित होता है।''

स्पष्ट है कि अभिजात-वर्ग या विशिष्ट जन इन व्यक्तियों का एक वर्ग है जो कि राजनीतिक सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से अन्य लोगों की तुलना में उच्च स्थिति रखते हैं। विशिष्ट जन कई प्रकार के होते हैं, जैसे शासक वर्ग, विशिष्टजन, बुद्धिजीवी वर्ग, मैनेजर, उच्च अधिकारी सैनिक अधिकारी आदि।

पैरेटो ने अभिजात वर्ग को दो भागों में बाँटा है—

(i) शासक अभिजात

(ii) गैर शासक अभिजात

शासक अभिजात में उन लोगों को सम्मिलित किया जाता है जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में प्रशासन से सम्बन्धित होते हैं। ये व्यक्ति समाज के प्रतिष्ठित पदों पर आसी होते हैं और महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। गैरशासक अभिजात वर्ग में उन व्यक्तियों को सम्मिलित किया जाता है जिनका सम्बन्ध प्रशासन से तो नहीं होता है परन्तु वे समाज में ऐसे पदों की धारणा किये होते हैं जो प्रशासन को प्रभावित करते हैं। इसमें सेना, व्यापारिक क्षेत्र तथा धार्मिक संगठनों में सर्वोच्च पद धारणा करने वालों को सम्मिलित किया जाता है। पैरटों ने राजनीतिक, आर्थिक, बौद्धिक आदि सभी क्षेत्रों में अभिजात वर्ग का उल्लेख किया है।

परेटो के अभिजात-वर्ग या विशिष्टजन की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(i) अभिजात-वर्ग में उन व्यक्तियों को सम्मिलित किया जाता है जो सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि क्षेत्रों में सर्वोच्च पद पर आसीन हों।

(ii) अभिजात-वर्ग को शासक और शासित दो भागों में बाँटा गया है।

(iii) अभिजात-वर्ग सार्वभौमिक है और सभी समाजों में पाया जाता है।

(iv) अभिजात-वर्ग समाज में स्थिर नहीं रहता वरन् उसमें परिभ्रमण होता रहता है।

अभिजात-वर्ग पर परिभ्रमण (Circulation of Elites)

पैरेटो ने अभिजात-वर्ग के परिभ्रमण की अवधारणा प्रस्तुत की है। चूँकि प्रत्येक समाज में स्तरण पाया जाता है, उच्च और निम्न वर्ग पाये जाते हैं, अत: व्यक्तियों का उच्च वर्ग से निम्न वर्ग से उच्च वर्ग में, शासक वर्ग से शासित वर्ग में और शासक-वर्ग में आनाजाना, ऊपर उठना या नीचे गिरना या परिभ्रमण होता ही रहता है। इसका कारण है कि कोई भी वर्ग नहीं होता है, उसमें थोड़ी-बहुत गतिशीलता पायी ही जाती है। उच्च वर्ग या शासक वर्ग निम्न वर्ग या शासित वर्ग के लोगों को उच्च वर्ग शासक वर्ग में सम्मिलित होने से रोकने का प्रयाय सदैव करता रहा है परन्तु फिर भी एक वर्ग से दूसरे वर्ग में आना-जाना या परिभ्रमण समाज में होता ही रहा है। इसकी गति तीव्रता एक समाज से दूसरे समाज में और एक समय से दूसरे समय में भिन्न-भिन्न हो सकती हौ।

जब कोई अभिजात-वर्ग या इसके कुछ व्यक्ति बुद्धि, कुशलता, चरित्र आदि की दृष्टि से गिर जाते हैं। या कमजोर पड़ जाते हैं या परिस्थितियों वंश अभिजात-वर्ग के लोगों की संख्या काफी कम हो जाती है, तो उनका स्थान भरने के लिए शासित वर्ग के बुद्धिमान वर्ग में सम्मिलित हो जाते हैं। उच्च वर्ग या शासक वर्ग के जो लोग वाँछित योग्यता या कुशलता बनाये नहीं रख सकते। वे कालान्तर में शासित या निम्न वर्ग में पहुँच जाते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक कुलीन वर्ग या अभिजात वर्ग वांछित गुणों की कमी के कारण समाप्त हो जाये और इसके रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए नया कुलीन वर्ग या अभिजात वर्ग उभर कर सामने आये। इतिहास बताता है कि कभी जो राजा-महाराजा थे

जिनसे कुली वर्ग निर्मित होता था, समय के साथ-साथ समाप्त हो गये। प्रजातान्त्रिक व्यवस्था के स्थापित होने से उनका स्थान शासित वर्ग में ही वयस्क मताधिकार के आधार पर चुने हुए नेताओं ने ले लिया। इस प्रकार नये अभिजात वर्ग का निर्माण हुआ।

किसी समय भारत में प्रमुखत: ब्राहण एवं राजपूत ही अभिजात वर्ग में सम्मिलित थे लेकिन समय बदलने के साथ-साथ निम्न जातियों अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के योग्य व्यक्तियों को भी अभिजात-वर्ग में सम्मिलित होने का अवसर मिला। कई ब्राह्मण और राजपूत जाति के लोग जो कभी अभिजात-वर्ग में थे, शासित वर्ग में सम्मिलित हो गये। इस प्रकार शासक वर्ग और शासित वर्ग में, अभिजात वर्ग एवं सामान्य जनता में लोगों का ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर की ओर गमन या परिभ्रमण होता रहता है। इसी को पैरेटो ने अभिजात वर्ग पर परिभ्रमण नाम दिया है।

समाज में शासक तथा शासित वर्गो की संरचना स्थायी नहीं है तथा इनमें परिवर्तन होते रहते हैं। गैर-विशिष्ट जन अर्थात् शासित वर्ग में कुछ लोग अपनी बुद्धि के उच्च स्तर के कारण विशिष्ट-जन या अभिजात-वर्ग में आ जाते हैं जबकि विशिष्ट-जन या अभिजात वर्ग (शासक) के कुछ लोग उत्तम गुणों की कमी के कारण गैर-विशिष्ट-जन वर्ग में आ जाते हैं। पैरेटो ने अभिजात-वर्ग के केवल इस प्रकार के परिभ्रमण की ही बात नहीं की है बल्कि यह भी बताया है कि इस प्रक्रिया के अन्तर्गत एक अभिजात-वर्ग का स्थान दूसरा अभिजात-वर्ग ले लेता है। यह प्रक्रिया सदैव चलती रहती है और इसी को पैरेटो ने अभिजात-वर्ग का परिभ्रमण कहा है।

अन्य शब्दों में पैरेटो ने अपने अभिजात वर्ग के परिभ्रमण के सिद्धान्त को इस प्रकार समझाया है। आपका मत है कि अभिजात-वर्ग स्थिर नहीं है वरन् उसमें ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर की ओर परिवर्तन होता रहता और विशेष रूप से अभिजात वर्ग में अधिक बदलाव पाया जाता है। जब उच्च वर्ग या अभिजन लोग अपने गुण खो देते हैं तो वे निम्न वर्ग में आ जाते हैं निम्न वर्ग में भी जो लोग बुद्धिमान और शक्तिशाली होते हैं, वे उच्च वर्ग में आ जाते हैं। इस प्रकार ऊपर से नीचे से ऊपर अभिजातों में परिवर्तन चक्र चलता रहता है। इसे ही पैरेटो 'अभिजात वर्ग का परिभ्रमण' कहता है। इतिहास में हमें कुलीनों एवं अभिजातों के नष्ट होने के अनेक उदाहरण मिलते हैं। इसीलिये पैरेटो 'इतिहास को कुलीन तथ्यों का कब्रिस्तान' कहते हैं।

शासकीय अभिजात लोगों में कालान्तर में समाप्त होने की प्रवृत्ति दिखायी पड़ती है। उनका स्थान नवीन शासकीय अभिजात निरन्तर लेते रहते हैं कुछ पीढ़ियों के बाद पुराने अभिजातों का स्थान नये अभिजात ले लेते हैं। निम्न वर्ग के लोगों में भी बुद्धिमान और विभिन्न गुणों से विभूषित लोगों का एक अनुपात होता है जो कालान्तर में काफी बढ़ जाता है। अत: उच्च वर्ग शासक वर्ग के पास यही विकल्प बचता है कि उनके वर्ग के योग्य व्यक्तियों के चले जाने से जो स्थान खाली होते हैं। उन्हें निम्न वर्ग के रिक्त स्थान निम्न वर्ग मे बने रह सकते हैं अन्यथा नहीं। साथ ही यह बात भी सही है कि शासक वर्ग अपनी शक्ति के बल पर सदैव सत्ता में बने रहते का प्रयत्न करते रहेंगे। वे अनेक प्रतिबन्धों के माध्यम से शासित वर्ग के लोगों को शासक वर्ग में सम्मिलित होने से रोकने का प्रयास भी करते रहेंगे। इसके बावजूद भी अभिजातों के परिभ्रमण की प्रक्रिया चलती ही रहेगी।

अभिजात वर्ग के परिभ्रमण के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख पैरेटो की शिष्य मेरीकोलाबिस्का (Marie Kolabinska) ने किया जिसे पैरेटो ने स्वयं काफी मान्यता दी। अभिजात वर्ग के परिभ्रमण के विभिन्न प्रकार निम्नलिखित हैं—

1. स्वयं शासक अभिजात वर्ग की विभिन्न श्रेणियों के बीच होने वाला परिभ्रमण।
2. अभिजात-वर्ग एवं शेष सामान्य जनता में होने वाला परिभ्रमण। यह परिभ्रमण दो प्रकार से हो सकता है—

   (i) निम्नतर स्तर के व्यक्ति एक-दूसरे से मिलकर नये अभिजात-वर्ग का निर्माण कर सकते हैं जो शक्ति-प्राप्त करने हेतु मौजूदा अभिजात-वर्ग से संघर्ष कर सके।

   अभिजात-वर्ग का परिभ्रमण क्यों होता है, इसके परेटो ने तीन कारण बताये हैं।

   (i) कोई भी वर्ग के लोगों के पास शक्ति होती है, यह शक्ति धीरे-धीरे उन्हें भ्रष्ट कर देती है और उनका पतन हो जाता है।

   (ii) निम्न वर्ग में भी चतुर, बुद्धिमान तथा कुशल व्यक्ति होते हैं जो अपने प्रयासों द्वारा उच्च वर्ग में प्रवेश पाने में सफल हो जाते हैं।

अभिजात वर्ग का विकास उनकी संख्या में कमी होने और उनके गुणों के नष्ट होने के कारण होता है। इस रिक्त स्थान को निम्न वर्ग के श्रेष्ठ व्यक्तियों द्वारा भरा जाता है। कुलीन लोगों की संख्या कम हो जाने पर बिना वंश छोड़े ही संसार से चले जाते हैं। इसका लाभ उठाकर निम्न वर्ग के व्यक्ति सत्ता को अपने हाथ में ले लेते हैं और नवीन अभिजात वर्ग का निर्माण कर लते है। इस प्रकार अभिजात वर्ग का गुणों तथा संख्या के आधार पर परिभ्रमण होता रहता है।

पैरेटो ने अभिजात वर्ग के परिभ्रमण की व्याख्या मानसिक लक्षणों में होने वाले परिवर्तन के आधार पर की है। उनका मानना है कि अभिजात वर्ग व्यवस्थाओं का पतन संख्या की दृष्टि से होने के अतिरिक्त इस दृष्टि से भी होता है कि मौजूदा अभिजात-वर्ग की ताकत घट जाती है, यानि इस वर्ग के लोग जिन मानसिक गुणों के कारण शक्ति प्राप्त करते हैं और उसे अपने पास बनाये रखते हैं, उनमें उन गुणों का अनुपात कम हो जाता है। दूसरी ओर निम्न वर्ग अथवा शासित वर्ग के कुछ लोग अपने मानसिक गुणों के कारण ऊपर उठकर अभिजात-वर्ग में सम्मिलित हो जाते हैं तथा वे शासक वर्ग को पुनः शक्तिशाली बना देते हैं।

पैरेटो के अभिजात-वर्ग के परिभ्रमण के सिद्धान्त की आलोचना टी.वी बॉटोमार ने तीन आधारों पर की है—

(i) पैरेटो ने बताया है कि अवशेष व्यक्तियों की क्रिया एवं व्यवहार चालक हैं। ये अवशेष अभिजात वर्ग के परिभ्रमण में योग देते हैं। परन्तु पैरेटो ने यह स्पष्ट नहीं किया कि अवशेषों में परिवर्तन किस प्रकार और क्यों होता है।

(ii) अभिजात वर्ग के उत्थान पतन के सम्बन्ध में पैरेटो ने जो अध्ययन किया है, जो सामग्री जुटाई है, उसे सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता।

(iii) पैरेटो ने इसका समाधान नहीं ढूँढा कि अभिजात वर्ग में परिभ्रमण एवं समूहों के उत्थान और पतन के बीच क्या सम्बन्ध पाया जाता है।

समालोचनात्मक मूल्यांकन (CRITICAL EVALUATION)

NOTES

एक मनोवैज्ञानिक समाजशास्त्री के रूप में पेरैटो ने जो अवधारणाएँ प्रस्तुत की वे समाजशास्त्र के लिए उनका एक महत्वपूर्ण योगदान है। वास्तविकता यह है कि परेटो ने इटली में मैकाईविले के सामालिक तथा राजनैतिक सिद्धान्तों की परम्परा को कॉम्ट और स्पेन्सर जैसे प्रत्यक्षवादियों के विचारों से मिलाकर सामाजिक विचारधारा को नई दिशा देने का प्रयत्न किया। मैकाइविले से प्रभावित सामाजिक विचारधारा मनुष्य सामाजिक से बँधा हुआ स्वतन्त्र सामाजिक प्राणी मानकार नहीं चलती बल्कि मानव की प्रकृति से सम्बन्धित आन्तरिक प्रेरणाओं को उसके व्यवहारों की कसौटी मानती है। दूसरी ओर प्रत्यक्षवादी विद्वान केवल अवलोकन प्रयोग पर आधारित पद्धति के द्वारा ही मानवीय व्यवहारों का अध्ययन करने पर बल देते हैं पेरेटो मैकाइविले से प्रभावित होकर विशिष्ट चालकों और भ्रान्त तर्को की अवधारणा प्रस्तुत की वहीं उन्होंने तार्किक-प्रयोगात्मक पद्धति द्वारा समाजशास्त्रीय अध्ययन को वैज्ञानिक बनाने का प्रयास किया। इस सम्बन्ध में सॉरोकिन का कथन है कि ''मानवीय क्रियाओं को तार्किक और अतार्किक जैसी दो व्यवस्थित श्रेणियों में प्रस्तुत करके पैरेटो ने उन वास्तवकिताओं को स्पष्ट किया जिनके आधार पर मानव व्यवहारों की अधिक तर्कसंगत व्याख्या की जा सकती हे।

अक्सर यह आरोप लगाया जाता है कि ''पेरेटो का चिन्तन एक फासिस्ट विचारक का चिन्तन है'' लेकिन वास्तविकता यह है कि पैरेटो द्वारा प्रस्तुत अनेक विचार उनके उदारवादी जनजान्त्रिक मूल्यों को भी स्पष्ट करते हैं उनके विचारों में उदारवादी और अधिनायकवादी विचारों के समन्वय को स्पष्ट करते हुए **रेमण्ड एरों** का कथन है कि ''पेरेटो ने आर्थिक आधार पर जो अवधारणाएँ प्रस्तुत की है। वे उदारतावादी है जबकि राजनैतिक अवधारणओं की विवेचना में उनके विचार अधिनायकवादी दिखलायी देते हैं।''

सच तो यह है कि समाजशास्त्र अन्य सामाजिक विज्ञानों के लिए पेरेटो द्वारा प्रस्तुत विशिष्ट चालकों को भ्रान्त तर्को की अवधारणा उनका एक महत्वपूर्ण योगदान है। अभिजन वर्गो के परिभ्रमण के सिद्धांत के द्वारा पेरेटो ने केवल सरकार के उच्च स्तर-समूहों को कार्यात्मक प्रकृति का विश्लेषण किया बल्कि उन चालकों और प्रेरणाओं पर भी प्रकाश डाला जिसके फलस्वरूप अभिजनों की स्थिति में परिवर्तन होता रहता है। सम्भवत: इसीलिए **वार्न्स** ने लिखा है कि पेरटो का योगदान एक वैचारिक युग का प्रतिनिधित्व करता है तथा यह किसी से भी तुलना के परे हैं।

समाजशास्त्र के लिए महत्वपूर्ण योगदान के बाद भी पेरेटो का चिन्तन अनेक दोषों से युक्त माना जाता है। उनका आलोचकों का कथन है कि एक बार पेरेटो स्वयं यह मानते हैं कि तार्किक-प्रयोगात्मक पद्धति द्वारा व्यक्ति के अतार्किक व्यवहारों का अध्ययन करने के लिए हेतु तटस्थ रहना चाहिए लेकिन यह पेरेटो का एक ऐसा कथन है जिसका अनुसरण उन्होंने स्वयं नहीं किया। उनकी पुस्तक **ट्रीटीज** में जो भी अवधारणाएँ प्रस्तुत की गयी हैं, वे भावनाओं तथा मूल्यांकनात्मक निर्णयों से प्रभावित है। **कैलवर्टन** ने लिखा है, ''पैरेटो जब भ्रान्त तर्को की विवेचना करते हैं, तब उनके चिन्तन की सम्पूर्ण प्रणाली स्वयं एक भ्रान्त तर्क की तरह दिखलाई देती है।'' उनकी तार्किक-प्रयोगात्मक पद्धति के सन्दर्भ में वाईन् का कथन है कि पेरेटो ने यद्यपि वैषयिकता को वैज्ञानिकता चिन्तन का आधार माना है लेकिन उनके द्वारा प्रस्तु पद्धतिशास्त्र में वैषयिकता का अभाव है। **सॉरोकिन** का यहाँ तक

NOTES

कथन है कि परेटो द्वारा प्रस्तुत विशिष्ट चालकों और भ्रान्त-तर्क की जिस अवधारणा को समाजशास्त्र के लिए उनका सर्वप्रमुख योगदान माना जाता है वह स्वयं में एक खूबसूरत धोखा है। यह ऐसी अवधारणाएँ हैं जिनकी प्रामाणिकता को स्वयं परेटो द्वारा प्रस्तुत तार्किक-प्रयोगात्मक पद्धति से नहीं जाँचा जा सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि परेटो ने स्वयं ही कुछ विशिष्ट कल्पना की है। इसे कल्पना को सजीवता का आवरण पहना देने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता। कुछ आलोचकों का विचार है कि परेटो द्वारा प्रस्तुत अभिलनों के परिभ्रमण का सिद्धान्त न केवल अपूर्ण है बल्कि यह अभिजनों की गलत श्रेणियों पर आधारित है परेटो ने यह स्पष्ट नहीं किया कि स्वयं शासकीय और गैर-शासकीय अभिजन भी अनेक उप-श्रेणियों से विभाजित है तथा उनकी स्थिति में होने वाला बदलाव किन दशाओं से प्रभावित होता है।

वास्तविकता यह है कि किसी भी विचारक का चिन्तन त्रुटिरहित नहीं हो सकता। परेटो के चिन्तन में भी कुछ दोष अथवा कमियाँ हो सकती है लेकिन परेटो के आलोचकों भी यह मानते है कि मनोवैज्ञानिक आधार पर सामाजिक संस्तरण और मानव व्यवहारों की विवेचना करके परेटो ने समाजशास्त्रीय चिन्तन को एक नई दिशा प्रदान की।

अध्याय का संक्षिप्त सार

इटली के प्रमुख सामाजिक विचारक विलेफ्रेडो परेटो का नाम उन प्रमुख विद्वानों में से एक है। जिन्होंने समाजशास्त्रीय चिन्तन को व्यवस्थित बनाने तथा उसे एक दिशा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। शुरू में एक भौतिकविज्ञानी से अर्थशास्त्री तथा बाद में समाजशास्त्री के रूप में परेटो चिन्तन न केवल बहुमुखी रहा विभिन्न विज्ञानों के बीच एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण को अपनाते हुए उन्होंने जो विचार प्रस्तुत किए उनमें तार्किकता और व्यवहारवाद का एक कुशल समन्वय देखने को मिलता है। अपने आरम्भिक चिन्तन से पेरटो, फासिज्म अथवा अधिनायकवाद के दृढ़ समर्थक थे। यही कारण है कि जिस तरह कार्ल मार्क्स को 'सर्वहारा वर्ग का पैगम्बर' समझा जाता है, उसी तरह इटली मे परेटो को 'फासीवाद का जनक' अथवा पोषक कह देने से ही उनके चिन्तन की वास्तविकता को नहीं समझा जा सकता। परेटो का जीवन बहुत-से-उतार-चढ़ावों से युक्त रहा जिन्हें समझे बिना उनके विचारों को मौलिकता और वैज्ञानिकता को नहीं समझा जा सकता।

परिक्षोपयोगी प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. पैरेटो की वैज्ञानिक समाजशास्त्र की अवधारणा की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
2. पैरेटो की तार्किक तथा अतार्किक क्रियाओं की विवेचना कीजिए।
3. पैरेटो की अवशेषों की अवधारणा को समझाते हुए इसके प्रकारों की व्याख्या कीजिए।
4. अभिजात वर्ग के परिभ्रमण के बारे में पैरेटो के विचारों की विस्तृत विवेचना कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. पैरेटो का पद्धतिशास्त्र क्या है ? स्पष्ट कीजिए।

2. ''समाजशास्त्र एक समन्वयात्मक विज्ञान है।'' इस कथन की पुष्टि कीजिए।
3. भ्रान्त तर्क की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए इसके प्रकार भी स्पष्ट कीजिए।
4. अभिजात वर्ग का सिद्धान्त क्या है ? व्याख्या कीजिए।
5. 'पैरेटो का चिन्तन एक फासिस्ट विचारक का चिन्तन है।'' इस कथन की समालोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

NOTES

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. पैरेटो किस देश के निवासी थे—

   (अ) फ्रांन्स (ब) जर्मनी

   (स) इटली (द) चीन

2. विभिन्न क्षेत्रों में जो लोग सर्वोच्च प्रस्थितियों से सम्बन्धित भूमिकाओं का निर्वाह करते हैं, पैरेटो के अनुसार उन्हें कहा जाता है—

   (अ) अभिजन (ब) पूँजीपति

   (स) व्यापारी (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं

3. ''इतिहास कुलीन तन्त्रों का कब्रिस्तान है।'' यह कथन किसने दिया—

   (अ) कार्ल मार्क्स (ब) पैरेटो

   (स) कैटलिन (द) उपर्युक्त सभी

4. पैरेटो ने शासकीय अभिजात वर्ग की विशेषताओं के आधार पर इसे किस नाम से सम्बोधित किया ?

   (अ) हाथी (ब) हिरन

   (स) चीता (शेर) (द) लोमड़ी

5. पैरेटो के अनुसार समाज के सर्वोच्च वर्ग को कहा जाता है—

   (अ) शासकीय अभिजन (ब) बौद्धिक वर्ग

   (स) पूँजीपति वर्ग (द) सभी

6. अशासकीय अभिजात वर्ग की आर्थिक विशेषताओं के आधार पर पैरेटो ने इन्हें कहा—

   (अ) उद्योगपति (ब) पूँजीभोगी

   (स) सट्टेदार (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं

7. समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिए पैरेटो ने अध्ययन की जिस पद्धति पर बल दिया, उसका नाम है—

   (अ) अवलोकन पद्धति (ब) व्याख्यान पद्धति

   (स) प्रयोगात्मक पद्धति (द) तार्किक प्रयोगात्मक पद्धति

8. पैरोटो ने अभिजात वर्ग को कितने भागों में बांटा है-

(अ) दो (ब) तीन

(स) चार (द) पाँच

9. पैरेटो ने तार्किक प्रयोगात्मक पद्धति के कितने प्रमुख तत्व बताये हैं-

(अ) दो (ब) तीन

(स) चार (द) पाँच

10. पैरेटो ने अवशेषों (विशिष्ट चालकों) को कितने प्रमुख भागों में बांटा है-

(अ) तीन (ब) चार

(स) पाँच (द) छः

11. पैरेटो ने भ्रांत तर्कों को कितने श्रेणियों में विभाजित किया है-

(अ) दो (ब) तीन

(स) चार (द) पाँच

12. पैरेटो ने सामाजिक क्रिया को कितने भागों में बांटा है-

(अ) दो (ब) तीन

(स) चार (द) पाँच

13. पैरेटो समाजशास्त्र के साथ-साथ और किस विषय के विज्ञान थे-

(अ) इतिहास (ब) अर्थशास्त्र

(स) राजनीतिकशास्त्र (द) भूगोल

14. पैरेटो का जन्म कब हुआ था-

(अ) 1846 (ब) 1847

(स) 1848 (द) 1849

15. पैरेटो की मृत्यु कब हुई थी-

(अ) 1920 (ब) 1921

(स) 1922 (द) 1923

उत्तर—1. (स), 2. (अ), 3. (ब), 4. (द), 5. (अ), 6. (ब), 7. (द), 8. (अ), 9. (ब), 10. (द), 11. (स), 12. (अ), 13. (ब), 14. (स), 15. (द)।

●●

9 भारत में समाजशास्त्रीय चिन्तन का विकास

NOTES

अध्याय में सम्मिलित विषय सामग्री

- उद्देश्य
- प्राक्कथन
- अनौपचारिक स्थापना का युग
- समाजशास्त्रीय चिन्तन के उदय का युग
- व्यापक प्रसार का युग
- औपचारिक स्थापना युग
- भारत में समाजशास्त्र के विकास और प्रवृत्तियाँ
- क्या एक भारतीय समाज सम्भव है ?
- अध्याय का संक्षिप्त सार
- परीक्षोपयोगी प्रश्न

उद्देश्य :

इस अध्याय अध्ययन के पश्चात् आप निम्न तथ्यों को समझ सकेंगे—

- प्राक्कथन
- अनौपचारिक स्थापना का युग
- समाजशास्त्रीय चिन्तन के उदय का युग
- व्यापक प्रसार का युग
- औपचारिक स्थापना युग
- भारत में समाजशास्त्र के विकास और प्रवृत्तियाँ
- क्या एक भारतीय समाज सम्भव है ?

प्राक्कथन

ज्ञान का प्रसार होना सभी समाजों की एक सार्वभौमिक विशेषता है। संसार के किसी भी भाग में जो ज्ञान की एक विशेष शाखा विकसित होती है तो किसी-न-किसी रूप में उसे अन्य समाजों द्वारा भी ग्रहण किया जाने लगता है। फ्रांस,जर्मनी, इंग्लैण्ड तथा अमेरिका में जब समाजशास्त्र को एक नये विज्ञान के रूप में विकसित करना शुरू किया गया, तब भारत में भी कुछ समय बाद इसका विकास होने लगा। वास्तविक यह है कि प्रत्येक समाज में जैसे-जैसे व्यक्तियों के अनुभव बढ़ते हैं और उनके सामने नयी-नयी परिस्थितियाँ आती हैं। ज्ञान की प्रत्येक शाखा में विशेषीकरण बढ़ने लगता है। यदि हम एक विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र पर विचार करें तो अधिकांश व्यक्ति इसे इस कारण एक नया विज्ञान मान लेते हैं कि इसके आधुनिक रूप पर निर्धारण हुए अधिक समय व्यतीत नहीं हुआ है। इसके बाद भी यह ध्यान रखना आवश्यक है कि समाजशास्त्र मुख्य रूप से सामाजिक सम्बन्धों प्रक्रियाओं तथा सामाजिक ढाँचे का अध्ययन करने वाला विज्ञान है। समाज के इन पक्षों का अध्ययन भारत में आज से बहुत पहले से होता आया है। इस दृष्टिकोण से समाजशास्त्र का आधुनिक रूप भले ही अधिक पुराना न हो लेकिन इसके विकास का इतिहास हजारों वर्ष पुराना है। इस प्रकार यह जरूरी है कि भारत में समाजशास्त्रीय चिन्तन के विकास को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने के साथ ही वर्तमान में इसके विकास से सम्बन्धित प्रवृत्तियों को समझा जाय।

भारत में समाजशास्त्र के विकास के इतिहास को अनेक स्तरों में विभाजित करके समझा जा सकता है। यह स्तर विभिन्न विद्वानों के अनुसार भिन्न-भिन्न हो सकते हैं लेकिन अध्ययन की सुविधा के लिए यह आवश्यक है कि भारत में समाजशास्त्र के विकास को चार मुख्य भागों में विभाजित करके स्पष्ट किया जाय। इन्हें हम अनौपचारिक स्थापना का युग, समाजशस्त्रीय चिन्तन के उदय का युग, औपचारिक स्थापना का युग तथा व्यापक प्रसार का युग कह सकते हैं।

अनौपचारिक स्थापना का युग (ERA OF INFORMAL ESTABLISHMENT)

भारत में सामाजिक चिन्तन के अनौपचारिक युग का तात्पर्य उस अवधि से है जब यहाँ सामाजिक सम्बन्ध तथा सामाजिक व्यवस्था का व्यापक अध्ययन होने के पश्चात् भी ऐसे अध्ययन वर्तमान समाजशास्त्रीय सिद्धान्त से प्रभावित नहीं थे। इस दृष्टिकोण से प्राचीन भारत में किये जाने वाले सामाजिक अध्ययनों को समाजशास्त्र के विकास के अनौपचारिक युग के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। भारत तमें समाजशास्त्र के विकास यह स्तर सबसे अधिक लम्बा तथा विविधतापूर्ण है। इसका आरम्भ आज से लगभग 4,000 वर्ष पहले वैदिक काल में हुआ था तथा उन्नीसवीं शताब्दी तक यह किसी-न-किसी रूप में बना रहा। **वैदिक काल** भारतीय समाज का यह स्वर्णिम काल तथा जब यहाँ सामाजिक व्यवस्थाओं का निर्माण किया गया था। यह वह समय था जब यूरोप के निवासी अर्द्ध-जंगली अवस्था में रहते थे तब उनके जीवन को संगठित बनाने वाली वहाँ कोई सामाजिक व्यवस्था नहीं थी। इस युग के सामाजिक अध्येताओं ने व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्ध को सुनिश्चित करने के लिए वर्णाश्रम व्यवस्था, संयुक्त परिवार तथा पंचायत जैसी उन्नत व्यवस्थाओं को स्थापित किया। इसके साथ ही सामाजिक सम्बन्धों को अधिक व्यवस्थित

बनाने के लिए कर्म तथा पुरुषार्थ जैसे सिद्धान्तों को विकसित किया गया। इस समय भारत में एक उदार सामाजिक व्यवस्था विकसित हुई जिस प्रत्येक व्यक्ति को अधिक-से-अधिक कर्तव्यों का पालन करके अपनी सामाजिक स्थिति में सुधार करने की प्रेरणा दी गयी। यदि समाजशास्त्र को आज सामाजिक सम्बन्धों तथा सामाजिक ढाँचे का व्यवस्थित अध्ययन माना जाता है तो वैदिक रूप में किये जाने वाले सभी सामाजिक अध्ययनों को समाजशास्त्रीय भावना के निकट मानना जरूरी है।

प्राचीन भारत में व्यक्ति के सामाजिक सम्बन्धों को अधिक व्यवस्थित बनाने के लिए **उपनिषदों की रचना** की गयी। यह अनौपचारिक युग का दूसरा उप-स्तर था। वैदिक काल में व्यक्ति को प्राप्त होने वाली स्वतन्त्रता तथा भौतिक विकास के कारण इस स्तर में यह अनुभव किया जाने लगा कि आध्यात्मिक दर्शन तथा पारलैकिकता में विश्वास करके ही व्यक्ति को अपने कर्तव्यों के प्रति अधिक जागरूक बनाया जा सकता है। इस दृष्टिकोण से अनेक विद्वान् उपनिषद्-काल को भारतीय समाज के इतिहास का 'बौद्धिक काल' मानते हैं क्योंकि इस काल में जीवन के वे महत्वपूर्ण लक्ष्य निर्धारित किये गये थे जो व्यक्ति को सच्चे अर्थों में एक सामाजिक प्राणी बनाते हैं।

ईसा से लगभग 600 वर्ष पहले जब समाज के एक बड़े भाग ने तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था का विरोध करके जैन और बौद्ध धर्मों को अपनाना शुरू कर दिया, तब यहाँ सामाजिक परिवर्तन की एक नयी प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। इस समय समाज दो वर्गों में विभाजित हो गया। एक वर्ग वह था जो पुरानी सामाजिक व्यवस्था के पक्ष में था जबकि दूसरे वर्ग के द्वारा व्यवहार के समताकारी नियमों की स्थापना के साथ कर्मकाण्डों का विरोध को महत्व दिया जाने लगा। इस समय वास्तव में सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक अतिस्थिरता का युग था। इस समय साामजिक व्यवस्था के लिए उत्तरदायी मनीषियों ने सभी वर्ग के लोगों को एक संस्तरण में विभाजित कर दिया तथा अनुलोभ विवाह के नियम का व्यापक किया जिससे कोई भी व्यक्ति वर्ग-व्यवस्था के नियमों का उल्लंघन न कर सके। ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय अनुलोम, वर्ण-विभाजन और अन्तर्विवाह के जो नियम बनाये गये, के केवल एक परीक्षण के लिए थे लेकिन निहित स्वार्थ वाले कुछ समूहों ने अपने एकाधिकार को बनाये रखने के लिए बाद में इन नियमों को स्थायी रूप दे दिया।

ईसा से लगभग 300 वर्ष पहले मौर्य युग में **कौटिल्य** ने अपने ग्रन्थ **'अर्थशास्त्र'** की रचना की। यह वह महान् रचना है जिसमें समाज के सभी वर्गों के कर्त्तव्यों तथा अधिकारों का पुनरावलोकन करके सामाजिक व्यवस्था में व्यापक बदलाव लाने के प्रयत्न किये गये। ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्य युग के बाद से जिन विद्वानों ने अपने अध्ययनों के आधार पर सामाजिक व्यवस्था में नये सिरे से परिवर्तन लाना शुरू किया, वे एक बन्द सामाजिक व्यवस्था के पक्ष में थे। इन विद्वानों को स्मृतिकारों के नाम से जाना जाता है जिसमें **मनु, याज्ञवल्क्य, पाराशर, नारद तथा भृगु** आदि प्रमुख हैं। यद्यपि इन सभी विद्वानों ने अपनी-अपनी स्मृतियों के द्वारा व्यवहार के एक-दूसरे से कुछ भिन्न नियम निर्धारित किये लेकिन इन सभी रचनाओं में मनु के द्वारा लिखित **'मनुस्मृति'** वह सबसे मुख्य पुस्तक है धर्म के आधार पर भारतीय समाज को एक नया रूप देने का प्रयत्न किया गया। आज अध्किांश व्यक्ति मनुस्मृति को एक समानताकारी रचना मानते हैं लेकिन यह सम्भव है कि मनु ने उस समय व्याप्त सामाजिक अस्थिरता को समाप्त करने के लिए एक बन्द

सामाजिक व्यवस्था का पक्ष लिया हो। कुछ भी हो समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से मनुस्मृति सामाजिक सिद्धान्तों का वह भण्डार है जिसमें व्यक्ति और समाज, वर्ण-व्यवस्था, आश्रम, संस्कार, विवाह, परिवार न्याय व्यवस्था, धर्म तथा व्यवहार प्रतिमानों की व्यापक विवेचना की गयी। मनु ने यह समाजशास्त्रीय सिद्धान्त स्वीकार किया कि व्यक्ति सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था के अधीन है तथा सामाजिक व्यवस्था से अलग रहकर उसका अस्तित्व नहीं है। यही वह विचारधारा है जिसे वर्तमान समाजशास्त्री 'समाज का सावयवी विचारधारा' कहते हैं।

मुगल काल में अकबर तथा उनके नवरत्नों के सामाजिक अनुभवों के आधार पर जिस **'आइने-अकबरी'** नामक ग्रन्थ की रचना हुई, उससे भी भारत में मध्यकाल की सामाजिक संस्थाओं, सामाजिक, मूल्यों तथा व्यवहार प्रतिमानों की व्यापक जानकारी मिलती है। विभिन्न धर्मों के बीच समन्वय स्थापित करने के लिए यह एक महत्वपूर्ण समाजशास्त्रीय प्रयत्न था। इसी प्रकार भक्ति काल के विद्वानों ने कवित्व की शैली में उन रूढ़ियों, कुरीतियों और अन्धविश्वासों का विरोध करना आरम्भ किया जो भारतीय सामाजिक संगठन को कमजोर बना रहे थे। इसी काल में यहाँ सिक्ख धर्म की स्थापना हुई जो हिन्दू और मुस्लिम सूफीवाद के समन्वय का अच्छा उदाहरण है। सच तो यह है कि भक्ति काल के इन्हीं विद्वानों के प्रयासों से भारत में समाज-सुधार वह प्रक्रिया शुरू हो सकी जिसे आज भी सामाजिक व्यवस्था के लिए जरूरी माना जा रहा है।

भारत में ब्रिटिश शासन का आरम्भ एक ऐसी महत्वपूर्ण घटना थी जिसने भारतीय समाज की संरचना को व्यापक रूप से प्रभावित किया। नयी प्रशासनिक, शैक्षणिक और आर्थिक शक्तियों ने पुरानी परम्पराओं को कमजोर करना शुरू कर दिया। मैनचेस्टर और लकाशायर के कारखानों में बनी वस्तुओं और कपड़ों के कारखानें यहाँ की हस्तकला और शिल्प उद्योग नष्ट हो गये। अंग्रेजों द्वारा परिवहन और डाक व तार व्यवस्था को आपनाकर लोगों में स्थान-परिवर्तनों की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन किया। आधुनिक शिक्षा के प्रसार के लिए बहुत स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालय स्थापित किये। नयी भूमि व्यवस्था लागू होने से पुराने सामन्तवादी वर्ग राजाओं, तालुकेदारों तथा सामन्तों की ताकत कमजोर होने लगी। इस समय व्यवसाय और रोजगार के अवसर बढ़ाने से समाज में एक मध्यम वर्ग का विकास होना शुरू हुआ तथा विभिन्न क्षेत्रों में इस वर्ग की बहुत सहभागिता के कारण इसकी शक्ति में तेजी से वृद्धि होने लगी।

भारतीय समाज की परम्परागत सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन का एक मुख्य आधार यहाँ 19वीं शताब्दी में होने वाला **समाज सुधार आन्दोलन** है। इस समय बंगाल के प्रमुख सुधारक राजा राममोहन राय ने सती, बाल विवाह, बहुपत्नी विवाह तथा बाल हत्या जैसी कुरीतियों को व्यापक विरोध किया। अपने आन्दोलन संगठित रूप देने के लिए उन्होंने ब्रह्म समाज की स्थापना की। इसके बाद ब्रह्म समाज द्वारा आरम्भ किया गया आन्दोलन मुख्य रूप से नगरों के शिक्षित और जागरूक लोगों तक ही सीमित रहा। इस सयम दया सरस्वती (1824 – 1883) ने आर्य समाज की स्थापना करके हिन्दू धर्म में फैले हुए अन्धविश्वासों कर्मकाण्डों का विरोध करके फिर से वैदिक परम्परा को अपनाने पर जोर दिया। उन्होंने भारत में बड़े पैमाने पर दयानन्द एंग्लो-वैदिक शिक्षा संस्थाओं (डी. ए. वी. स्कूलों तथा

कॉलेजों) की स्थापना करके लड़कों के लड़कियों की शिक्षा के प्रसार कके भी व्यापक प्रयत्न किए। इस शताब्दी में रामकृष्ण मिशन ने समाज के कमजोर वर्गों के प्रति लोगों में जागरूकता पैदा की तथा मानव सेवा को सबसे बड़े धर्म के रूप में स्पष्ट किया।

उपर्युक्त प्रयत्नों के बाद भी भारत में वैदिक काल से लेकर बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों सामाजिक जीवन से सम्बन्धित जो अध्ययन किये गये, उन्हें अनेक आधारों पर समाजशास्त्रीय अध्ययन माना जाता। इसका कारण यह है कि वैदिक काल से लेकर मध्य काल तक भारत में जो भी सामाजिक अध्ययन किये गये, उनका आधार सामाजिक न होकर धार्मिक था। दूसरी बात यह है कि इन अध्ययनों के द्वारा संसार की वास्तविक दशाओं पर अधिक ध्यान न देकर कुछ आदर्श दशाओं की कल्पना की गयी जो समाजशास्त्री भावना के अनुरूप नहीं है। समाजशास्त्र एक तटस्थ विज्ञान है लेकिन प्राचीन भारत में अधिकांश सामाजिक व्यवस्थाओं का निर्माण कुछ पक्षपातपूर्ण मनोवृत्तियों के आधार पर किया गया। विभिन्न अध्ययनों के आधार पर जिन व्यवस्थाओं को लागू करने का प्रयत्न किया गया, वे इतनी परस्पर विरोधी थीं कि उनके आधार किन्हीं सामान्य सिद्धान्तों को विकसित करना सम्भव नहीं था। इन आरोपों के बाद भी यह ध्यान रखना आवश्यक है कि विचारों की भिन्नता का तात्पर्य यह नहीं है कि तत्कालीन सामाजिक अध्ययनों को अवैज्ञानिक मान जाय। धार्मिक सन्दर्भ में स्पष्ट की जाने वाली सामाजिक व्यवस्थाओं को भी गैर-समाजशास्त्रीय नहीं कह सकता। वास्तव में, धर्म प्रत्येक समाज की संस्कृति का आधार होता है तथा सामाजिक व्यवस्था की विवेक संस्कृति से हटकर नहीं की जा सकती। इसके बाद भी यह सह है कि सामाजिक दृष्टिकोण से भारत में शताब्दी से लेकर 19वीं शताब्दी तक का समय एक ऐसे 'अन्धयुग' को स्पष्ट करता है जिसमें अपने सामाज जीवन के प्रति लोगों की जागरूकता का पूर्ण अभाव हो गया। यही वह काल था जब पश्चिम के विचार अपनी सामाजिक व्यवस्थाओं का अध्ययन करने में हमसे बहुत आगे निकल गये।

समाजशास्त्रीय चिन्तन के उदय का युग
(ERA OF EMERGENCE OF SOCIOLOGICAL THINKING)

भारत में ब्रिटिश राज के अन्तर्गत होने वाले परिवर्तन एवं भक्तिकाल के समाज सुधार आन्दोलन के प्रयास से समाज में अनेक ऐसी दशाएँ पैदा हुई जिन्हें हम भारत के लिए 'पुनर्जागरण का काल' कह सकते हैं। समय समाज का एक वर्ग संस्कृत-साहित्य से जुड़ा हुआ था जबकि दूसरी ओर अंग्रेजी शिक्षा के कारण शिक्षित वर्ग की परम्परागत मान्यताओं में तेजी से परिवर्तन होने लगा। इसके परिणामस्वरूप भारत में समाजशास्त्रीय चिन्तन का उदय एक ऐसी दशा में होना आरम्भ हुआ जिसमें परम्परा और आधुनिकता के बीच एक दुविधा स्पष्ट रूप से दिखायी देती है। सामान्य रूप से परम्परा का अर्थ है पुरानी रीति-रिवाजों, नैतिक, मूल्यों और आदर्शों के आधार पर विचार करना जबकि आधुनिकता का सम्बन्ध तर्कपूर्ण विचारों, समानता और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को अधिक महत्व देने से है।

भारत के सबसे पहले सामाजिक विचारक **आनन्द कुमार स्वामी** ने समाजशास्त्रीय चिन्तन के लिए परम्परा को अधिक महत्वपूर्ण माना लेकिन साथ ही यह भी स्पष्ट किया कि परम्परा का तात्पर्य उन आधारभूत मूल्यों से है जो भारत तथा पश्चिमी देशों के लिए समान

रूप से महत्वपूर्ण है। उन्हें एक ऐसा आदर्शवादी विचारक माना जाता है जो ईश्वर में विश्वास और मानवीय गुणों को सामाजिक विकास के लिए जरूरी मानते थे। उन्होंने विवेकानन्द, अरविन्द और रवीन्द्रनाथ टैगोर से विचारों के आधार पर यह स्पष्ट किया कि भारतीय समाज की महानता उसकी आध्यात्मिकता में है। भारत की आध्यात्मिक आत्मा को पुन: जीवित करके ही हम अपने पिछड़ेपन और दरिद्रता को दूर कर सकते हैं।

समाजशास्त्रीय चिन्तन के आरम्भिक विचारकों में **बिनाय कुमार सरकार** का नाम भी बहुत महत्वपूर्ण है। उनके अनुसार भारत में परम्परा की जड़ें धर्म और आध्यात्मिकता में हैं। उन्होंने अपने विचारों के द्वारा भारत की परम्परागत धर्मनिरपेक्षता को स्पष्ट करते हुए यह लिखा कि भारत का सामाजिक चिन्तन इस तरह से होना जरूरी जिसमें धर्मनिरपेक्ष पहलुओं को समावेश है। आनन्द कुमार स्वामी की तुलना में बिनाय कुमार सरकार के विचार अधिक तर्कपूर्ण माने जाते हैं। वह इस विचार से सहमत नहीं थे कि सभी पश्चिमी देश पूरी तरह भौतिकवादी हैं और भारतीय समाज अध्यात्मवादी है। उन्होंने लिखा कि भारत में सांस्कृतिक इतिहास से यह स्पष्ट होता है कि यहाँ आध्यात्मिकता के साथ भौतिकवादी दृष्टिकोण को भी हमेशा महत्व दिया गया। इस आधार पर उन्होंने स्पष्ट किया कि भारत के शिक्षित लोगों के लिए यह आवश्यक है कि वे अपने तर्कसंगत और धर्मनिरपेक्ष अतीत को पुनर्जीवित करके विभिन्न चुनौतियों का सामना करें।

प्रसिद्ध समाजशास्त्रीय **जी. एस. घुरिये** तथा **राधाकमल मुकर्जी** भी स्पष्ट रूप से भारत की संस्कृत परम्परा से प्रभावित थे। उन्होंने आधुनिकता को एक ऐसे साधन के रूप में स्पष्ट किया जिसकी सहायता से भारतीय परम्परा को वर्तमान जरूरतों के अनुसार बदला जा सकता है। इसी दृष्टिकोण से उन्होंने विभिन्न अध्ययनों के आधार पर ऐसी अवधारणाएँ प्रस्तुत करना शुरू की जिनमें परम्परा के साथ आधुनिकता के लक्षणों को समावेश स्पष्ट रूप से दिखायी देता है। इस सम्बन्ध में जाने-माने समाजशास्त्री **डी. पी. मुकर्जी** का उल्लेख करना भी जरूरी है। वह यह मानते थे कि यद्यपि परम्परा और आधुनिकता के बीच एक संघर्ष दिखायी देता है लेकिन वास्तव में यह दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। इन तीनों आरम्भिक भारतीय समाजशास्त्रियों के योगदान को हम आगे स्पष्ट करेंगे लेकिन यह ध्यान रखना आवश्यक है कि भारतीय समाजशास्त्र के आरम्भिक स्वरूप और विकास पर परम्परा और आधुनिकता से सम्बन्धित विचारों का ग्रहरा प्रभाव पड़ा। इसका कारण मुख्य रूप से अमेरिका और यूरोप में विकसित होने वाले समाजशास्त्र का प्रभाव था।

भारत में समाजशास्त्रीय चिन्तन के उदय का एक कारण यह भी था कि अंग्रेजी शासकों को भारत के रीति-रिवाजों, व्यवहार के तरीकों और सामाजिक संस्थाओं को समझना जरूरी था क्योंकि इसे वे अपने प्रशासन को चलाने के लिए सुविधाजनक मानते थे। इसी कारण ब्रिटिश शासकों ने शुरू से ही भारत के विभिन्न समुदायों, क्षेत्रीय संस्कृतियों और सांस्कृतिक इतिहास के बारे में व्यापक अध्ययन करवाने आरम्भ किये। इस कार्य में मैक्समूलर हरबर्ट रिजले, जे. एस. हट्टन तथा विल्सन का योगदान काफी महत्वपूर्ण माना जाता है। आज भी अनेक समाजशास्त्रीय अध्ययनों में इनके द्वारा दिये गये निष्कर्षों को एक प्रमाणिक सन्दर्भ के रूप में देखा जाता है।

औपचारिक स्थापना का युग (ERA OF FORMAL ESTABLISHMENT)

भारत में समाजशास्त्र के विकास का यह युग बीसवीं शताब्दी के शुरू में सन् 1947 तक का माना जा सकता है। इसे हम 'औपचारिक स्थापना का युग' इसलिए कहते हैं कि इसी युग में यहाँ पश्चिमी देशों के समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर समाजशास्त्र का विकास होना शुरू हुआ। वास्तव में, बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में फ्रांस और जर्मनी के अतिरिक्त अमेरिका तथा इग्लैण्ड में समाजशास्त्रीय अध्ययनों में जितनी से प्रगति हुई, वह भारत के लिए भी एक आकर्षक का विषय बन गया। बीसवीं शतग्दी में आरम्भ में भारत ब्रिटिश से ही प्रभातिव रहा। इसके फलस्वरूप भारत में समाजशास्त्र के वर्तमान सिद्धान्तों का अध्ययन सब वहले बम्बई विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र विभाग के अन्तर्गत समाजशास्त्र विषय का अध्ययन-अध्यापन आरम्भ हुआ। सन् 1919 में बम्बई विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र के पृथक विभाग की स्थापना की गयी जिसका अध्यक्ष ब्रिटिश समाजशास्त्र पैट्रिक गिड्स (partric Geddes) को नियुक्त किया गया। सन् 1920 में प्रोफेर बृजेन्द्रनाथ शील जब मैसूर विश्वविद्यालय के उप-कुलपति नियुक्त हुए तब आपके प्रयास से सन् 1920 से स्नातक में लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा अर्थशास्त्र विभाग के अन्तर्गत समाजशास्त्र विषय का अध्यापन आरम्भ हुआ। जी. एस धुरिये को 'भारत में समाजशास्त्र का जनक' कहा जाता है। भारतीय समाजशास्त्रीय विभाग अध्यक्ष बने। 1934 में यही उन्हें भारत में समाजशास्त्र का प्रथम प्रोफेसर होने का गौरव मिला। एम. एन. श्रीनिवास आई देसाई जैसे प्रमुख समाजशास्त्री उन्हीं के शिष्य रहे। सन् 1928 से मैसूर विश्वविद्यालय में श्रीमती इरावती कर्वे की अध्यक्षता में समाजशास्त्र विभाग सन् 1939 में स्थापित हुआ इस समय बम्बई विश्वविद्यालय सहित अनेक दूसरे विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र को एक स्वतन्त्र विषय के रूप में मान्यता देकर इसमें सम्बन्धित पृथक विभागों की स्थापना की जाने लगी। इस कार्य में जी. एस. घुरिये, राधाकमल मुखर्जी धुर्जटी प्रसाद मुकर्ज विनय कुमार सरकार, निर्मल कुमार बोस, प्रोफेसर वाडिया इरावती कर्वे तथा डी. एन. मजूमदार का योगदान उल्लेखनीय था।

भारत में समाजशास्त्र के औपचारिक स्थापना-युग की प्रमुख विशेषता यह थी कि इस युग में समाजशास्त्र किसी-न-किसी रूप में अर्थशास्त्र, मानवशास्त्र तथा सामाजिक दर्शन जैसे विषयों में सम्बद्ध रहा। यही कारण कि आरम्भ में यहाँ जिन विद्वानों ने समाजशास्त्र के विकास में अपना योगदान करके इसे लोकप्रिय बनाने प्रयत्न किया, वे मूल रूप से अर्थशास्त्री अथवा मानवशास्त्री ही थे। इसके फलस्वरूप समाजशास्त्र के सिद्धान्त पर अर्थशास्त्र और मानवशास्त्र के सिद्धान्तों का व्यापक प्रभाव पड़ा। इंग्लैण्ड में मानवशास्त्रियों ने भी भारत समाजशास्त्र के विकास को अपने अध्ययनों के द्वारा प्रभावित किया। दूसरा तथ्य यह है कि इस युग समाजशास्त्र का विस्तार तो होने लगा लेकिन प्रतियोगी परीक्षाओं तथा सरकारी स्तर पर इस विष्याय को अधिक मान्यता न मिलने के कारण इसके पृथक महत्व को स्वीकार नहीं किया जा सका।

व्यापक प्रसार का युग (ERA OF WIDE EXPANSION)

समाजशास्त्र के विकास में इस युग का आरम्भ सन् 1947 में स्वतन्त्रता प्राप्त होने के समय में हुआ स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारत में केवल शिक्षा को अधिक व्यावहारिक बनाने के प्रयत्न किये जाने लगे बल्कि उन विषयों को भी अधिक महत्व दिया जाने लगा जिनकी

सहायता से भारतीय समाज का नये सिरे पुनर्गठन करना सम्भव था। फलस्वरूप देश के अधिकांश विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र विभाग स्थापना करके इससे सम्बन्धित अध्यापन और शोध-कार्यो को बढ़ाने का प्रयत्न किया जाने लगा। आज के अधिकांश विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र को एक प्रमुख विषय के रूप में देखा जाता है। इस समय विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र का अध्ययन-अध्यापन हो रहा है। उनमें दिल्ली, मुम्बई, चेन्नई कोलकाता जे. एन. यू. चण्डीगढ़ तथा वाराणसी विश्वविद्यालय प्रमुख है। मध्य प्रदेश तथा छत्तीसगढ़ में आज भोपाल, जबलपुर विक्रम, जीवाजी, इन्दौर, सागर, अवधेश प्रताप सिंह, बिलासपुर और रायपुर विश्वविद्यालय समाजशास्त्र के है। उत्तर प्रदेश के सभी विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र को सबसे अधिक महत्वपूर्ण और प्रतिष्ठित विषय के में देखा जाात है।बिहार में पटना, दरभंगा मुजफ्फरपुर, बोध गया, भागलपुर तथा राँची समाजशास्त्र के मुख्य केन्द्र है। इनके अतिरिक्त, गुजरात कर्नाटक, नागपुर उम्मानिया, बड़ौदा, पूना उत्कल, रोहतक तथा कुरुक्षेत्र जैसे विश्वविद्यालय में भी समाजशास्त्र की लोकप्रियता तेजी से बढ़ रही है।

प्रसार के वर्तमान युग में समाजशास्त्र केवल अध्ययन की दृष्टि से ही एक महत्वपूर्ण विषय नहीं हैं बल्कि समाजशास्त्र के क्षेत्र में किये जाने वाले शोध कार्यो को भी व्यापक रूप से मान्यता मिलने लगी। वर्तमान समाजशास्त्री विकास का मॉडल नयी-नयी शाखाएँ अमेरिका विकसित हो रही है तो दूसरी ओर उन विषयों के अध्ययन को महत्व दिया जाने लगा है जो व्यावहारिक रूप से उपयोगी हों। आज अनेक सरकारी विभाग अपने कार्यक्रमों का मूल्यांकन करने के लिए विभिन्न विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र विभागों की सहायता ले रहे है। चिकित्सा के क्षेत्र में भी समाजशास्त्रियों की सेवाओं का लाभ उठाया जा रहा है। समाजशास्त्र के विकास के लिए अनेक शोध संस्थाओं की स्थापना की गयी है। प्रशासनिक स्तर की प्रतियोगी परीक्षाओं में समाजशास्त्र विषय को लेकर सफल होने वाले विद्यार्थियों ने यह सिद्ध कर दिया है। कि मानविकी के क्षेत्र में समाजशास्त्र सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथा उपयोगी विषय है। भारत में आज समाजशास्त्र का विकास जिस तेजी के साथ हुआ है, उसके आधार पर यह आशा की जा सकती है कि भविष्य में होन वाले शोध कार्य की सहायता से यह विषय और अधिक लोकप्रिय तथा उपयोगी बन सकेगा।

भारत में समाजशास्त्र के विकास की प्रवृत्तियाँ
(TRENDS OF THE DEVELOPMENT OF SOCIOLOGY IN INDIA)

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में भारत में समाजशास्त्र के विकास को देखने के साथ ही यह जानना भी है कि यहाँ समाजशास्त्र के विकास से सम्बन्धित वर्तमान प्रवृत्तियाँ क्या हैं ? भारत में समाजशास्त्र के विकास का इतिहास बहुत छोटा होने के कारण यहाँ एक-दूसरे से भिन्न विचारधाराओं के आधार पर समाजशास्त्र को विकसित किया जा रहा है। कुछ विद्वान वे हैं जो पूर्णतया पश्चिमी सिद्धान्तों के आधार पर भारत में समाजशास्त्र को विकसित करना चाहते हैं, जबकि अनेक विद्वान ऐसे हैं जिनके अनुसार भारत में समाजशास्त्र का विकास भारतीय समाज की जरूरतों और यहाँ की संस्कृति के आधार पर होना चाहिए। एक तीसरी विचारधारा यह है कि पश्चिती और भारतीय विचारधारा का समन्वय करके ही यहाँ समाजशास्त्र को अधिक विकसित किया जा सकता है। इन तीनों विचारधारा के आधार पर भारत में समाजशास्त्र के विकास की प्रवृत्तियों को निम्नांकित रूप समक्ष जा सकता है।

प्रथम विचारधारा

NOTES

भारत मे इस विचारधारा से सम्बन्धित समाजशास्त्रियों की संख्या सबसे अधिक है। इनका विश्वास है कि **पश्चिमी विद्वानों द्वारा विकसित अध्ययन पद्धतियों तथा समाजशास्त्र के सिद्धान्तों की सहायता** लेकर ही भारत में समाजशास्त्र का अधिक विकास किया जा सकता है। इस पश्चिमी परम्परा से प्रभावित विद्वानों द्वारा किये जाने वाले अध्ययनों को संक्षेप में निम्नाकिंत रूप से समझा जा सकता है।

(1) पश्चिमी विचारधारा से प्रभावित भारतीय समाजशास्त्रियों में अधिकांश विद्वान वे हैं जिन्होंने परिवार, विवाह, जाति, धर्म तथा सामाजिक वर्ग जैसे विषयों पर कार्य किया है। इनमें घुरिये, रिजले, कापड़िया, इरावती डी. एन. मजूमदार तथा श्रीनिवास आदि के नाम मुख्य है रिजले मजुमदार तथा हट्टन ने भारत की जाति-व्यवस्था का व्यापक अध्ययन करके इसके आधार पर यहाँ की सामाजिक संरचना को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया। दूसरी ओर इरावती कवें तथा के. एम. कापाडिया ने विवाह, परिवार और नातेदार जैसी संस्थाओं की विवेचना करके पश्चिमी और भारतीय सामाजिक संरचना की तुलना करने का प्रयास किया है। इन सभी विद्वानों की अध्ययन पद्धति तथा व्याख्या की पद्धति ब्रिटिश समाजशास्त्र से प्रभावित है। इसका सबसे स्पष्ट रूप एस. एन. श्रीनिवास द्वारा दक्षिण भारत में कुर्ग समाज में व्याप्त धार्मिक विश्वासों के अध्ययनों के रूप में देखने को मिलता है।

(2) इस वर्ग में एक श्रेणी उन विद्वानों की है जिन्होंने ग्रामीण अध्ययन करके भारतीय समाज की प्रकृति को स्पष्ट करने प्रयास किया है। इस सम्बन्ध में प्रोफेसर एस. सी. दुबे, प्रोफेसर श्रीनिवास तथा प्रोफेसर डी. एन. मजुमदार द्वारा किये गये अध्ययन बहुत महत्वपूर्ण हैं। यह अध्ययन मुख्यत: इंग्लैण्ड और अमेरिका के उन मानवशास्त्रियों से प्रभावित है जो व्यापक क्षेत्र में किये जाने वाले अध्ययन की अपेक्षा एक छोटे क्षेत्र के सम्पूर्ण अध्ययन को अधिक उपयोगी मानते हैं।

(3) पश्चिमी विचारधारा से प्रभावित तीसरी प्रवृत्ति उन विद्वानों की है जिन्हें मूलत: सामाजिक अर्थशास्त्री माना जा सकता है इन विद्वानों में डॉ. राधाकमल मुखर्जी तथा डॉ. डी. पी. मुखर्जी प्रमुख है। डॉ. राधाकमल। इस स्थिति में उन्होंने आर्थिक सिद्धान्तों को सामाजिक सिद्धान्तों से जोड़ते हुए समाजशास्त्र को एक नयी दिशा देने का प्रयत्न किया। आपने 'अर्थशास्त्र का संस्थापक सिद्धानत' (Institutional Theory of Economics) प्रतिपादन करके यह बताया कि आर्थिक जीवन तथा सामाजिक मूल्य एक-दूसरे से सम्बन्धित पर जोर दिया, यद्यपि बाद में उनकी विचारधारा में परिवर्तन हो गया।

दूसरी विचारधारा

भारत में समाजशास्त्र के विकास से सम्बन्धित दूसरी विचारधारा यह है कि पश्चिमी सिद्धान्तों और अध्ययनों पद्धतियों के आधार पर भारत में समाजशास्त्र का समुचित विकास नहीं किया जा सकता। भारत में आज एक ऐसे समाजशास्त्र की आवश्यकता है जो यहाँ

के परम्परागत सिद्धान्तों तथा मूल्यों पर आधारित हो। इस वर्ग के समाजशास्त्रियों की आवश्यकता है जो यहाँ के परम्परागत सिद्धान्तों तथा मूल्यों पर आधारित हो। इस वर्ग के समाजशास्त्रियों में कुमार स्वामी, डॉ. भगवान दास, प्राफेसर नर्मदेश्वर प्रसाद, ए. के. सरन, केवल मोटवानी, पी एच. प्रभु तथा सच्चिदानन्द आदि प्रमुख है। **डॉ. भगवान दास** तथा **कुमार स्वामी** ने स्पष्ट किया कि भारतीय समाज जब कभी भी विघटनकारी तत्वों से प्रभावित हुआ, तब इसी के अन्दर से एक नयी संस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ जिसका अध्ययन समाजशास्त्रियों द्वारा किया जाना चाहिए। यदि हम पश्चिमी सिद्धान्तों का अनुकरण करेंगे तो यहाँ एक ऐसी संस्कृति विकसित हो सकती है जो यहाँ के लिए अधिक अनुकुल न हो। इसका तात्पर्य यह है कि भारत में समाजशास्त्र को एक 'भारतीय समाजशास्त्र' के रूप में विकसित करना जरूरी है इस दृष्टिकोण से कुमार स्वामी ने भारतीय संस्कृति के प्रतीकों का व्यापक अध्ययन करके उनकी समाजशास्त्रीय उपयोगिता को स्पष्ट किया।

भारतीय सिद्धान्तों का समाजशास्त्र में महत्वपूर्ण स्थान मानते हुए **ए. के. सरन** ने भारतीय समाज की सामाजिक संरचना को यहाँ के सामाजिक मूल्यों के आधार पर स्पष्ट करने का प्रयत्न किया, जबकि **प्रोफेसर नर्मदेश्वर प्रसाद** ने ऐसिहासिक तथा सांस्कृतिक आधार पर भारत की जाति व्यवस्था का व्यापक अध्ययन करके यह प्रमाणित किया कि भारतीय समाज में अध्ययन का क्षेत्र इतना व्यापक है कि अभी हमें पश्चिमी समाजों की ओर देखने की आवश्यकता नहीं है। **पी. एच. प्रभु** ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तर **'हिन्दु सोशल आर्गनाइजेशन'** भारतीय सामाजिक संस्थाओं की सूक्ष्म विवेचना करके उनकी उपयोगिता पर प्रकाश डाला, जबकि **सच्चिदानन्द** ने भारतीय समाज में उभरने वाली उन वर्तमान प्रवृत्तियों को स्पष्ट किया जो हमारे समाज में व्यापक परिवर्तन पैदा कर रही है। यह सच है कि इस वर्ग के समाजशास्त्रियों ने भी किसी-न-किसी रूप में पश्चिमी विद्वान द्वारा विकसित अध्ययन पद्धतियों की सहायता ली है लेकिन फिर भी इनके विचार भारतीय संस्कृति को अधिक महत्व देने के पक्ष में हैं। वास्वविकता यह है कि भारत में समाजशास्त्र के विकास से सम्बन्धित यह विचारधारा अधिक प्रभावपूर्ण नहीं बन सकी क्योंकि कुछ समाजशास्त्रियों को यह डर था कि भारतीय समाज और संस्कृति की विवेचना तक ही सीमित रह जाने से यहाँ समाजशास्त्र का अधिक विकास नहीं हो सकेगा।

तीसरी विचारधारा

भारत में समाजशास्त्र के विकास से सम्बन्धित तीसरी विचारधारा यह है कि **पश्चिमी तथा भारतीय विचार का समन्वय करना** हमारे लिए अधिक उपयोगी हो सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि पश्चिम के समाजशास्त्रियों द्वारा विकसित सिद्धान्तों और अध्ययन पद्धतियों की सहायता से भारतीय समाज की संस्थाओं तथा संरचना को समझने का प्रयत्न किया जाय।

इस विचारधारा के आधार पर सर्वप्रथम **प्रोफेसर डी. पी. मुखर्जी** ने यह स्पष्ट किया कि भारतीय सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति ओर समाज की पुन: व्याख्या करने के लिए यहाँ की परम्पराओं का अध्ययन करना बहुत जरूरी है। उन्होंने स्पष्ट किया कि पश्चिम के प्रभाव से भारत में सामाजिक परिवर्तन की एक नयी प्रक्रिया सन्दर्भ में किया जाना चाहिए।

इसके बाद में प्रोफेसर मुखर्जी ने संस्कृति का अध्ययन करने के लिए मार्क्सवादी विधि को उचित नहीं माना। उन्होंनें व्यक्ति के व्यवहार के लिए सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था को उत्तरादायी मानते हुए उसके अध्ययन पर बल दिया। इसके पश्चात् भी यह सच है कि भारत में एक लम्बे समय तक इस विचारधारा को अधिक महत्व नहीं मिल सका।

सन् 1960 के दशक में अनके गोष्ठियों में जब 'भारतीय समाजशास्त्र' के विकास से सम्बन्धित विषय पर चर्चा आरम्भ हुई तब अनेक भारतीय तथा पश्चिमी विद्वान यह मानते है कि पश्चिम की अध्ययन पद्धतियों के आधार पर भारतीय सामाजिक संस्थाओं तथा परिवर्तन की प्रक्रियाओं के अध्ययन से ही समाजशास्त्र का अधिक विकास किया जा सकता है। इसके परिणामस्वरून **डॉ. आर. एन. सक्सेना** ने पुरुषार्थ अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को सभी मानवीय सम्बन्धों का आधार मानते हुए समाजशास्त्र में इनके अध्ययन पर बल दिया। उन्होंने स्पष्ट किया कि ''भारतीय समाजशास्त्रियों ने उन विचारों पर अधिक ध्यान नहीं दिया जो सबसे अधिक प्राचीन ही नहीं बल्कि भारत में व्यक्ति और उसके जीवन समझने के लिए आवश्यक भी है। धार्मिक आन्दोलनों न इन विचारों को और अधिक समृद्ध बनाया है। इस दृष्टिकोण से यह आवश्यक है कि ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भारत के उन सामाजिक विचारों और तथ्यों को ज्ञात किया जाय जिन्होंने ऐसे विचारों को स्थिर बनाने के साथ ही इनमें उपयोगी परिवर्तन भी पैदा किये हैं।'' इन परम्परा का निर्वाह करते हुए **प्रो. योगेन्द्र सिंह** ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Modemization of Indian Traditions' में परम्परा तथा आधुनिकता के समन्वय को स्पष्ट करते हुए भारतीय समाज की अनुपमता को स्पष्ट किया। साथ ही अपनी पुस्तक 'The man' में उन्होंने मानव की अवधारणा को भारतीय परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट किया। इस समय **प्रोफेसर एम. ए. राव** ने परिवर्तन की एक प्रक्रिया के रूप में भारत में होने वाले सामाजिक आन्दोलनों के विभिन्न रूपों को विस्तार मे विवेचना की तथा पिछड़े वर्गो से सम्बन्धित उन समस्याओं को उठाया जिनका भारतीय समाज को संरचना से घनिष्ठ सम्बन्ध है। उनकी पुस्तक 'Social Movement and Soial Transformation' समाजशास्त्र के साहित्य में अत्यधिक महत्वपूर्ण मानी जाती है।

क्या एक भारतीय समाजशास्त्र सम्भव है ?
(IS AN INDIAN SOCIOLOGY POSSIBLE ?)

जब हम ऐतिहासिक तथा वर्तमान परिप्रेक्ष्य में समाजशास्त्र के विकास से सम्बन्धित बात करते है, तब एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उत्पन्न होता है। कि **क्या भारत में एक पृथक भारतीय समाजशास्त्र को विकसित किया जा सकता है ?** भारत जब स्वतन्त्र हुआ, तब आरम्भ में यहाँ समाजशस्त्रियों ने पश्चिम को ही अपना आदर्श मानकर उनके सिद्धान्तों तथा अध्ययन-पद्धतियों का अनुसरण करना शुरू किया। इस समय **बेली** (Bailey) ने सन् 1957 में अपने एक लेख में यह प्रश्न उठाया कि जिस तरह जर्मन समाजशास्त्र अमेरिकन समाजशास्त्र तथा ब्रिटिश समाजशास्त्र एक-दूसरे से पृथक रूप में विकसित हुए, उसी प्रकार भारत में भी एक 'भारतीय समाजशास्त्र' को विकसित करना सम्भव है अथवा नहीं ? इसके उत्तर में **ड्यूमा** तथा **पोकॉक** ने यह सुझाव दिया कि यदि भारतीय समाजशास्त्र जैसी किसी शिक्षा को विकसित करने का प्रयत्न किया जाये तो इग्लैण्ड और अमेरिका में

विकसित की गयी अध्ययन-पद्धतियों अधिक लाभप्रद नहीं हो सकती। वास्तव में भारत में प्राचीन ग्रन्थों में यहाँ की जिन संस्थाओं का उल्लेख है उन्हीं के आधार पर भारत की सामाजिक संरचना को समझा जा सकता है। इसके लिए उन्होंने जाति और नातेदारी जैसी संस्थाओं के अध्ययन को अधिक महत्वपूर्ण माना। इन विचारों के पश्चात् से ही भारत में यह धारणा प्रबल होने लगी कि भारत एक समृद्ध संस्कृति वाला देश है तथा इसके अध्ययन के द्वारा यहाँ 'भारतीय समाजशास्त्र' को विकसित करना सम्भव है।

भारतीय समाजशास्त्र को पश्चिमी अध्ययन पद्धतियों और सिद्धान्तों से अलग रखने के आरम्भिक प्रयत्न **डी. पी. मुखर्जी** तथा **विनय कुमार सरकार** द्वारा किये गये। डी. पी. मुखर्जी के अनुसार भारत की परम्पराएँ इतनी समृद्ध है कि उनका अध्ययन करके यहाँ परिचमी देशों से कहीं अधिक विकसित समाजशास्त्रीय सिद्धांत विकसित किये जा सकते है। विनय कुमार सरकार भारत के लिए इसलिए एक अलग समाजशास्त्र चाहते थे। भारतीय संस्कृति और सभ्यता के प्रति पश्चिमी विचारकों के विचार हमेशा बहुत पक्षपातपूर्ण रहे हैं। उन्होंने भारतीय सामाजिक संस्थाओं को कभी वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समझने का प्रयास नहीं किया। अपने स्पष्ट विचारों के कारण अनेक विद्वान विनय कुमार सरकार को एक **'राष्ट्रवादी समाजशास्त्री'** के नाम से सम्बोधित करते हैं।

भारतीय समाजशास्त्र को स्वतन्त्र रूप से विकसित करने के लिए जिन विद्वानों ने अधिक प्रयास किया उनमें **एम. एन. श्रीनिवास. इरावती कवे टी. एन. बाई वी. दामले, योगेन्द्र सिंह सच्चिदानन्द एम. एस. ए. राव. आन्द्रे बितेई तथा डी. एन. धनागरे** आदि के नाम विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं। इन सभी विद्वानों ने भारतीय समाज की संरचना से सम्बन्धित विभिन्न तत्वों को आधार मानते हुए भारतीय समाजशास्त्र को विकसित करने का प्रयास किया। इनके प्रयास से यह माना जाने लगा कि भारत की सामाजिक संस्थाओं; जैसे—परिवार, नातेदार, जाति-व्यवस्था सामाजिक मूल्यों प्रतीकों, पम्पराओं संस्कारों तथा परिवर्तन से सम्बन्धित प्रक्रियाओं का अध्ययन करने ही भारतीस समाज को समुचित रूप से समझा जा सकता है। इस सम्बन्ध में एम. एन. श्रीनिवास ने जाति पर आधारित भारतीय समाज को अपने अध्ययन का आधार मानते हुए संस्कृतीकरण तथा लौकिकीकरण (Sanskritization and Secularisation) की प्रक्रियाओं को स्पष्ट किया। **सच्चिदानन्द** अपनी पुस्तक 'Harizan Elite' में हरिजन वर्ग में एक नये अभिजन वर्ग की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए संरचनात्मक परिवर्तनों की व्याख्यर की। **एम. एस. ए. राव** तथा **धनागरे** ने उन आन्दोलनों पर प्रकाश डाला जो एक बड़ी सीमा तक भारतीय समाज में उत्पन्न होने वाले परिवर्तनों के लिए उत्तरदायी हैं।

भारतीय विद्वानों के अतिरिक्त अनेक विदेशी समाजशास्त्रियों ने भी भारतीय सामाजिक संस्थाओं के अध्ययन में योगदान करना कर दिया। ऐसे लोगों में मेकिम मैरियट, रॉबर्ट रेडफील्ड ड्यूमॉ तथ जिम्मरमैन के नाम उल्लेखनीय है। **मैरियट** ने भारत की लघु और वृहत् परम्पराओं का अध्ययन करके दो नयी अवधारणा प्रस्तुत कहा जाता है। इसी प्रकार **रेडफील्ड** ने भारत की ग्रामीण विशेषताओं के आधार पर लघु समुदाय तथा कृषक समाज' की विशेषताओं को स्पष्ट करके नयी अवधारणाएँ प्रस्तुत की। **वाइतर** ने यहाँ की जजमान व्यवस्था पर प्रकाश डालते हुए ग्रामीण समुदाय के लिए इसके महत्व को स्पष्ट किया, जबकि **जिम्मरमैन** ने भारतीय संस्कृति से सम्बन्धित प्रतीकों तथा पौराणिक गाथाओं की

समाजशास्त्रीय विवेचना प्रस्तुत की। **ड्यूमॉ** ने हाल ही में प्रकाशित अपनी पुस्तक Homo Hierarchicus' में भारत में उस सामाजिक संस्तरण को स्पष्ट किया जिसके फलस्वरूप यहाँ असमानताकारी सामाजिक सम्बन्धों को प्रोत्साहन मिला।

NOTES

अध्याय का संक्षिप्त सार

सम्पूर्ण संसार में भारतीय समाज एक प्राचीन संस्कृति वाला अनुपम समाज है। इसकी तुलना संसार के किसी दूसरे देश से नहीं की जा सकती। समाजशास्त्र मुख्य रूप से सामाजिक सम्बन्धों तथा सामाजिक संरचना का अध्ययन है। भारत में इन सामाजिक सम्बन्धों तथा सामाजिक संरचना को तब तक समुचित रूप से समझा जा सकता, जब तक वर्णाश्रम धर्म, जजमानी व्यवस्था, पुरुषार्थ, लघु और वृहद परम्पराओं की पारस्परिक निर्भरता, अध्यात्मवाद, संयुक्त परिवार तथा नातेदारी व्यवस्था को न समझ लिया जाय। इसके पश्चात् भी **बेली** ने अपने बाद के एक लेख में पुनः यह सन्देह व्यक्त किया कि भारत में एक विशिष्ट भारतीय समाजशास्त्र' को विकसित कर सकता बहुत कठिन है। इसका कारण यह है कि यहाँ की परम्पराएँ संस्कृति के आधार पर जो अध्ययन किये गये वे सस्कृतिशास्त्र की सतह प्रतीत होते हैं, समाजशास्त्र के सिद्धांत पर आधारित नहीं। दूसरी ओर **ड्यूमस और पोकॉक** का विचार है कि भारत में आज भी एक भारतीय समाजशास्त्र को विकसित करने की पूर्ण सम्भावनाएँ हैं। **टी. एन. मदान** ने भी स्पष्ट किया कि यदि ऐतिहासिक तथा तार्किक पद्धति को मिलाकर भारतीय सामाजिक संस्थाओं के समाजशास्त्रीय अध्यन किये जा सकें तो इनका केवल हमारे लिए ही नहीं बल्कि पश्चिमी समाजों के लिए भी विशेष महत्व हो सकता है। इन सभी विचारों से स्पष्ट होता है। कि भारतीय समाजशास्त्र को विकसित करना आज न केवल हमारी एक आवश्यकता है बल्कि इसी के द्वारा भारत में समाजशास्त्र के विकास को सही दिशा मिल सकती है।

परिक्षोपयोगी प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. भारत में सामाजिक चिन्तन के अनौपचारिक युग से क्या तात्पर्य हैं ? विवेचना कीजिए।
2. भारत में समाजशास्त्र के विकास की प्रवृत्तियाँ क्या है ? समीक्षा कीजिए।
3. भारत में लिए पुर्नजागरण का काल किसे कह सकते हैं ? वर्णन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. क्या एक भारतीय समाजशास्त्र सम्भव है ? स्पष्ट कीजिए।

   अथवा

   क्या भारत में एक पृथक भारतीय समाजशास्त्र को विकसित किया जा सकता है?
2. सँक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए—

   (क) औपचारिक स्थापना का युग

   (ख) व्यापक प्रसार का युग

NOTES

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. सामाजिक चिन्तन के दृष्टिकोण से भारत में 7 वीं शताब्दी से 19 वीं शताब्दी तक को कहा जाता है—
   (अ) धार्मिक चेतना काल (ब) स्मृतिकाल
   (स) भक्तिकाल (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
2. निम्नलिखित में से किसे 'भारत के समाजशास्त्र का जनक' कहा जाता है ?
   (अ) राधाकमल मुखर्जी (ब) डी. पी. मुखर्जी
   (स) एम. एन. श्रीनिवास (द) जी. एस. घुरिये
3. भारत में समाजशास्त्र के लखनऊ सम्प्रदाय का प्रणेता किसे माना जाता है ?
   (अ) एम. एन. श्रीनिवास (ब) महर्षि अरविन्द
   (स) राधाकमल मुकर्जी (द) मेकाइवर
4. निम्नांकित में से किस एक समाजशास्त्री का भारतीय अध्ययनों में कोई योगदान नहीं है—
   (अ) डी. पी. मुखर्जी (ब) ए. आर. देसाई
   (स) श्यामाचरण दुबे (द) उपर्युक्त सभी
5. भारत में समाजशास्त्रीय चिन्तन की आरम्भिक अवस्था में निम्नांकित में से किसे 'राष्ट्रवादी समाजशास्त्री' के रूप में में पहचाना जाने लगा ?
   (अ) प्रो. श्रीनिवास (ब) विनय कुमार सरकार
   (स) पारसन्स (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
6. 'मॉर्डनाईजेशन ऑफ इण्डियन ट्रेडिशन' किसकी रचना है-
   (अ) प्रो. श्रीनिवास (ब) योगेन्द्र सिंह
   (स) वी. पी. मुखर्जी (द) ए. आर. देसाई
7. सर्व प्रथम किस सन् में बम्बई वि. वि. में समाजशास्त्र की स्वतंत्र स्थापना की गयी-
   (अ) 1917 (ब) 1918
   (स) 1919 (द) 1920
8. भारत का समाजशास्त्र का प्रथम प्रोफेसर होने का गौरव किसे प्राप्त है-
   (अ) ए. आर. देसाई (ब) श्यामाचरण दुबे
   (स) डी. पी. मुखर्जी (द) जी. एस. घुरिये

उत्तर—1. (द), 2. (द), 3. (स), 4. (अ), (5) (ब), (6) (ब), (7) (स), (8) (द)।

●●

NOTES

10 महात्मा गाँधी

अध्याय में सम्मिलित विषय सामग्री

- उद्देश्य
- प्राक्कथन
- जीवन परिचय
- गाँधीजी के दर्शन की पृष्ठभूमि
- गाँधीवाद
- सत्य और अहिंसा
- सत्याग्रह
- गाँधीजी का आदर्श समाज
- आर्य समाज
- धार्मिक समाज
- समाज में दयानन्द सरस्वती की भूमिका
- वैदिक विचारधारा की पुन: स्थापना
- मूर्ति पूजा का विरोध
- बाल-विवाहों का विरोध
- आलोचनात्मक मूल्यांकन
- अध्याय का संक्षिप्त सार
- परीक्षोपयोगी प्रश्न

उद्देश्य :

इस अध्याय अध्ययन के पश्चात् आप निम्न तथ्यों को समझ सकेंगे—

- प्राक्कथन
- जीवन परिचय
- गाँधी जी के दर्शन की पृष्ठभूमि
- गाँधीवाद
- सत्य और अहिंसा
- सत्याग्रह
- गाँधीजी का आदर्श समाज
- आर्य समाज

○ धार्मिक समाज
○ समाज में दयानन्द सरस्वती की भूमिका
○ वैदिक विचारधारा की पुनः स्थापना
○ मूर्ति पूजा का विरोध
○ बाल-विवाहों का विरोध
○ आलोचनात्मक मूल्यांकन

NOTES

प्राक्कथन

महात्मा गाँधी आधुनिक भारत में उन महान विचारकों में सबसे प्रमुख थे जिन्होंने भारत की बौद्धिक और सांस्कृतिक परम्पराओं से प्रेरणा ग्रहण की और अपने विचार को तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक स्थिति के अनुरूप ढाला। गाँधी अपने युग के महान नेता थे। उन्होंने सत्य और अहिंसा के सनातन सिद्धान्तों का व्यावहारिक जीवन में प्रयोग कर मानवता का मार्ग-दर्शन किया। उन्होंने समस्त भारत में राष्ट्रीय चेतना जाग्रत की। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को उन्होंने प्रभावशाली जन-आन्दोलन के रूप में संगठित किया। संसार के सबसे अधिक शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य को भारत से उखाड़ फेंकने के लिए उन्होंने अहिंसा एवं सत्याग्रह को अस्त्र के रूप में प्रयोग किया। भारत में स्वधीनता संघर्ष का उन्होंने लम्बे समय तक नेतृत्व किया तथा अन्त में देश को स्वतंत्रा दिलाई। इसीलिए उन्हें भारत का 'राष्ट्रपिता' कहा जाता है। 1920 से 1947 तक गाँधी जी ने भारत का एकछत्र नेतृत्व किया। इस काल में भारतीय जीवन के सभी पक्षों राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक व धार्मिक पर उनके महान व्यक्तित्व की छाप पडी। अत: इस काल को 'गाँधी-युग' कहा जाता गाँधी जी एक राजनीतिक ही नहीं वरन् एक समाज सुधारक, दार्शनिक, शिक्षाविद्, आध्यात्मिक और धार्मिक सन्त थे। उनकी धर्म सम्बन्धी धारणा परलौकिक नहीं वरन् लौकिक थी और वे मानवता की सेवा को ही वास्तविक धर्म मानते थे। किन्तु इस समय की परिस्थितियों के कारण उन्हें राजनीति में कूछना पड़ा। स्वयं गाँधीजी ने एक बार पोलक से कहा था, ''मैने राजनीति का चोंगा पहन रखा। किन्तु ह्रदय ये एक धार्मिक पुरुष हूँ।'' उन्होंनं 1924 में उरुण्डेल को लिखा था 'मेरा झुकाव राजनीति की ओर नहीं धर्म की ओर है।'

गाँधी यह मानते थे कि मानव और मानव जाति की सभी समस्याएँ नैतिक समस्याएँ हैं। मनुष्य को सभी सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक कार्यो को अपनी अन्तरात्मा की पुकार के आधार पर करना चाहिए। व्यक्ति जब अपनी आत्मा की आवाज को स्वार्थवश कुचल देता है तो उसका पशुत्व प्रबल हो जाता है। तथा सभी समस्याओं के प्रति मानते थे। नैतिकता के जिन सामान्य सिद्धान्तों को व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन पर लागू किया जा सकता है, उनसे राजनीतिक भी मुक्त नहीं है। अत: राजनीति से बुराइयों को दूर करने के लिए राजनीतिक कार्यो का संचालन मानवीय दृष्टिकोण से किया जाए। गाँधीजी का समस्त दर्शन राजनीति समाज के प्रति उनके आध्यात्मिक और नैतिक दृष्टिकोण में निहित है।

गाँधीजी का जन्म 2 अक्टूबर, 1869 में कठियाबाड़ के पारेबन्दर नामक स्थान पर हुआ था। उनका पूरा नाम मोहनदास कर्मचन्द गाँधी था उनके पिता राजकोट रियासत के दीवान थे।उनकी माता एक साधु प्रकृति की अत्यंत धार्मिक महिला थीं और उनका बालक गाँधी पर गहरा प्रभाव पड़ा। मोहनदास स्कूल में एक साधारण योग्यता के किन्तु समय के बहुत पाबन्द और शिक्षकों के आज्ञाकारी छात्र थे। पहले उन्होंने गुजराती स्कूल में और बाद में अंग्रेजी स्कूल में शिक्षा ग्रहण की। सन् 1883 में 13 वर्ष की आयु में उनका विवाह कस्तूरबा के साथ कर दिया गया। मोहनदास जब 16 वर्ष के थे तो उनके पिता का देहान्त हो गया 17 वर्ष की आयु में उन्होंने मैट्रिक पास की और 1888 में कानून की शिक्षा प्राप्त करने के लिए वे इंग्लैण्ड चले गये। वहाँ रहकर उन्होंने खन-पान वेश-भूषा तथा रहन-सहन में अग्रेजीयत अपनायी थी किन्तु शीघ्र ही उन्होंने अंग्रेजीयता को त्यागकर भारतीयता को अपना लिया। इंग्लैण्ड में ही गाँधीजी ने अंग्रेजी में अनुवादित गीता का अध्ययन किया और उनकी धार्मिक प्रवृत्ति पुष्ट हुई।

1891 में विधि कर शिक्षा ग्रहण करके गाँधीजी भारत लौटे और वकालत करना शुरू किया। स्वभाव से शर्मीले एवं लज्जाशील होने के कारण वकालत के व्यवसाय में वे बहुत अधिक सफल नहीं हुए। कठियावाड़ तथा बम्बई में थोड़े दिनों तक वकालत करने के बाद एक धनवान गुजराती मुसलमान के मुकदमे की पैरवी करने के लिए वे दक्षिण अफ्रीका गये। दक्षिण अफ्रीका में काले गोरे का भेद और अपने देशवाशियों की दयनीय स्थिति देख कर उन्हें बहुत आघात लगा और उनके हितों की रक्षा के लिए संघर्ष करने हेतु वहीं रहने का निश्चय किया। एक लम्बे अर्से तक गाँधीजी भारतीयों के साथ वहाँ रहे और सत्याग्रह एवं अहिंसा के आधार पर गोरी सरकार से संघर्ष किया। भारतीयों को अफ्रीका में कुली कहकर पुकारा जाता था। अत: गाँधीजी को भी कुली बेरिस्टर कहलाने लगे। वहाँ भारतीयों के साथ कई भेद-भाव रखे जाते थे। उन्हें रेल के प्रथम डिब्बे में बैठने की इजाजत नहीं थी। एक बार गाँधीजी प्रथम श्रेणी के डिब्बे में यात्रा कर रहे थे तो उनका सामान बाहर फेंक दिया गया और उन्हें धक्के देकर उतार दिया। इन सभी बातों से गाँधीजी बहुत दु:खी हुए। दक्षिण अफ्रीका की सरकार के अन्यायों से लड़ने के लिए गाँधीजी ने 'नेपाल भारतीय क्रांग्रेस' संगठन का गठन किया। वहाँ वे दो बार जेल गये और दो बार क्रमश: 7 व 14 दिनों का व्रत भी किया। उनके संघर्ष से वहाँ की गोरी सरकार को झुकना पड़ा तथा भारतीयों को मानवीय अधिकार देने पड़े। संघर्ष के नये तरीके अहिंसा, उपवास और सत्याग्रह के कारण आप की ख्याति शीघ्र ही चारों ओर फैल गई। इसके पश्चात् गाँधीजी इग्लैण्ड चले गये जहाँ उनकी भेंट गोपालकृष्ण गोखले से हुई और वे उनसे बहुत प्रभावित हुए।

1914 में गाँधीजी भारत लौट आए और उन्होंने भारतीय राजनीति में प्रवेश किया। इस समय गाँधीजी को अंग्रेजों की न्यायप्रियता में पूरा विश्वास था इसलिए उन्होंने भारतीय जनता को बिना किसी शर्त के ब्रिटिश सरकार को सहायता देने के लिए प्रेरित किया। गाँधी ने भारत में अपना राजनीतिक नींव चम्पारन के सत्याग्रह से शुरू किया और इस क्षेत्र में नील की

खेती करने वाले कृषकों पर गोरे जमींदरों के अत्याचारों की जाँच करने के लिए सरकार की एक कमीशन नियुक्त करने को बाध्य किया। इसके एक वर्ष पश्चात् खेड़ा जिले में 'कर न दो आन्दोलन' और अहमदाबाद में मजदूर आन्दोलन में उन्होंने सफलता प्राप्त की। गाँधीजी ने साबरमती के तट पर अहमदाबाद के पास अपना आश्रम बनवाया। इस समय तक गाँधीजी एक राजभक्त भारतीय थे किन्तु 1918 में ब्रिटिश सरकार द्वारा 'रोलैट एक्ट' पास किये जाने और अप्रैल 1919 के जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड के कारण महात्मा गाँधी को ब्रिटिश सरकार की न्यायप्रियता में विश्वास नहीं रहा। इसी समय खिलाफत में प्रश्न पर भारत का मुसलमान वर्ग भी ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध आन्दोलन शुरु करने का उपयुक्त अवसर समझा और इसी समय उन्होंने सरकार के विरुद्ध असहयोग प्रारम्भ कर दिया। इस आन्दोलन का बहुत प्रसार हुआ किन्तु धीरे-धीरे यह हिंसक रूप धारण करने लगा। अत: 4 फरवरी 1922 के चौरी-चौरा काण्ड से क्षुब्ध होकर गाँधी जी ने इस आन्दोलन को स्थगित कर दिया। 4 मार्च, को राजद्रोह के अपराध में गिरफ्तार कर 7 वर्ष की सजा दी गई किन्तु जेल में उनका स्वास्थ्य खराब होने के कारण 5 फरवरी 1924 को उन्हें जेल से मुक्त कर दिया गया। इसी वर्ष वे कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये।

सन् 1930 में गाँधीजी ने ब्रिटिश शासन के विरुद्ध सविनय अवज्ञा आन्दोलन चलाया। सन् 1942 मे आपने 'भारत छोड़ो आन्दोलन' चलाया। जिसमें करो या मरो (Do ro Die) का नारा दिया। गाँधीजी का इस कार्य में सफलता नहीं मिली उन्हें बन्दी बना लिया गया सन् 1944 में जेल से रिहा होने वु वाद उन्होंने हिन्दू मुस्लिम समस्या के समाधान के लिए प्रयास किया। इसी समय उनकी धर्मपत्नी कस्तूरबा का मृत्यु हो गयी। जिन्ना पाकिस्तान के निर्माण की बात पर अड़े रहे। गाँधीजी देश के बंटवारे के विरोधी थे किन्तु ब्रिटिश नीति, मुस्लिम लीग की हठधर्मी और साम्प्रादाय दंगों के कारण उन्हें विभाजन स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पड़ा।

गाँधीजी के प्रयासो के कारण 15 अगस्त, 1947 को भारत आजाद हुआ गाँधीजी सदैव रचनात्मक कार्यो में लगे रहे और साम्प्रदायिक तनावों को कम करने तथा दलितों के उद्धार के लिए प्रयत्नशील रहे। 30 जनवरी, 1948 को जब गाँधीजी दिल्ली में जब संध्याकालीन प्रार्थना करने के लिए जा रहे थे तो **नाथूराम गोडसे** नामक युवक ने गोली मारकर उनकी हत्या कर दी और राम-राम कहते हुए उन्होंने शरीर त्याग दिया। उनकी मृत्यु पर महान वैज्ञानिक आइन्सटीन ने कहा था, ''आगे आने वाली पीढ़ियाँ शायद ही यह विश्वास कर सकेंगी कि उन जैसे हाड़-मांस का पुतला कभी इस भूमि पर पैदा हुआ था।'' **डॉ. स्टेन्से जोन्स** ने लिखा है, ''हत्यारे ने महात्मा गाँधी की हत्या करके उन्हें अमर बना दिया। मृत्यु से वे अपने जीवन की अपेक्षा अधिक बलशाली हो गये।''

गाँधीजी की कृतियाँ

गाँधीजी ने अपने विचारों को समय-समय पर कई लेखों, पत्र-पत्रिकाओं एवं पुस्तकों के माध्यम से व्यक्त किया। **'हिन्दू स्वराज'** तथा **'मेरे सत्य के प्रयोग'** में उन्होंने अपने विचारों का प्रतिपादन किया। उनके अन्य रचनाएँ हैं—'शान्ति और युद्ध में अहिंसा, 'नैतिक धर्म', 'सत्याग्रह', सत्य ही ईश्वर है,' 'सर्वोदय', 'साम्प्रादायिक एकता', एवं अस्पृश्यता

निवारण' आदि। आपने अफ्रीका में 'इण्डिन ओपीयन और भारत में यंग इण्डिया', 'हरिजन', नवजीवन', हरिजन सेवक', हरिजन बन्धु' आदि पत्रों का भी सम्पादन किया।

NOTES

गाँधी के दर्शन की पृष्ठभूमि

अथवा

गाँधीवादी दर्शन के प्रेरणा स्त्रोत

गाँधीजी के जीवन और दर्शन को अनेक महापुरुषों, धर्मो तथा धार्मिक ग्रन्थों ने प्रभावित किया। उन पर उनकी माता के पवित्र जीवन एवं माता की सादगी तथा सदाचार का अमिट प्रभाव पड़ा। गाँधीजी को प्रभावित करने मे जिन पुस्तकों, धर्मो एवं व्यक्तियों की मुख्य भूमिका रही वे इस प्रकार है—

1. **गीता**—गाँधीजी के जीवन पर रामायण एवं महाभारत के अतिरिक्त गीता का भी विशेष प्रभाव पड़ा। उन्होंने लिखा है, ''जब मैं संशयों और निराशाओं से घिरा होता हूँ। और जब मुझे क्षितिज पर एक भी प्रकाश नहीं दिखाई देती तब मैं भगवद्गीता की ओर मुड़ता हूँ और मुझे आश्वासन के लिए एक न एक श्लोक मिल जाता है और मैं तुरन्त परेशान करने वाली मुसीबतों में मुस्कराने लगता हूँ। मेरा जीवन दुखों से परिपूर्ण रहा है और अगर उन्होंने मेरे ऊपर कोई अमिट तथा दृष्टिगोचर होने वाला असर नहीं डाला है, तो मैं उसके लिए भगवद्गीता की शिक्षा के प्रति आभारी हूँ।''

2. **कुरान**—गाँधीजी की दृष्टि से उदार दृष्टिगोचर रखते थे। वे हिन्दू धर्म ग्रन्थों की भाँति मुस्लिम धर्म ग्रन्थों का भी आदर करते थे। उन्होंने कुरान का भी अध्ययन किया तथा पाया कि उसमें भी प्रेम, सत्य अहिंसा, भाईचारे की भावना पायी जाती है

3. **बाईबिल**—गाँधीजी को बाईबिल ने भी प्रभावित किया। ''शैलोपदेश'' वाले अध्याय को पढ़कर महात्माजी को जीवन के मूल्यों का ज्ञान हुआ और उनसे प्रभावित होकर सत्याग्रह और अहिंसा के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। विश्वबन्धुत्व तथा दैवी परिवार की प्रेरणा उन्हें बाईबिल से ही मिली।

4. **जैन बौद्ध एवं कनफ्युसियम धर्म**—गाँधीजी ने अहिंसा के विचार जैन और बौद्ध धर्म से भी ग्रहण किये बौद्ध धर्म भिक्षुओं ने दस शिक्षा पदों में पहला स्थान अहिंसा को दिया था। गाँधीजी बुद्ध ने इस विचारों से बहुत प्रभावित हुए कि मनुष्य को क्रोध को प्रेम से जीतना चाहिए बुराई को अच्छाई से लोभी को उदारता से और झूठ को सत्य से जीतना चाहिए। चीन का कन्फ्यूसियसवाद भी प्रेम और अहिंसा पर जोर देता है। इन सभी धर्मो का सामूहिक प्रभाव की गाँधीजी का प्रेरणा का स्त्रोत बना।

5. **टॉलस्टाय**—गाँधीजी का टॉलस्टाय की रचना The Kingdom of God is within you का विशेष प्रभाव पड़ा। उन्होंने स्वीकार किया कि उनके अहिंसावादी विचार इस पुस्तक के पढ़ने से और दृढ़ हुए। वे टालस्टाय के इस विचार से प्रभावित हुए कि अपने विचारों को किसी अन्य पर थोपना मानसिक हिंसा है।

6. जॉन रस्किन—गाँधीजी जॉन रस्किन की पुस्तक Unto this Last' से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने 'सर्वोदय' नाम से इस पुस्तक का गुजराती मे अनुवाद कर दिया। इस पुस्तक से उन्होंने तीन बातें सीखी—

(i) व्यक्ति का हित सभी व्यक्तियों के हित मे निहित है,

(ii) एक वकील का कार्य भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना एक नाई का क्योंकि सभी व्यक्तियों को अपनी अजीविका कमाने का समान अधिकार है,

(iii) शारीरिक श्रम करनेवाले किसान या कारीगर का जीवन ही, वास्तविक जीवन है। गाँधीजी ने रस्किन से प्रभावित होकर बुद्धि की अपेक्षा चरित्र पर अधिक जोर दिया, आत्म-बल को सर्वोच्च स्थान दिया, राजनैतिक एवं आर्थिक जीवन में धर्म और नैतिकता को महत्व दिया पूँजीपतियों की ट्रस्टी मानने की धारणा उन्होंने रस्किन से ही ग्रहण की।

इनके अतिरिक्त गाँधीजी पर अराजकतावादी विचारक हेनरी डेविड थोरो, कक्सले आदि विचारकों का भी प्रभाव पड़ा। गाँधीजी के बारे में प्रो. एस. एन बिसरिया ने कहा है, ''गाँधीजी का दर्शन एक ऐसा दर्शन है, जिसमें विश्व के सारे कोनों के सन्तों की शिक्षाएँ आकर सम्मिलित हो गई हैं और जिनकों उन्होंने अपनी ही व्याख्या दी है। वास्तव में गाँधीवाद शाश्वत सत्य की पुर्नव्याख्या के अतिरिक्त और अधिक कुछ भी नहीं है। उन्होंने अपनी प्रेरण बुद्धि तथा विचारों के विभिन्न कूपों से ली है और उनको आधार मानकर एक नवीन तथा विचित्र दर्शन की सृष्टि की है।''

गाँधीवाद (GANDHISM)

गाँधीजी ने विभिन्न विषयों पर समय-समय पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। उनके इन विचारों शिक्षाओं को ही गाँधीवाद के नाम से जाना जाता है। एक प्रश्न यह भी किया जाता है कि क्या गाँधीवाद नाम की कोई वस्तु है ? इस सन्दर्भ में स्वयं गाँधीजी ने 1936 में सावली सेवा संघ में प्रवचन करते हुए कहा था, ''गाँधीवाद नामक कोई वस्तु नहीं है। मैं अपने कोई सम्प्रदाय छोड़ना नहीं चाहता। मैं कभी इस बात का दावा नहीं करता कि मैंने कोई नया सिद्धांत चलाया हैं मैंने केवल अपने ढंग से सर्वमान्य सच्चाइयों को अपने नित्य-प्रति के जीवन और समस्याओं पर लागू करने की चेष्टा की है। मैंने जो मन बताया तथा जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे सब अन्तिम नहीं है। मैं कल ही उन्हें परिवर्तित करता हूँ। दुनिया को सिखाने के लिए मेरे पास कुछ भी नहीं है। सत्य और अहिंसा उतने ही पुराने हैं जितने कि पहाड़। मैंने तो केवल इन दोनों का यथा सम्भव क्षेत्र में प्रयोग करने का प्रयत्न किया है.......... आप इसे गाँधीवाद न कहें इसमें कोई वाद नहीं हैं।''

यह सच है कि अन्य राजनैतिक विचारकों के समान गाँधीजी कोई दार्शनिक नहीं थे। वे कर्मयोगी थे और उन्होंने जो कुछ लिखा वह जीव में आई समस्याओं और परिस्थितियों के सन्दर्भ में था। गाँधीजी ने कभी भी अपने विचारों के बारे में पूर्णता का दावा नहीं किया। वे तो सत्य और अहिंसा के साथ प्रयोग करते रहे। उन्होंने अन्तिम रूप से या आगामी समय

के लिए कोई मत प्रतिपादित नहीं किया और न ही वे यह चाहते थे कि उनके अनुयायियों द्वारा उनका अन्धानुकरण किया जाय। राष्ट्रीय और अन्तराष्ट्रीय समस्याओं के समाधान के लिए उनके कुछ सिद्धांत और पद्धति थी। उनके इन सिद्धान्तों और कार्यपद्धति का ही सामूहिक नाम 'गाँधीवाद' है। गाँधी मानवता का सिद्धान्त है। डॉ. पी. एस. समाया ने लिखा है, ''गाँधीवाद नीतियों, सिद्धान्तों, नियमों, आदि का सिद्धांत ही नहीं वरन् जीवन का एक रास्ता है। इनके द्वारा जीवन की समस्याओं के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण का प्रतिपादन या पुरातन दृष्टिकोण की पुनर्व्याख्या करते हुए आधुनिक समस्याओं के लिए पुरातन हल प्रस्तुत किये गये हैं।''

विभिन्न विषयों पर गाँधीजी ने जो विचार व्यक्त किये उनका हम यहाँ उल्लेख करेंगे क्योंकि वे ही गाँधीवाद के मूल तत्व हैं।

साध्य एवं साधन में एकता

गाँधीजी यह मानते थे कि हमारे साध्य ही नहीं वरन् साधन भी उच्च होने चाहिए क्योंकि जैसे साधन होगे वैसे ही साध्य की प्राप्ति होगी। साध्य और साधन की आवश्यकता तथा पवित्रता पर बल देते हुए उन्होंने 'हिन्द स्वराज्य' में लिखा था – ''साधन एक बीज के समान तथा साध्य एक वृक्ष के समान है और साध्य तथा साधन में उसी प्रकार का अमिट सम्बन्ध है जिस प्रकार का एक बीज में वृक्ष में होता है।'' जिस प्रकार से अच्छी फसल के लिए भी नहीं पहुँचा जा सकता। उन्होंने सदैव साधनों की पवित्रता पर जोर दिया। उन्होंने स्वराज्य की प्राप्ति पहुँचा जा सकता। उन्होंने सदैव साधनों की पवित्रता पर जोर दिया। उन्होंने स्वराज्य की प्राप्ति के लिए हिंसात्मक उपायों का विरोध किया और उनके स्थान पर सत्याग्रह रूपी अस्त्र का प्रयोग किया। युद्ध, संघर्ष, हिंसा, एवं प्रतिकार के द्वारा समाज में शान्ति स्थापित नहीं की जा सकती। जीवन का सर्वोच्च आदर्श सत्य की प्राप्ति भी अहिंसा और सत्याग्रह रूपी पवित्र साधनों से की जा सकती है।

सत्य और अहिंसा

गाँधीवाद में सत्य और अहिंसा और अहिंसा को सर्वोच्च महत्व दिया गया है। इन दोनों का अविभाज्य जोड़ा है। गाँधीजी के अनुसार सत्य ही ईश्वर है। जो व्यक्ति दूसरों को कष्ट देता है वह सत्य का उल्लंघन करता है। हिंसा असत्य है क्योंकि यह जीवन की एकता और पवित्रता के विपरीत है। अत: जीवन में अहिंसा का पालन करना सत्य के उपासक का परम कर्त्तव्य है।

सत्य क्या है, इसका उत्तर देते हुए गाँधीजी कहते हैं—तुम्हारी अन्तरात्मा जो कहती है, वही सत्य है। किन्तु सभी का अन्त:करण एक जैसी बात नहीं करता। सत्य को ग्रहण कर उसे व्यक्त करने के लिए अन्तरात्मा का शुद्ध होना आवश्यकता है, क्योंकि शुद्ध अन्तरात्मा की आवाज ही सत्य हो सकती है। दुष्टात्माओं की आवाज सत्य नहीं हो सकती। आत्मा की शुद्धि के लिए गाँधीजी ने कई उपाय बताए है। सत्य, अहिंसा अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह अस्वाद एवं शारीरिक श्रम आदि को अपनाकर आत्मा की शुद्धि की जा सकती है। गाँधीजी मानते हैं कि पूर्ण सत्य की प्राप्ति सम्भव नहीं हैं क्योंकि आत्मशुद्धि के साधनों

को पूरी तरह नहीं अपनाया जा सकता फिर भी इन साधनों के द्वारा व्यक्ति उत्तरोत्तर सत्य की ओर अग्रसर हो सकता है।

अहिंसा (AHINSA)

गाँधीजी के अनुसार अहिंसा मनुष्य का स्वाभाविक गुण है, मनुष्य स्वाभाव से ही अहिंसाप्रिय होता है, कुछ विशेष परिस्थितियाँ ही उसे हिंसा के लिए मजबूर करती हैं। मानव की अहिंसक प्रवृत्ति का ही परिणाम है कि आदिम युग का नरभक्षी मानव आज का सभ्य और सुसंस्कृत मानव बन गया है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि मानव उत्तरोत्तर जीवन का सर्वोच्च गुण है, अहिंसा के द्वारा ही व्यवस्थित समाज की रचना की जा सकती है और जीवन में उन्नति सम्भव है।

अहिंसा का अर्थ केवल हत्या न करना नहीं है वरन् अन्य किसी प्रकार से अपने विरोधी का हानि न पहुँचाना है। गाँधीजी के शब्दों में, ''अहिंसा का तात्पर्य अत्याचारी के प्रति नम्रतापूर्ण समर्पण नहीं है, वरन् इसका तात्पर्य अत्याचारी की मनमानी इच्छा का आत्मिक-बल के आधार पर प्रतिरोध करना है।'' उन्होंने 1930 में यंग इण्डिया के एक अंक में लिखा था ''पूर्ण अहिंसा सभी प्राणियों के प्रति दुर्भावना के अभाव का नाम है। अहिंसा अपने क्रियात्मक रूप में सभी जीवधारियों के प्रति सद्भावना का नाम है। यह तो विशुद्ध प्रेम है। ''गाँधीजी के अनुसार अहिंसा का तात्पर्य है, मन, वचन और कर्म से किसी को कष्ट न देना, किसी का दिन न दुखाना। अहिंसा प्रेम की ऐसी जड़ी-बुटी है जो कट्टर से कट्टर शत्रु को भी मित्र बना सकती है, शक्तिशाली अस्त्र को परास्त कर सकती है। यह अजेय शक्ति है, आत्मा का गुण है जो चिरंजीवी है।

गाँधीजी अहिंसा को समस्याओं के समाधान का एक अस्त्र भी मानते हैं। उनके अनुसार ऊँची से ऊँची हिंसा का विरोध अहिंसा के द्वारा किसा जा सकता है। उनके अनुसार अहिंसा निष्क्रियता, अकर्मणयत या उदासीनता नहीं है वरन् बुराई तथा अन्याय का प्रतिकार करते रहना है। अहिंसा अन्याय का विरोध करती है। अहिंसा का अस्त्र कायर और भीरु पुरुषों के लिए नहीं है, जिसमें सहन-शक्ति हो, जो शक्ति रखते हुए भी दूसरों को क्षमा कर सकता हो वही इस अस्त्र का अपना सकता है। जिसमें मनोबल नहीं हे वह इस अस्त्र को नहीं अपना सकता गाँधी कहते थे कि कायरता के अपेक्षा हिंसा का ही प्रयोग श्रेष्ठ हे। ''जहाँ भीरुता और हिंसा में से किसी एक को चुनना है वहाँ मैं हिंसा को चुनने को कहूँगा। अहिंसा भीरुता के लिए आड़ नहीं है क्योंकि इसमें कुशल शस्त्र प्रयोगी से अधिक बहादुरी की आवश्यकता होती है।''

गाँधीजी ने अहिंसा रूपी अस्त्र का प्रयोग सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में भी किया। ब्रिटिश शासन के विरुद्ध अहिंसात्मक करके उन्होंने भारत को स्वतन्त्र कराया। सामाजिक क्षेत्र में उन्होंने साम्प्रदायिक झगड़ों एवं अस्पृश्यता निवारण के लिए अहिंसा रूपी अस्त्र का प्रयोग किया। कई दिन का कठोर उपवास करके वे लोगों का ध्यान समाज को बुराइयों की ओर आकृष्ट करते रहे और समानता एवं प्रेम पर जोर देकर साम्प्रदायिक एवं जातीय भेद-भाव मानते थे जिसमें कठोर हृदय को भी पिघलाने की शक्ति होती है।

कुछ समय के लिए हिंसा चाहे विजयी हो जाय किन्तु अन्ततः उसे पराजित होना ही पड़ेगा। अहिंसा जनसाधारण का स्वाभावित धर्म है क्योंकि यह हम जैसे जीवों का शाश्वत कानून है। गाँधीजी ने सत्य और अहिंसा में कोई भेद नहीं माना वे सत्य को साध्य और अहिंसा को साधन मानते थे।

गाँधीजी ने अहिंसा के तीन रूपों का उल्लेख किया है—जाग्रत अहिंसा, औचित्यपूण अहिंसा, कायर की अहिंसा।

1. **जाग्रत या वीर अहिंसा**—इस प्रकार की अहिंसा शूरवीर के लक्षण हैं यह सम्पन्न और वीर व्यक्तियों की अहिंसा है। यह क्षत्रिय धर्म की परिसीमा है, अभय की चरमावस्था एवं वीरता की परिसीमा है। इस प्रकार की अहिंसा विवशता में स्वीकार नहीं की जा सकती वरन नैतिकता में अडिग विश्वास के कारण ही अपनायी जाती हे। इसमें प्रचण्ड शक्ति होती है और भय का नाम नहीं होता। इसमें किसी भी प्रकार की भयंकर स्थिति से मुकाबला करने की शक्ति होती है इसमें विरोधी को सताने की अपेक्षा उसका ह्रदय परिवर्तन करने की इचछा होती है। इसमें पहाड़ों को हिला देने एवं असम्भव को सम्भव बना देने की शक्ति होती है। यह सर्वोच्च कोटि की अहिंसा है जिसका प्रयोग राजनीति ही नहीं वरन् जीवन के सभी क्षेत्रों में किया जा सकता हे।

2. **औचित्यपूर्ण अहिंसा**—इसे निर्बल व्यक्तियों की निष्क्रियात्मक अहिंसा भी कहते हैं। इसे किसी विशेष उद्देश्य की प्राप्ति हेतु अपनाया जाता है। इसमें विवश व्यक्ति केवल अपनी निर्बलता के कारण ही हिंसा का प्रयोग नहीं करता हे। अहिंसा का यह रूप जाग्रत अहिंसा की भाँति शक्तिशाली नहीं होता, अतः इसकी सफलता सीमित होती है। साहस, सच्चाई से इनका प्रयोग करने पर कुछ निश्चित सीमा तक इससे लक्ष्यों की प्राप्ति हो सकती है। परिस्थितियाँ की माँग होने पर इसमें हिंसा का प्रयोग किया जा सकता है।

3. **कायर की अहिंसा**—यह अहिंसा का तीसरा प्रकार है। गाँधीजी के अनुसार कायरता और अहिंसा आग और पानी की तरह एक साथ नहीं रह सकते। गाँधीजी कायरता को एक भीषण प्रकार की अहिंसा मानते थे। वे कायर होने की अपेक्षा हिंसक होना पसन्द करते थे। अहिंसा को कायरता की ढाल कभी भी नहीं बनाया जा सकता। वे कहते हैं'' अपमानित और भयभीत होकर मरें, इसकी अपेक्षा मैं यह अधिक पसन्द करूँगा कि आप वीरतापूर्वक प्रहार करते हुए उसे झेलते हुए मरें।'' वे कहते हैं - एक हिंसक से कभी भी अहिंसक आशा की जा सकती है, किन्तु नपुंसक से ऐसी आशा नहीं की जा सकती।'' गाँधीजी कायर व्यक्ति को इन्सान कहने के लिए भी तैयार नहीं थे। अतः कायर व्यक्ति द्वारा अहिंसा का जो दम भरा जाता है; उसे अहिंसा नहीं कहा जा सकता। अहिंसा वीरों का धर्म है। इस प्रकार गाँधी वादी अहिंसा का कायरता की संज्ञा देना नितान्त अनुचित है।

गाँधीजी ने अहिंसा के दो पक्षों का उल्लेख किया है - सकरात्मक एवं नकारात्मक। किसी प्राणी का काम, क्रोध एवं द्वेष के वशीभूत होकर हिंसा न पहुँचाना इसका नकारात्मक पक्ष

है। सभी लोगों के प्रति तथा दया या बर्ताव इसका सकारात्मक पक्ष है। गाँधीजी के विचार से अहिंसा एक नैतिक अस्त्र है जिसका प्रयोग बुराई को दूर करने के लिए किया जा सकता है। अहिंसा सबके लिए है इसका प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर भी किसया जा सकता है।

सत्याग्रह

गाँधीजी ने बुराई के प्रतिरोध के लिए एक नवीन मार्ग का अविष्कार किया जिसे सत्याग्रह का नाम दिया गया। सत्याग्रह की पद्धति गाँधीजी की राजनीति को विशेष और अपूर्व देन है। सत्याग्रह शब्द का प्रयोग गाँधीजी अफ्रीका में किया था। इसके द्वारा गाँधीजी ने हिंसक जगत को अहिंसा की शिक्षा दी। साधारण भाषा में सत्याग्रह बुराई को दूर करने या विवादों को अहिंसक तरीकों से हल करने का तरीका है। साधारण भारतीय नागरिक के लिए यह अंग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध स्वतन्त्रता की लड़ाई का तरीका था।

सत्याग्रह के अर्थ को स्पष्ट करते हुए एन. के. बोस लिखते हैं, ''सत्याग्रह अहिंसक तरीकों द्वारा युद्ध संचालन है।'' डॉ. कृष्ण लाल श्री धरणाी के अनुसार ''सत्याग्रह अहिंसक तरीकों द्वारा युद्ध संचालन है।'' डॉ. कृष्ण लाल श्री धरणी के अनुसार ''सत्याग्रह अहिंसक गाँधी कार्यवाही है। ''सत्याग्रह का एक अर्थ है, सत्य को न छोड़ना, सत्य प्राप्त करने के लिए सतत् प्रयास करना। साहित्यिक दृष्टि से सत्याग्रह सत्य आग्रह शब्दों से मिलकर बना है जिसका अर्थ है सत्य के लिए आग्रह करना यह सत्य के लिए आग्रह करना यह सत्य के लिए तपस्या है। अहिंसा का ही एक रूप है। सत्य ही प्राप्ति के लिए अहिंसात्मक साधनों द्वारा आग्रह करना सत्याग्रह है। गाँधीजी के अनुसार, ''प्रेम का त्याग द्वारा सत्य सिद्धि के लिए प्रयास करना ही सत्याग्रह है।''

अहिंसात्मक संघर्ष को उन्होंने सत्याग्रह का नाम दिया। सत्याग्रह को आत्मबल का नाम भी दिया गया है। सत्याग्रह एक ऐसा नैतिक शस्त्र का युद्ध भी है। जो बना विशेष हथियार के, बिना रक्त बहाए, बिना हानि पहुँचाए चलता रहता है। यह कायरों को युद्ध नहीं वरन् वीरों का युद्ध है।

गाँधीजी ने सत्याग्रहों के कुछ गुणों को भी उल्लेख किया है। प्रत्येक व्यक्ति से सत्याग्रह पर चलने की अपेक्षा नहीं की जा सकती। सत्याग्रहों के लिए यह जरूरी है कि वह सत्य पर चलने वाला हो, अनुशासन में रहने का अभ्यस्त हो, तथा वचन और कर्म से अहिंसा में विश्वास रखने वाला हो। सत्याग्रही कभी अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए छल, कपट, और हिंसा आदि का आश्रय नहीं लेता। वह जो कुछ भी करता है खुले रूप में करता है और अपनी कमजोरियों और भूलों का छिपाने की बजाय खुले रूप में उन्हें स्वीकार करने के लिए तत्पर रहता है। गाँधीजी ने ''हिन्द स्वराज्य'' में सत्याग्रही के लिए ग्यारह व्रतों का पालन आवश्यक बताया है, वे हैं - अहिंसा सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य अपरिग्रह शारीरिक श्रम, अस्वाद, निर्भरता सभी धर्मो मे समान दृष्टि से देखना स्वदेशी तथा असपृश्यता निवारण। सत्याग्रही प्रतिपक्षी को कभी कष्ट नहीं देता; दूसरों को कष्ट पहुँचाने से सत्य कि उल्लंघना होती है। सत्याग्रही सत्ता प्राप्त करने के लिए नहीं वरन् विरोधी के हृदय परिवर्तन के लिए सत्याग्रह करता है।

गाँधीजी ने सत्याग्रह के पाँच विभिन्न स्वरूपों का उल्लेख किया है – असहयोग सविनय अवज्ञा, हिजरत, व्रत और हड़ताल।

NOTES

1. **असहयोग**— गाँधीजी का विचार था कि किसी भी शासन द्वार जनता के सहयोग से ही शोषण व अत्याचार किया जाता है, ऐसी दशा में यदि शासन के साथ सहयोग करने से मना कर दे तो वह शासन कार्य नहीं कर सकेगा। सन् 1920-22 में भारत में ब्रिटिश शासन कस विरोध करने के लिए गाँधीजी ने असहयोग मार्ग को ही अपनाया था जिसने ब्रिटिश सरकार की जड़े हिला दी थीं।

2. **सविनय अवज्ञा**—इसे निष्क्रय प्रतिरोध भी कहा जाता है। गाँधीजी इसे पूर्ण प्रभावदायक और सैनिक विद्रोह का रक्तहीन विकल्प कहते हैं। सविनय अवज्ञा का अर्थ अहिंसक और विनयपूर्ण तरीकों से कानूनों की अवज्ञा करना है। 1931 में आन्दोलन के रूप में गाँधीजी ने इस अस्त्र का प्रयोग किया था।

3. **हिजरत**— स्थायी निवास स्थान त्यागकर चले जाना हिजरत कहलाता है। ऐसे व्यक्ति जो अपने आप को पीड़ित अनुभव करते हों, आत्म-सम्मान रखते हुए उस स्थान में नहीं रह सकते हो। और अपनी रक्षा के लिए हिंसक शक्ति नहीं रखते हों, उनके लिए हिजरत का प्रयोग किया जा सकता है। 1918 में बरदोली तथा बिट्ठलगढ़ और लिम्बड़ी की जनता को गाँधीजी ने हिजरत का सुझाव दिया।

4. **व्रत का उपवास**—सत्याग्रह का एक अन्य रूप व्रत या अनशन है जिसका आजकल बड़ा गलत प्रयोग किया जाता है। यह सत्याग्रह का सबसे शक्तिशाली साधन है जिसे गाँधीजी अग्निबाण कहा करते थे। उनका विचार था कि इसे अपनाने में अत्यधिक सावधानी बरती जानी चाहिए। इसका प्रयोग कुछ विशेष अवसरों पर अत्याचारियों के ह्रदय परिवर्तन के लिए किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त इस अस्त्र का प्रयोग हर व्यक्ति द्वारा नहीं वरन् आध्यात्मिक बल सम्पन्न व्यकितयों द्वारा ही किया जाना चाहिए, क्योंकि इसके सफल प्रयोग के लिए मानसिक शुद्धता अनुशासन और नैतिक मूल्यों में आस्था की अत्यधिक होती है। मन का शरीर के साथ निकट सम्बन्ध है, मन की शुद्धि के लिए केवल अन्न ग्रहण न करना ही उपवास या व्रत नहीं है वरन् सभी प्रकार के मलिन विचारों से मन को मुक्त रखना ही उपवास है।

5. **हड़ताल**—हड़ताल अन्याय के विरुद्ध प्रदर्शित विरोध प्रदर्शित करने के लिए की जाती है। हड़ताल अपने वैध व उचित कष्टों के निवारण के लिए श्रमिकों के अधिकार में एक शस्त्र है। हड़ताल आत्मशुद्धि के लिए किया जाने वाला एक स्वैच्छिक प्रयास है जिसका लक्ष्य स्वयं कष्ट सहन करते हुए विरोधी का ह्रदय परिवर्तन करना है। गाँधीजी के अनुसार हड़ताल करने वालों की माँगें नितान्त स्पष्ट व उचित होनी चाहिए।

गाँधीजी ने केवल आन्तरिक क्षेत्र में ही नहीं वरन् विदेशी आक्रमण करने की स्थिति में भी सत्याग्रह का सुझाव दिया। हिटलर द्वारा इंग्लैण्ड पर आक्रमण किए जाने पर उन्होंने इंग्लैण्ड का यही सुझाव दिया था। गाँधीजी को सत्याग्रह की सफलता में पूरा विश्वास था। वे इसे

''मास्टर की' कहते थे जिससे सभी अधंकारमय ताले खुल जाते हैं, वे इसे रामबाण औषधि सर्व संकट निवारण संजीवनी बुटी कहते थे। यह एक ऐसी तलवार है जिसमें जंग नहीं लगती और इस्पात की तलवार को निरूतेज कर देती है। कुछ व्यक्तियों ने गाँधीजी के सत्याग्रह की कटु आलोचना की है, कुछ ने इसे अहिंसा नहीं मानते। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र तथा सामाजिक व आर्थिक बदलाव लाने में इसका प्रयोग सफलता नहीं दिला सकता। वर्तमान में इस शब्द का दुरुपयोग बहुत हो रहा है। कुछ लोग इसे हानिकार भी मानते हैं।

गाँधीजी के आर्थिक विचार (ECONOMIC THOUGHTS OF GANDHJI)

गाँधीजी कोई अर्थशास्त्री नहीं थे। इसलिए उनके आर्थिक विचार किसी अर्थशास्त्र के सिद्धांत पर आधारित नहीं थे अपने आर्थिक विचारों में उन्होंने अर्थशास्त्र के नियमों का पालन भी नहीं किया और न ही उन्होंने किसी आर्थिक सिद्धान्त की रूप रेखा ही स्पष्ट रूप से तैयार की। आर्थिक समस्याओं के बारे मे उनके सुझाव समय, जरूरत एवं मानवता के दृष्टिकोण से परिपूर्ण हैं। गाँधीजी के आर्थिक विचारों के प्रमुख बिन्दु निम्नाकिंत हैं—

1. **औद्योगीकरण का विरोध**—गाँधीजी औद्योगीकरण एवं केन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था के विरोधी थे। बड़े उद्योगों के विरोधी वे इसलिए थे क्योंकि इसके लिए बड़ी मात्रा में धन, कच्चे माल एवं बड़े बाजारों की आवश्यकता होती है। कच्चे माल बड़े बाजारों की खोज साम्राज्यवद और उपनिवेशवाद को जन्म देती है, जो नैतिकता के विरुद्ध है। भारत जैसे विशाल जनसंख्या वाले देश में बड़े कारखानों की स्थापना से बेरोजगारी गरीबी को प्रोत्साहन मिलेगा। औद्योगीकरण में मानव श्रम का स्थान मशीने ले लेती हैं। भारत जैसे देश में पहले से ही काम और साधन कम है और जनशक्ति अधिक है इसलिये मशीनों का प्रयोग उचित नहीं है। बड़े-बड़े उद्योगों से होने वाले उत्पादन गरीब कारीगरों का नाश कर देता है। श्रमिकें और मलिकों मे अनावश्यक विवाद एवं संघर्ष पैदा करता है तथा समाज में अशान्ति फैलाता है। यह हिंसा के लिए उत्तरदायी है। समाज में गलाकाट आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा को जन्म देता है। गाँधीजी यन्त्रीकरण को पाप का प्रतिनिधि मानते हैं।

   इसका यह तात्पर्य नहीं कि गाँधीजी सभी प्रकार की मशीनों के प्रयोग के पूर्णतया विरुद्ध थे। वे मशीने जो सर्वसाधारण के हित साधन में काम आती हैं, उनका प्रयोग वे उचित मानते थे। उदाहरण के लिए रेल, जहाज, सिलाई की मशीनें, चर्खा आदि के वे समर्थक थे, किन्तु मानव का शोषण एवं विनाश करने वाली मशीनों एवं यन्त्रों के विरोधी थे।

2. **कुटीर उद्योगों का समर्थन**—गाँधीजी ने औद्योगीकरण का विरोध किया। उसके स्थान पर कुटीर उद्योगों पर आधारित विकेन्द्रित अर्थव्यस्था का समर्थन किया, जिसके अन्तर्गत प्रत्येक गाँव अपनी दैनिक जरूरतों की वस्तुएँ स्थानीय कुटीर व्यवसाय से प्राप्त कर सके तो वह गाँव आत्मनिर्भर होगा। इससे पूरा का पूरा राष्ट्र आत्मनिर्भर होगा। इससे पूरा का पूरा राष्ट्र आत्मनिर्भर बन सकेगा और राष्ट्रीय जीवन में आर्थिक विषमता नहीं होगी। वे खादी को भारत की राजनीति तथा आर्थिक

समस्याओं के हल का अमोघ अस्त्र मानते थे। आर्थिक क्षेत्र मे उन्होंने स्वदेशी वस्तुओं के उपभोग पर बल दिया। भारत के लिए वे कुटीर उद्योग धन्धों की व्यवस्था को ही सर्वोत्तम मानते थे।

NOTES

3. **न्यासिता का सिद्धान्त**— गाँधीजी आर्थिक विषमता को समान्त करने के पक्ष में थे। वे पश्चिमी पूँजीवादी व्यवस्था को पस्न्द नहीं करते थे क्योंकि यह व्यवस्था शोषण, प्रतिद्वन्द्विता और संघर्ष को जन्म देती है। लेकिन समानता स्थापित करने के लिए साम्यवादी ढंग जिसमें बलपूर्वक धनिकों का धनिकों का धन छीनकर उनका सार्वजनिक हित में प्रयोग करने की बात कहते हैं के पक्ष में भी नहीं थे। वे रूसी समाष्टिवादी व्यवस्था को भी पसन्द नहीं करते थें क्योंकि यह हिंसा पर आधारित है। पूँजीपतियों को नष्ट कर देना चाहती है, इससे तो समाज उनकी सेवाओं से वंचित रह जायेगा। समाजवाद में केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति अधिक है।

गाँधीजी का विचार था कि पूँजीपतियों का ह्रदय परिवर्तन कर सार्वजनिक हित में उनकी सम्पत्ति का प्रयोग किया जाना चाहिए। पूँजीवादी और समष्टिवादी दोषों को दूर करने के लिये गाँधीजी ने 'न्यासिता के सिद्धान्त' का प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्त के अनुसार, ''अमीर व्यक्ति का धन उसके निकट ही रख दिया जायेगा जिसमें से वह अपनी उचित जरूरतों के लिए खर्च करेगा और बाकी बचे हुए धन का वह ट्रस्टी होगा जिसका प्रयोग समाज के लिए किया जायेगा।''

ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त एकत्रित किये हुए या अपनी से अधिक कमाये हुए न पर लागू होता है। इस सिद्धान्त मे निजी सम्पत्ति के अधिकार को वहाँ तक स्वीकार किया गया है। जहाँ तक व्यक्ति के नैतिक बौद्धिक शारीरिक विकास के लिए आवश्यक है। यह सिद्धान्त निजी उद्यम और सरकार द्वार निर्यंत्रित उद्यम मे समझौता है।

इस सिद्धान्त में दो बातें निहित हैं—

(i) अपेक्षाधिक धन पूँजीपति के पास एक न्यास के रूप में रहेगा,

(ii) अपेक्षाधिक धन का प्रयोग समाज कल्याण के लिए होगा।

गाँधीजी का मत है कि जो धनिक ऐसा नहीं करे, उसके विरुद्ध हिंसा नहीं वरन् अहिंसात्मक असहयोग सत्याग्रह का प्रयोग किया जायेगा उनका ह्रदय परिवर्तन कर सद्मार्ग पर लाया जायेगा। फिर भी सफलता न मिले तो सरकार उनके उद्योगों को अपने हाथ में लेकर जनहित में उनका उपयोग करेगी। इस प्रकार गाँधीजी अहिंसात्मक साधनों से सामाजिक न्याय स्थापित करना चाहते थे।

गाँधीजी के ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त में न तो व्यक्तिगत सम्पत्ति के दोष हैं न सार्वजनिक स्वामित्व के। इसमें न तो निजी उद्यम द्वारा उत्पन्न असमातनाएँ तथा शोषण की स्थिति पैदा होती है न सार्वजनिक उद्यम की हिंसा और स्वतन्त्रता के हनन की सम्भावना होती है। इसमें वर्ग संघर्ष की सम्भावना भी कम होगी, सहकारी सस्थाओं के द्वारा इसमें श्रम एवं पूँजी के सम्बन्ध में तालमेल बैठाया जायेगा।

ट्रस्टीशिप द्वारा गाँधीजी वर्ग विभाजन का नहीं वरन् वर्ग संघर्ष खत्म करना चाहते थे। उन्हीं के शब्दों में, '' विभाजन तो होगा ही परन्तु वह समतल होगा लम्बरूप नहीं।'' गाँधीजी पूँजीपतियों और जमीदारों का सफाया नहीं चाहते थे वरन् उनके व मजदूरों के सम्बन्धों में बदलाव लाना चाहते थे, वे कहते थे कि प्रतिभावना की बुद्धि को कुण्ठित करने की कोई आवश्यकता नहीं किन्तु ऐसे व्यक्ति के आय के बड़े भाग को राज्य के हित में उसी तरह से प्रयोग में लिया जाना चाहिए। जिस तरह से संयुक्त परिवार मे पिता अपने कमाने वाले पुत्रों की आय का उपयोग करता है। पुत्र केवल न्यास के रूप में ही अपनी आमदनी को अपने पास रख सकते हैं ट्रस्टीशिप के द्वारा गाँधीजी दो उद्देश्य प्राप्त करना चाहते थे।

(i) इसमें अपरिग्रह की बात भी रह जाती और

(ii) परिग्रह वाले ममता पर चोट भी नहीं आती। संक्षेप मे गाँधीजी ट्रस्टीशिप द्वारा पूँजीवाद की बुराइयों का अन्त करना चाहते हैं।

गाँधीजी ट्रस्टीशिप की योजना को एक वृहद क्रान्ति कहते थे। वे कहते थे एक पूँजीपति की सम्पत्ति को जब्त कर उसे गरीबों में वितरित करना स्वयं मे एक असाधारण क्रान्ति हैं। परन्तु ट्रस्टशिप की योजना तो इससे भी 'वृहद क्रान्ति' है क्योंकि ट्रस्टशिप में जनता पूँजीपति की न केवल सम्पत्ति का उपयोग करती है बल्कि उसकी योग्यता, जानकारी तथा अनुभव का भी प्रयोग करती है।

वैध रूप में न सम्पत्ति या भूमि पर पूँजीपति या जमींदार का स्वमित्व होगा परन्तु नैतिक रूप उस पर समाज का स्वामित्व होगा। इस प्रकार सारी सम्पत्ति पर, जिये गाँधीजी समाज की उत्पत्ति मानते हैं, धनिकों और श्रमिकों अथवा जमींदारों और कृषकों का स्वामित्व रहेगा। वे पूँजीपतियों और जमींदारों से कहा करते थे कि ''आप अपने धन का उपयोग उसे त्यागकर करें।''

गाँधीजी की धारणा है कि यदि पूँजीपति या जमींदार अपने आप अपेक्षाधिक धन के ट्रस्टी नहीं बनते तो उन्हें अहिंसक सहयोग द्वार ट्रस्टी बनने के लिए बाध्य किया जायेगा। यदि ऐसा होने पर भी वे ट्रस्टी नहीं बनते तो कम से कम हिंसा का प्रयोग करते हुए उस धन पर सरकारी स्वामित्व स्थापित किया जायेगा। ऐसा स्थिति में गाँधीजी निजी स्वामित्व से सार्वजनिक स्वामित्व पसन्द करते हैं।

गाँधीजी ने जिस सामान्य कल्याण की विचारधारा के आधार पर निजी सम्पत्ति के अधिकार का समर्थन किया उसी सामान्य कल्याण के आधार पर उन्होंने राज्य के नियन्त्रण की माँग की।

अंग्रेजी उदारवादियों की तरह गाँधीजी सरकारी स्वामित्व के पक्ष में नहीं हैं, परन्तु यदि सर्वोदय के लिए यह हो जाये तो वे निजी स्वामित्व के साथ सरकारी स्वमित्व के विरुद्ध आपत्ति नहीं करते। उनका उद्देश्य केवल एक है कि सम्पत्ति का प्रयोग केवल सामान्य कल्याण के लिए किया जाय।

गाँधीजी का विश्वास है कि ट्रस्टी का कोई उत्तराधिकारी नहीं होता। यदि कोई है तो वह जनता हैं वैध अधिकार तो मौलिक दृष्टि में है, राज्य में नहीं क्योंकि, ''सम्पत्ति को जब्त होने से बचाने के लिए ही तो ट्रस्टीशिप के सिद्धानत को गढ़ा गया है।'' फिर भी गाँधीजी इसे राज्य द्वारा नियन्त्रित करना चाहते हैं क्योंकि इस प्रकार की व्यवस्था से राज्य और ट्रस्टी दोनों पर नियन्त्रण रहता है।

NOTES

ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त की प्रमुख विशेषताएँ निम्न हैं—

1. यह वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था के समान में अर्थात् समतावादी व्यवस्था में बदलाव करने का साधन है।
2. इसमें पूँजीवाद का स्थान नहीं हैं यद्यपि यह पूँजी के स्वमियों को सुधार लेने का मौका प्रदान करता है।
3. यह हृदय परिवर्तन का सिद्धान्त है। यह व्यक्ति को धन और लोभ की प्रवृत्ति से मुक्ति दिलाना चाहता है।
4. यह सम्पत्ति के निजी स्वमित्व के अधिकार को स्वीकार नहीं करता। यह केवल व्यक्ति की उचित आवश्यकताओं को स्वीकार करता है।
5. यह जरूरत पड़ने पर सम्पत्ति को राज्य कानूनों द्वारा नियन्त्रण के पक्ष में है।
6. यह सम्पत्ति का प्रयोग न तो स्वार्थ सिद्धि के लिए करना चाहता है और न समाज के हितों के विरुद्ध ही।
7. यह धन के स्वामित्व से इतना सम्बन्धित नहीं है जितना कि समाज कल्याण से है।
8. यह आय की न्यूनतम और अधिकतम सीमाएँ निर्धारित करता है।
9. यह उत्पादन 'लाभ' के लिए नहीं करना चाहता वरन् सामाजिक जरूरत लिए करना चाहता है।

4. **अपरिग्रह**—आर्थिक अन्याय तथा असमानता को दूर करने के लिए गाँधीजी ने अपरिग्रह का विचार दिया। उनका मत था कि प्रकृति स्वयं उतना उत्पादन करती है जितना सृष्टि के लिए आवश्यक है अत: प्राकृतिक नियम यह है कि अनावश्यक संग्रह न कर उतना ही प्राप्त किया जाए जितनी आवश्यकता है। गाँधीजी मानव की इच्छाओं में अत्यधिक अशुद्धि से भी चिन्तित थे और सादगी तथा सन्तोष जीवन को आदर्श मानते थे।

5. **वर्ग सहयोग**—गाँधीजी साम्यवादियों के वर्ग संघर्ष की अपेक्षा वर्ग सहयोग में विश्वास करते थे। वे मानते कि पूँजीपति व श्रमिक के हित परस्पर विरोधी नहीं वरन् एक दूसरे के पूरक होते हैं। उनके सामूहिक प्रयत्नों से ही उद्योगों का विकास सम्भव है। वे पूँजीपतियों की शक्ति एवं अधिकारों की सीमित करने एवं श्रमिकों को उद्योगों

के का मूल मन्त्र सहयोग है, संघर्ष नहीं। श्रमिक तथा पूँजीपति परस्पर सहयोग एवं सम्पर्क से लाभ उठा सकते हैं।

गाँधीजी के आर्थिक विचारों की कई आलोचनाएँ की जाती हैं। कई लोगों का मत है कि वर्तमान युग में यन्त्रीकरण तथा औद्योगीकरण के स्थान पर कुटीर उद्योगों की स्थापना का अर्थ है समाज की प्रगति को अवरुद्ध करना और उसे पीछे धकेलना। उनका न्यास का सिद्धान्त भी अव्यावहारिक है। पूँजीपतियों के हृदय परिवर्तन का बात भी हास्यास्पद प्रतीत होती है।

गाँधीजी के राजनीतिक विचार (POLITICAL VIEW OF GHANDHIJI)

गाँधीजी ने प्लेटो, रूसो या मार्क्स की भाँति किसी आदर्श राजनीतिक व्यवस्था का खाका नहीं खींचा ओर न ही ऐसा करने में उनकी कोई रुचि ही थी। वे राजनीतिक कार्यकर्त्ता ओर कर्मयोगी थें। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया कि वे पहले से नहीं बता सकते कि अहिंसा और सत्याग्रह पर आधारित उनका राजनीतिक समाज कैसा होगा। समय-समय पर उनके द्वारा दिये गये भाषणों भेटों, प्रकाशित लेखों एवं 'हिन्द स्वराज' नाम पुस्तक में प्रकट किये गये विचारों से उनके राजनैतिक विचारों का पता चलता है।

राज्य के बारे में गाँधीजी के विचार

गाँधीजी के राज्य सम्बन्धी विचार दार्शनिक अराजकतावादियों से मिलते जुलते है। वे राज्य को बहुत अधिक महत्व देने का तैयार नहीं है, उनके अनुसार व्यक्ति साध्य और राज्य साधन है। वे राज्य को सामाजिक उत्थान तथा जनकल्याण का एक साधन मात्र मानते हैं उन्होंने कई कारणों से राज्य की सत्ता का विरोध किया है; जैसे—

(1) राज्य व्यक्ति के नैतिक विकास का मार्ग प्रशस्त नहीं करता। यह अनैतिक है क्योंकि इसमें लोग स्वेच्छा से नहीं वरन् कानून एवं दण्ड के भय से कार्य करते हैं,

(2) राज्य संगठित हिंसा का प्रतीक है,

(3) राज्य का बढ़ता कार्यक्षेत्र व्यक्ति में स्वालम्बन आत्मविश्वास के गुणों को विकसित नहीं होने देता।

गाँधीजी के अस्तित्व के विरुद्ध विपरीत होते हुए भी एक आवश्यक बुराई के रूप में गाँधीजी राज्य को समाप्त करने के पक्ष में नहीं थे। वे राज्य के कार्यक्षेत्र अधिकाधिक सीमित करने के पक्ष में थे। इस सन्दर्भ में उन्होंने तीन सुझाव दिये—

1. सत्ता का विकेन्द्रीकरण—

गाँधीजी राजनीतिक शक्ति के विकेन्द्रीकरण के पक्ष में थे उनका उद्देश्य प्रत्येक गाँव को आर्थिक एवं राजनीतिक रूप से एक आत्मनिर्भर गणराज्य बनाना था। वे ग्राम पंचायतों को अपने गाँव का प्रबन्ध एवं प्रशासन करने के सभी अधिकार दिये जाने के पक्ष में थे। वे प्रान्तीय एवं केन्द्रीय सरकारों का ग्राम प्रशासन में कम से कम

हस्तक्षेप चाहते थे। उनकी प्रजातन्त्र में दृढ़ आस्था थी। वे बहुमत से शासन समर्थक थे, किन्तु अल्पसंख्यकों के हितों प्रति उदासीन नहीं थे।

NOTES

2. राज्य का कार्यक्षेत्र न्यूतनम—

राजसत्ता की बुराइयों को दूर करने के लिए उनका सुझाव यह था कि राज्य का कार्यक्षेत्र न्यूनतम हो तथा व्यक्ति के कार्य में कम से कम हस्तक्षेप करें।

3. राज्य का प्रभुत्व सिद्धान्त का खण्डन—

गाँधीजी राज्य के प्रभुत्व के सिद्धान्त का खण्डन करते हैं, वे व्यक्ति को साध्य तथा राज्य को साधन मानते हैं। राज्य जनता की भक्ति का हकदार तभी हो सकता है जब वह जनता के लिए कल्याणकारी कार्य करे यदि राज्य अपने कर्तव्यों से विमुख हो जाता है, जनता पर अत्याचार करने लगता है और ऐसे कानूनों का निर्माण करता है जो व्यक्ति के अन्तःकरण के विरुद्ध हो तो वह जनता की भक्ति प्राप्त करने का अधिकार खो बैठता है। ऐसी दशा में जनता को राजसत्ता का विरोध करना चाहिए।

गाँधीजी का आदर्श समाज

गाँधीजी ने अपने सिद्धान्तों के अनुरूप एक आदर्श समाज या राज्य की कल्पना की थी जिसे वे रामराज्य कहते थे। इस प्रकार के राज्य की विशेषताएँ निम्नांकित होंगी।

1. अहिंसात्मक समाज—

गाँधीजी अपने आदर्श राज्य को अहिंसात्मक समाज को कहते हैं। इनमें राज्य, पुलिस, जेल, सेना एवं न्यायालय भी होंगे जिनका प्रयोग जनता को आतंकित और उत्पीड़ित करने के लिए नहीं बल्कि उनका सेवा करने के लिए किया जाएगा। इस समाज में समाज विरोध तत्वों के विरुद्ध सत्याग्रह रूपी दबाव का प्रयोग किया जाएगा।

2. प्रजातन्त्रात्मक शासन—

इस समाज में शासन का रूप पूर्णतया लोकतान्त्रिक होगा। जनता मतदान एवं चुनाव लड़ने की हकदार होगी। शासन सत्ता सीमित होगी जनता तथा के प्रति उत्तरदायी होगी।

3. विकेन्द्रित सत्ता—

इस प्रकार के राज्य में सत्ता का विकेन्द्रीकरण होगा। ग्राम पंचायती को ग्राम शासन के अधिकार प्राप्त होंगे। न्याय व्यवस्था भी विकेन्द्रीतकृत होगी। न्याय सस्ता होगा। वे वकीलों और न्यायाधीशों के अण्कि पक्ष में नहीं थे। वे जेलों का बदला लेने वाली कोठरी नही मानते वरन् इन्हें स्कूल, अस्पताल और सुधार केन्द्रों का मिलाजुला रूप मानते हैं पुलिस जुल्म और केन्द्रीकरण का प्रतीक है।

दयानन्द सरस्वती (Dayanand Saraswatu : 1824-1883)

स्वामी दयाननद सरस्वती उन प्रमुख विचारकों में से एक हैं। जिन्होंने भारतीय समाज में व्याप्त धार्मिक सामाजिक अन्धविश्वासों को दूर करने में एक मसीहा की भूमिका निभायी। स्वामी दयानन्द की यह मान्यता थी कि हिन्दू समाज की सभी मूल समस्याओं का कारण पर आधारित वह तथाकथित सनातन धर्म हैं जिसके फलस्वरूप हिन्दु धर्म अपने वैदिक आदर्शो से हटकर मूर्ति-पूजा तथा सामाजिक कुप्रथाओं मे उलझ गया। इस दृष्टिकोण से स्वामी कुरीतियों को दूर करने का प्रयास किया बल्कि वैदिक प्रमाणें के आधार पर मूर्ति-पूजा का भी खण्डन किया। उन्होंने 'आर्य समाज' के रूप में ऐसी सुधारवादी संस्था स्थापित की जिसमें एक ओर हिन्दुओं को इस्लाम धर्म ग्रहण करने से रोका तथा दूसरी और शुद्धीकरण की प्रक्रिया के द्वारा उन सभी को पुनः हिन्दू बनने का अवसर प्रदान किया जिन्हें उनकी इच्छा के विपरीत मुसलमान अथव ईसाई बना लिया गया था। स्वामी दयानन्द ने यह क्रान्तिकारी विचार प्रस्ततु किया कि किसी भी धर्म में रखते हुए ही उसमें सुधार लाया जा सकता है, किसी अन्य धर्म को ग्रहण करके नहीं। स्वामी दयानन्द के विचारों को समझने से पूर्व उनके जीवन पर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

जीवन-परिचय

स्वामी दयानन्द सरस्वती का जन्म कठियावाड़ क्षेत्र के टंकारा नामक कस्बे मे सन् 1824 में हुआ था। इनके पिता का नाम अम्बा शंकर था जो कुलीन ब्राह्मण थे। अम्बा शंकर जी एक बड़े जमींदार थे और सम्प्रदाय के अन्तर्गत अपने धार्मिक विश्वासों में उनकी विशेष आस्था थी। एक धार्मिक परिवार में जन्म लेने के कारण दयानन्द जी की शिक्षा परम्परागत रूप से हुई। अपने देव के नाम पर ही माता-पिता के द्वारा इनका नाम मूल शंकर रखा गया। मूल शंकर अल्पायु से ही कुशाग्र बुद्धि के थे। जब उनकी आयु 10 वर्ष की हुई तब उन्हें व्याकरण और वेदों का अच्छा ज्ञान हो गया था धार्मिक शिक्षा के अन्तर्ग उन्होंने 14 वर्ष की आयु में ही धार्मिक ग्रन्थों को कण्ठस्थ कर लिया था।

धर्मशास्त्रों के ज्ञान तथा अपनी विवेक बुद्धि के कारण मूलशंकर आरम्भिक जीवन से ही अनेक मान्यताओं को अस्वीकार करने लगे जो तत्कालीन हिन्दु धर्म का अभिन्न अंग बनी हुई थी। एक दिन जब मूलशंकर, शिव की उपासना कर रहे थे तब उन्होंने देख कि एक चूहा शिव की मूर्ति पर चढ़कर प्रसाद खा रहा है। घटना सामान्य सी थी लेकिन मूल शंकर के मन में यह द्वन्द्व पैदा हो गया कि जो मूर्ति एक चूहे से अपनी रक्षा नहीं कर पा रही है वह सम्पूर्ण जगत की रक्षा कैसे कर सकती है ? जब उनकी बहिन की मृत्यु हुई तब मूलशंकर संसार से विरक्त रहने लगे और एक दिन उन्होंने घर का परित्याग कर दिया। इक्कीस वर्ष की आयु में उनकी मुलाकात स्वामी सच्चिदानन्द परमहंस से हुई।

स्वामी सच्चिदानन्द ने उन्हें वेदों का ज्ञान देना आरम्भ किया। इसके साथ ही मूल शंकर अन्य धार्मिक ग्रन्थों का भी विस्तृत अध्ययन करते रहे। जब उनकी आयु 24 वर्ष की हुई तब वह पूर्णानन्द स्वामी ही सम्पर्क में आए जिनसे उन्हें वास्तविक ज्ञान प्राप्त हुआ। पूर्णानन्द स्वामी ने ही मूलशंकर को 'दयानन्द सरस्वती' का नाम देकर उन्हें सन्यास में

दीक्षित किया। इस प्रकार सन् 1848 में मूल शंकर को दयानन्द सरस्वती के नाम से जाना जाने लगा।

सन् 1861 में स्वामी दयानन्द की भेंट मथुरा में स्वामी बिरजानन्द से हुई। उन्हीं के आदेश पर स्वामी दयानन्द ने हिन्दू समाज के सम्पूर्ण मिथ्यापूर्ण को दूर करने का संकल्प लिया। वैदिक ज्ञान को पुनः स्थापित करने तथा हिन्दू आडम्बरों को समाप्त करने के लिए स्वामी दयानन्द ने सन् 1877 में औपचारिक रूप से आर्य समाज की स्थापना की। सन् 1883 में स्वामी दयानन्द सरस्वती का देहावसान हो गया। वास्तविकता यह है कि दयानन्द सरस्वती के विचारों तथा समाज-सुधार के क्षेत्र में उनके प्रयास को आर्य-समाज के माध्यम से ही समझा जा सकता है।

आर्य समाज

यह सच है कि दयानन्द सरस्वती से पूर्व अनेक सन्तों और समाज-सुधारकों ने हिन्दू जीवन के धार्मिक सामजिक पक्ष में सुधार लाने का प्रयास किया था लेकिन यह प्रयास संगठित आधार पर न होने के कारण इनमें अधिक सफलता प्राप्त नहीं की जा सकी।

राजा राममोहन राय ने बह्म समाज के द्वारा संगठित आधार पर कुछ प्रयास अवश्य किए लेकिन यह संस्था ईसाई विचारधारा से प्रभावित हो जाने के कारण हिन्दू समाज के परिष्कार में अधिक योगदान नहीं कर सकी। वेदों के गहन अध्ययन से दयाननद सरस्वती को यह प्रेरणा मिली कि यदि वैदिक मान्यताओं के आधार पर ही हिन्दू समाज को पुनर्गठित करने का प्रयत्न किया। जाये तो अपने धर्म में रहते हुए ही धार्मिक सुधार की प्रक्रिया को अधिक प्रभावपूर्ण बनाया जा सकता है। उस समय पंजाब में सिक्ख धर्म के सुधारवाद से भी स्वामी जी को विशेष प्रेरणा मिली। इसके परिणाम स्वरूप औपचारिक रूप से सन् 1877 में लाहौर में आर्य समाज की सदस्याता स्वीकार की। इसकी स्थापना के दिन केवल 23 व्यक्तियों ने आर्य समाज की सदस्यता स्वीकार की। इसकी स्थापना के दिन केवल 23 व्यक्तियों ने आर्य समाज की सदस्यता स्वीकार की यद्यपि तब से लेकर आज तक देश के प्रत्येक भाग में आर्य समाज की शाखाओं स्वीकार की यद्यपि तब से लेकर आज तक देश के प्रत्येक भाग में आर्य समाज की शाखाओं तथा इनकी सदस्यता में अभूतपूर्व वृद्धि होती रही।

अपने सुधारवादी चिन्तन, मिशनरी पद्धति और समाल सेवा के प्रयासों द्वारा आर्य समाज ने न केवल हिन्दुत्व और राष्ट्रवादिता का समर्थन किया बल्कि जाति विभाजन, बाल-विवाहों, मूर्ति-पूजा और धर्म के बाह्म आडम्बरों का भी व्यापक विरोध किया।

शिक्षा के प्रसार तथा स्त्री-शिक्षा के लिए आर्य समाज ने देश का प्रत्येक हिस्से मे जितनी शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की, उसकी तुलना किसी भी दूसरे संगठन ने नहीं की जा सकती। दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज के सदस्यों के लिए जिन धार्मिक सामाजिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, उन्हीं के आधार पर उनके चिन्तन की व्यावहारिकता को समझा जा सकता है।

धार्मिक सिद्धान्त (Religious Principles)

दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज के जिन धार्मिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, वे वेदों के प्रति अटूट विश्वास, जगत के कल्याण और सार्वभौमिक दृष्टिकोण पर आधारित हैं। शुरू में इन सिद्धान्तों की संख्या कुछ अधिक थी लेकिन बाद में 10 सिद्धान्तों को ही अधिक महत्वपूर्ण माना गया।

1. प्रत्येक प्रकार के अन्य सत्य और पदार्थ जिन्हें विद्या के द्वारा जाना जा सकता है, उनका स्त्रोत ईश्वर अर्थात् परमेश्वर ही ज्ञान का कारण है, अत: प्रत्येक स्थिति मे परमेश्वर में विश्वास रखना चाहिए।
2. ईश्वर का कोई आकार नहीं है। वह सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान है। ईश्वर का न तो कोई विशेष स्थान होता है और न ही उसे कोई आकर दिया जा सकात है वह निर्गुण और निराकार है। इस प्रकार मूर्ति के रूप में ईश्वर को स्वीकार नहीं किया जा सकता।
3. विश्व का समस्त ज्ञान वेदों मे निहित हैं, अत: आर्य शक्ति व्यक्ति को वेदों के माध्यम से ही ज्ञानार्जन करना चाहिए दयानन्द सरस्वती का शब्दों में "प्रत्येक आर्य को वेदों के माध्यम से ज्ञान प्राप्त करके इसका प्रचार लोगों में करना चाहिए।"
4. विश्व में यदि कुछ भी ग्रहण करने योग्य है तो वह केवल सत्य है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह जरूरी है कि वह सत्य को ग्रहण करे और असत्य का परित्याग करे। उन्होंने सत्य के जिस व्यावहारिक पक्ष को स्पष्ट किया, उसी की उन्होंने आर्य सत्य कहा।
5. प्रत्येक व्यक्ति को धर्मानुसार आचरण करना है। धर्म का तात्पर्य वेदों में वर्णित धर्म से है, परम्पराओं और रूढ़ियों के अनुसार कार्य करना नहीं।
6. प्रत्येक कार्य का यह कर्त्तव्य है कि विश्व के समस्त मानवों की भलाई का प्रयास करें। कोई भी आचरण जिसमें मानव-कल्याण की भावना नहीं होता, धर्म से सम्बन्धित नहीं, हो सकता।
7. समाज में अन्य व्यक्तियों से आर्य-धर्म के नियमों के अनुसार ही व्यवहार करना चाहिए। जिन विषयों का सम्बन्ध सम्पूर्ण समाज के कल्याण से है, उनमें व्यक्ति के लिए यह जरूरी है कि यह स्वयं को समाज के अधीन समझे।
8. अविद्या से अन्धकार उत्पन्न होता है। जीवन का वास्तविक प्रकाश विद्या जगत की उन्नति का विचार करना ही आर्य धर्म है।
9. व्यक्तिगत स्वार्थ अथवा स्वयं की उन्नति की इच्छा को छोड़कर सम्पूर्ण जगत की उन्नति का विचार करना ही आर्य धर्म है।
10. सभी प्राणियों का हित करने के लिए सत्य और अहिंसा का मार्ग ही सर्वोत्तम मार्ग है।

सामाजिक सिद्धान्त (Social Principles)

NOTES

सामाजिक आधार पर आर्य समाज तीन मौलिक सिद्धान्तों का आधारित रहा है इन सभी सिद्धान्तों का उद्देश्यों एक समताकारी समाज की स्थापना करके मानव-कल्याण की वृद्धि करना और समाज में मानवीय मूल्यों का प्रसार करना है। लाला लाजपत राय ने अपनी पुस्तक 'आर्य समाज का इतिहास' में इन सिद्धान्तों का उल्लेख निम्नांकित रूप से किया है—

1. आर्य समाज का पहला सामाजिक सिद्धान्त ईश्वर को पिता के रूप में देखते हुए सभी मनुष्यों के साथ भ्रातुत्व का अनुभव करना है। इसका आशय है कि संसार में सभी व्यक्ति एक ही परमपिता की सन्तानें हैं तथा जाति, धर्म अथवा सम्पत्ति के आधार पर उनके बीच किसी तरह का भेद नहीं किया जा सकता।

2. दूसरा सामाजिक सिद्धानत सभी व्यक्तियों को अवसरों की समानता देना है। इसका तात्पर्य है कि सभी स्त्री और पुरुषों से समानता का व्यवहार करना, सभी से न्यायपूर्ण व्यवहार करना और सभी से समुचित व्यवहार करना जरूरी है।

3. समाज में सभी के साथ प्रेम तथा पवित्रता पर आधारित सम्बन्ध स्थापित करना आर्य समाज का तीसरा सामाजिक सिद्धान्त है।

आर्य समाज के उपर्युक्त सिद्धान्तों के अतिरिक्त स्वामी दयानन्द ने समय-समय पर मानवता के कल्याण के लिए जो सन्देश और शिक्षाएँ दी, उन सभी को आर्य समाज के सिद्धान्तों के रूप में स्वीकार किया जाता है। वास्तविकता यह है कि आर्य समाज के सिद्धान्त पारलौकिक जीवन की सफलता को उतना महत्व देते, जितना अधिक यह व्यक्ति द्वारा अपने लौकिक कर्त्तव्यों को पूरा करने से सम्बन्धित रहे हैं। मूलत: यही वैदिक धर्म का सार है। इसके अतिरिक्त आर्य समाज के सिद्धान्त उन विभेदों और असमानताकारी व्यवस्थाओं का भी बहिष्कार करते हैं जो स्मृतिकाल से लेकर स्वामी दयानन्द के समय तक हिन्दू समाज में फलते-फूलते रहे थें इस प्रकार आर्य समाज के सिद्धान्त का मूल उद्देश्य हिन्दू समाज को स्मृतिकालीन कर्मकाण्ड सें तथा मिथ्याचारों से हटाकर पुन: वैदिक धर्म की ओर ले जाना है।

समाज में दयानन्द सरस्वती की भूमिका
(Role of Dayanand Saraswati in Social Reform)

भारत में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तर्राद्ध की सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक स्थिति अत्यधिक विषम थी। इस समय एक और ब्रिटिश सरकार के अत्याचार निरन्तर बढ़ते जा रहे थे तो दूसरे ओर ईसाई मिशनरियाँ और इस्लामी धर्मावलम्बी अपने-अपने अनुयायियों को संख्या बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील थे। प्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष रूप से बहुत-से हिन्दुओं को ईसाई अथ्वा मुसलमान बनने के लिए बाध्य किया जा रहा था। इन परिस्थितियों में स्वामी दयानन्द ने हिन्दू धर्म में व्याप्त अन्धविश्वासों और कुरीतियों को दूर करके समाज का पुर्ननिर्माण करने का प्रयास किया। सच तो यह है कि आर्य समाज की औपचारिक रूप

से स्थापना करने से पहले यह सम्पूर्ण सुधार कार्य वैदिक सिद्धान्तों पर आधारित था। उन्होंने जब गुजरात से उत्तर भारत में आकर यहाँ अज्ञानता, मूर्ति-पूजा और अन्ध-विश्वासों का विरोध करना शुरू किया, तभी यह स्पष्ट होने लगा कि उनका सम्पूर्ण चिन्तन सामाजिक जागरूकता तथा समाज सुधार के लिए समर्पित है। उन्होंने अपने ध्वज पर 'पाखण्ड खण्डनों' का प्रतीक अंकित किया। इसका उद्देश्य उन पाखण्डों और मिथ्याचारों को समाप्त करना था जो पुरोहितवादी हिन्दू धर्म की उपज थे। इस प्रकार समाज सुधार के क्षेत्र में स्वामी दयानन्द ने जो भूमिका निभाई, उसे एक सुधारवादी चिन्तन तथा उसक प्रभाव को अग्रांकित रूप से समझा जा सकता है—

1. **वैदिक विचारधारा की पुनः स्थापना**—स्वामी दयानन्द ने स्मृति कालीन तथा पौराणिक हिन्दू धर्म की कटू आलोचना की। उन्होंने बतलाया कि हिन्दू समाज के पुनर्निमाण के लिए वैदिक मान्यताओं की पुनः स्थापना करना जरूरी है। वास्तविकता यह है कि वेदों में न तो कहीं जाति व्यवस्था की उच्चोच्च परम्परा का उल्लेख है और न ही इनमें स्त्री और पुरुष के बीच किसी तरह का विभेद माना गया है। परिवार और विवाह के प्रति भी वैदिक विचारधारा बहुत उदार और अव्यावहारिक है। आज हमारे समाज में अस्पृश्यता जैसी बुराई के कारण जिन करोड़ो लोगों का जीवन विघटित हो रहा है, उस अस्पृश्यता जैसी बुराई के कारण जिन करोड़ो लोगों का जीवन विघटित हो रहा है, उस अस्पृश्ता का वैदिक धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। हमारा मध्यकालीन समाज सती प्रथा, देवदासी, प्रथा, बाल-विवाह तथा दहेज प्रथा जैसी जिन समस्याओं से घिरा रहा, वे पौराणिक हिन्दू धर्म की ही उपज है। वेदों में स्त्री-पुरुषों की समानता तथा विलम्ब विवाह को एक सर्वव्यापी सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया गया। इसके अतिरिक्त, वैदिक धर्म में कर्मकण्डों तथा पुराहितों के हितों को संरक्षण देने वाले बाह्य आडम्बरों, वैदिक धर्म में कर्मकण्डों तथा पुरोहितों के हितों को संरक्षण देने वाले बाह्य आडम्बरों का भी कोई स्थान नहीं है। इसका तात्पर्य है कि यदि समाज में वैदिक विचारधारा को पुन: स्थापित कर दिया जाय तो हिन्दू समाज को सभी तरह के अन्धविश्वासों कुरीतियों से बचाया जा सकता है स्वामी जी को इस विचारधारा के आधार पर आर्य समाज में केवल वैदिक सिद्धान्तों का प्रचार और प्रसार किया बल्कि इतने अधिक साहित्य का भी सृजन किया जितना कोई भी दूसरा धार्मिक संगठन नहीं कर सका।

2. **शुद्धीकरण के द्वारा धर्म की रक्षा**—स्वामी जी का विचार था कि प्रलोभन से या बलपूर्वक किया गया धर्म परिवर्तन व्यक्ति की अस्थाओं को समाप्त नहीं करना। शुद्धीकरण की प्रक्रिया के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म में पुनः वापस आने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। उनके चिन्तन का कारण वे परिस्थितियाँ थीं जिनमें हिन्दू समाज की असमानतओं सामाजिक व्यवस्थाओं और रूढ़िगत व्यवहारों के कारण लाखों हिन्दूओं को ईसाई तथा इस्लाम धर्म को ग्रहण करने की प्रेरणा दी जा रही थी। बहुत से व्यक्ति ईसाई धर्म की इसलिए ग्रहण करने लगे थे कि कुछ विशेष परिस्थितियों में उन्हें अपवित्र समझकर शेष हिन्दू उनसे अपना कोई सम्बन्ध बनाये रखना नहीं चाहते थे। इसके फलस्वरूप स्वामी जी की विचारधारा के आधार पर

आर्य समाज ने शुद्धीकरण कार्यक्रम शुरु करके धर्म परिवर्तन करने वाले हिन्दुओं को पुनः हिन्दु धर्म में लाने का प्रयन्त किया। शुरू में शुद्धीकरण के द्वारा हिन्दु धर्म में पुनः लौटने वाले व्यक्तियों की संख्या काफी कम थी लेकिन धीरे-धीरे इस संख्या में वृद्धि होने लगी। केवल राजपूत शुद्धि सभा के प्रयासों से ही लगभग दो लाख लोगों को हिन्दू धर्म में वापस लाकर ही आर्य समाज में मांसाहारी भोजन और मद्यपान के विरुद्ध भी व्यापक प्रयास किए। इसके फलस्वरूप हिन्दूओं में धर्म परिवर्तन की प्रक्रिया कमजोर पड़ने लगी तथा उनके धार्मिक एकीकरण को प्रोत्साहन मिला।

3. **मूर्ति-पूजा का विरोध**—स्वामी दयानन्द सरस्वती मूर्ति-पूजा के विरोधी थे। उनका यह विरोध धार्मिक और सामाजिक दोनों स्तरों पर स्पष्ट होता है। उन्होंने कहा कि हिन्दू समाज में बढ़ती हुई विघटनकारी प्रवृत्तियों का कारण धर्म पर पुरोहित वर्ग का एकाधिकार तथा पुराणों और स्मृतियों में दिए गए मिथ्या विचार हैं। मौलिक रूप से हिन्दू धर्म कभी मूर्तिपूजक स्मृतियों के द्वारा पुरोहित वर्ग में मूर्ति-पूजा का प्रचार और प्रसार इसलिए किया जिससे इसका अन्तिम लाभ उन्हीं को मिल सके। धीरे-धीरे मूर्ति-पूजा के कारण भी कर्मकाण्डों और अन्धविश्वासों में इतनी वृद्धि हुई। उन्होंने बतलाया कि मन्दिरों में स्थापित मूर्तियों को तोड़कर और बलपूर्वक उनका अपमान करके अनेक विदेशी शासकों ने हिन्दूओं को नीचा दिखलाया है जिससे हम हीनता की भावना से ग्रसित हुए हैं। वास्तव में धर्म के लिए किसी प्रतीक की जरूरत नहीं है। ईश्वर निराकार और निर्गुण है तथा प्रत्येक व्यक्ति को अन्तरामा में निवास करता है। उसकी अराधना सत्य, प्रेम और ज्ञान के द्वारा ही की जा सकती है। इस आधार पर स्वामी दयानन्द ने ब्राह्मणों, ईसाई धर्माचार्यो और मुल्लाओं के साथ समय-समय पर वाद-विवाद आयोजित करके हिन्दूओं के विचारों को बदलने का प्रयास किया उनके इन विचारों का व्यावहारिक प्रभाव आज इसी बात से स्पष्ट हो जाता है कि विवेकशील हिन्दू चाहे आर्य समाज से सम्बन्धित हों अथवा वे आर्य समाज से बाहर हों, आज धीरे-धीरे उनमें बहुदेवत्तवाद के स्थान पर एक निराकार ब्रह्म का विश्वास प्रबल होता जा रहा है।

4. **शिक्षा का प्रसार**—इस क्षेत्र में स्वामी दयानन्द के योगदान को स्पष्ट करे हुए प्रोफेसर ए. आर देसाई ने लिखा है, ''आर्य समाज में जाति, वंश, समुदाय प्रजाति और लिंग-भेद को अस्वीकार करते हुए समानता के सिद्धान्त के आधार पर शिक्षा का प्रचार और प्रसार किया।'' उनका विचार था कि समाज में प्रत्येक वर्ग के लिए शिक्षा देना जरूरी है। इसी के द्वारा रूढ़ियों मिथ्याचारों ओर सामाजिक असमानताओं को दूर किया जा सकता है। इस प्रकार स्वामी जी अज्ञानता को दूर करना आर्य समाज के आठवें धार्मिक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया। उन्होंने यह अनुभव कर लिया था कि हिन्दू समाज में शिक्षा पर केवल कुछ व्यक्तियों का ही एकाधिकार है जो अपने निजी स्वार्थो के कारण जनसाधारण को अशिक्षित ही बनाए रखना चाहते हैं। दूसरी ओर सरकार के द्वारा जिस शिक्षा व्यवस्था की स्थापना की गयी थी, वह भारतीय जरूरतों और संस्कृति के अनुकून नहीं थी। इस प्रकार भारत में उन्होंने एक सी शिक्षा पर जो दिया जिसमें ज्ञान का महत्व होने के साथ ही वह सामाजिक और

धार्मिक रूप से उपयोगी हो। उनके इन्हीं विचारों के आधार पर बाद में 'दयानन्द आंग्ला वैदिक शिक्षा समिति' की स्थापना हुई जिसने जनतान्त्रिक मूल्यों, नैतिक सिद्धान्तों, राष्ट्रवाद, आत्मनिर्भरता तथा सत्य पर आधारित शिक्षा की व्यवस्था की। स्वामी जी के विचारों पर आर्य समाज के द्वारा लड़कियों को शिक्षित करने के लिए अलग रूप से स्कूलों और कॉलेजों की स्थापना उस समय की गयी रूढ़ियों मे फँसा हिन्दू समाज लड़कियों को शिक्षा देना एक पापाचार और समाज-विरोधी कार्य के रूप में देखता था। स्वामी दयानन्द के स्वयं मेरठ में एक बालिका विद्यालय की स्थापना करके इस क्षेत्र मे पहल की। आज आर्य समाज द्वारा स्थापित शिक्षण संस्थाओं का संख्या 600 से भी अधिक हो चुकी है।

5. **स्त्रियों की स्थिति में सुधार**—स्वामी जी ने वेदों का गहन अध्ययन करके यह विचार प्रस्तुत किया कि वैदिक आदर्शो के आधार पर समाज में स्त्रियों को वे सभी अधिकार समाज में स्त्रियों को ने केवल सभी आर्थिक तथा धार्मिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया था बल्कि विभिन्न रूढ़ियों और कुरीतियाँ द्वारा उनका पुनर्विवाह का कोई अधिकार नहीं था; बहुपत्नी विवाह के कारण परिवार में स्त्रियों की स्थिति बहुत निम्न हो गयी थी; सती प्रथा व्यावहारिक रूप से एक धार्मिक कृत्य बनी हुर्द थी; सम्पूर्ण स्त्री-जीवन अज्ञानता के अन्धकार में डुबा हुआ था तथा देश के विभिन्न क्षेत्रों में जन्म में समय ही लड़कियों ही हत्या की घटनाएँ बढ़ती जा रही थीं। इन दशाओं में स्वामी दयानन्द ने स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार देने की घोषणा करके एक युगान्तकारी कदम उठाया। उन्होंने 'दलितोद्धार मण्डल' के द्वारा हिन्दु विधवाओं की रक्षा करने के लिए जहाँ अनेक कार्यक्रम बनाए, वहीं समाज विरोधी तत्वों से हिन्दू स्त्रियाँ की रक्षा करने के लिए संरक्षण गृहों की भी स्थापना की। स्वामी जी ने विधवाओं का पुर्नविवाह करवाने के लिए जो प्रयास किए, आरम्भ में उच्च जाति के हिन्दुओं ने इसका बहुत विरोध किया लेकिन धीरे-धीरे समाज में ऐसी जागरूकता उत्पन्न हो गयी जिसके फलस्वरूप विधवा-पुर्नविवाह की संख्या में तेजी से वृद्धि होने लगी। सच तो यह है कि भारत मे सती प्रभा पर रोक लगाने, हिन्दू स्त्रियों को सम्पत्ति अधिकार देने और विधवा पुनर्विवाह को व्यावहारिक बनाने के लिए समय पर जो कानून बनाए गए, उनके लिए एक दबाव समूह के रूप में आर्य समाज की भूमिका सबसे अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुई।

6. **बाल-विवाहों का विरोध**—वैदिक मान्यताओं के आधार पर दयानन्द सरस्वती ने बाल-विवाहों का आजीवन विरोध किया। हमारे समाज में स्मृतिकालीन मान्यताओं के प्रभाव से बाल-विवाह की समस्या ने एक गम्भीर रूप धारण कर लिया था। सन् 1911 की जनगणना से यह स्पष्ट हुआ कि प्रत्येक दस हजार लोगों में 157 हिन्दू विवाह 10 वर्ष से कम आयु मे किए जा रहे थे जबकि 10 से 15 वर्ष की आयु में होने वाले विवाहों की संख्या 602 थी। इतनी कम आयु में विवाह होने से न केवल जन्म के समय माताओं की मृत्यु हो जाना सामान्य सी बात हो गयी थी बल्कि बाल-विधवाओं की संख्या में तेजी से वृद्धि हो रही थी। स्वामी जी के विचारों के आधार पर सन् 1907 से आर्य समाज ने बाल-विवाह के विरुद्ध अभियान चलाना

NOTES

आरम्भ किया। आर्य समाज के अन्तर्गत 'भारत स्त्री मण्डल' तथा 'महिला मिलाप समिति' ने सरकार पर बाल-विवाह के विरुद्ध कानून बनाने के लिए दबाव डालना शुरू किया। इसके परिणाम स्वरूप हरविलास शारदा जैसे प्रमुख आर्य समाजी कार्य-कर्ता को बाल-विवाह कानून का प्रारूप बनाने का काम सौंपा गया। उनकी सिफारिशों के आधार पर भारत में बाल-विवाह के विरुद्ध जो पहला कानून पास किया गया, उसी को हम 'शारदा एक्ट, 1929' कहते हैं।

7. **अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन**—दयानन्द सरस्वती का विचार था कि हिन्दू समाज में विभिन्न जातियों के बीच बढ़ने वाली सामाजिक दूरी की समस्या को सुलझाने का सबसे अच्छा उपाय अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन देना है। इसके अतिरिक्त भारत में दहेज और इसी प्रकार की जो दूसरी सामाजिक कुरीतियाँ उत्पन्न हो रही थीं, उनका समाधान भी अन्तर्जातीय विवाहों के द्वारा ही हो सकता है। इस विचार के आधार पर उनके अनुयायी स्वामी श्रद्धानन्द ने अनेक विरोधों के पश्चात् भी अन्तर्जाजीय विवाह आयोजित करना आरम्भ कर दिये। इसका प्रारम्भ उन्होंने स्वयं अपनी छोटी पुत्री का विवाह अपने से अलग जाति में करके किया। आज भी अर्न्तजातीय विवाहों को सम्पन्न करवाने के क्षेत्र में आर्य समाज की भूमिका महत्वपूर्ण बनी हुई है।

8. **अनुसूचित जातियों की स्थिति में सुधार**—स्वामी की यह दृढ़ मान्यता थी कि भारत के सामाजिक और राजनैतिक एकीकरण के लिए छुआछूत के भेद को खत्म करना तथा निम्न जातियों की दशा में सुधार करना जरूरी है। उन्होंने तीन आधारों पर अनुसूचित जातियों को सम्मानपूर्ण स्थान देना उचित बतलाया। पहला यह कि वेदों में अस्पृश्यता जैसी किसी व्यवस्था का उल्लेख नहीं है और न ही अनुसूचित जातियों हिन्दू समाज की एक अलग श्रेणी है। दूसरा यह कि राष्ट्रीय एकीकरण के दृष्टिकोण से अनुसूचित जातियों के साथ शेष हिन्दुओं के समान व्यवहार करना जरूरी है। तीसरा आधार मानवतावाद का है जिसके अनुसार किसी भी व्यक्ति को दूसरे की तुलना मे अधिक पवित्र या अपवित्र नहीं कहा जा सकता । स्वामी जी के इन्हीं विचारों के आधार पर बाद में आर्य समाज में अनुसूचित जातियों द्वारा आयोजित किये जाने समारोहों, तथा धार्मिक कार्यो के लिए पुरोहितों की सेवाएँ देना भी आरम्भ कर दीं जिससे उन्हें शेष हिन्दुओं से जोड़ा जा सके। अनुसूचित जातियों के जिन लोगों ने आर्य समाज के सिद्धान्तों को स्वीकार किया, उनसे दूसरे आर्य समाजियों के साथ किसी तरह का भेद न करने की परम्परा का आरम्भ किया गया।

समाज सुधार के क्षेत्र मे दयानन्द सरस्वती के विचारों तथा उनके व्यावहारिक योगदान से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दू समाज में जागरूकता पैदा करने तथा धार्मिक रूढ़ियों को कम करने में उनकी भूमिका बहुत महत्वपूर्ण रही है। स्वामी जी ने एक ओर हिन्दू धर्म के एकीकरण तथा हिन्दू समाज के पुर्नगठन में विशेष योगदान किया जबकि दूसरी ओर हिन्दूओं को अपने धार्मिक विश्वासों और कर्मकण्डों के लिए पुन: विचार करने की प्रेरणा प्रदान की। वास्तविकता यह है कि हिन्दू समाज में एक हजार से भी अधिक वर्षो की लम्बी

अवधि में अन्धविश्वासों और कुप्रथाओं के जंगली पेड़-पौधों जिस तरह जड़ें जमा चुके थे, उन्हें समूल उखाड़ फेंकने में दयानन्द सरस्वती की भूमिका को सदैव याद किया जाता रहेगा।

समालोचना (Critical Evaluation)

यह सच है कि सामाजिक तथा धार्मिक सुधार के क्षेत्र मे स्वामी दयानन्द सरस्वती के विचार बहुत प्रभावपूर्ण सिद्ध हुए लेकिन यह ध्यान रखना भी जरूरी है कि उन्होंने अपने विचार उन परिस्थितियों में व्यक्त करना शुरू किए जब भारतीय समाज संक्रमण की दशा से गुजर रहा था। इस समय एक ओर पहले के समाज सुधारकों के प्रभाव से ब्रिटिश शासन ने कुछ प्रमुख हिन्दु कुप्रथाओं को समाप्त करने के प्रयास करना शुरू कर दिये थे जबकि दूसरी ओर अधिकांश हिन्दू इन प्रयत्नों को धर्म-विरोधी मानकर व्यवहारों से किसी तरह का परिवर्तन लाने के लिए तैयार नहीं थे। इस स्थिति में दयानन्द सरस्वती ने समाज को ऐसा नेतृत्व दिया जिसके फलस्वरूप वैचारिक और व्यावहारिक धरातल पर हिन्दू समाज की पुर्नगठित किया जा सके। इसके बाद भी बनेक विद्वानों ने स्वामी जी के विचारों से सम्बन्धित कुछ ऐसी विसंगतियों का भी उल्लेख किया है, जिनके सन्दर्भ में उनके व्यक्तित्व का मूल्यांकन करना आवश्यक है।

डॉक्टर ग्राहम ने लिखा है कि स्वामी ने अनेक विचारों ओर उनके लेखों के बीच कुछ विसंगतियाँ हैं। उदाहरण के लिए, अपने भाषणों में स्वामी दयानन्द ने सदैव वैदिक धर्म तथा वैदिककालीन समाज के अनुसार परिवर्तन लाने पर बल दिया लेकिन उनके लेखों में मनुस्मृति के अंशों का काफी उपयोग हुआ है। यह सर्ववदित है कि मनुस्मृति ही एक ऐसा हिन्दू धर्मग्रन्थ है जिसने सबसे पहले वैदिक व्यवस्थाओं से हटकर एक नये सनातन धर्म की नींव डाली। स्वामी दयानन्द ने सुधार कार्यक्रमों के अन्तर्गत सबसे अधिक जातिगत विभेदों को समाप्त करने पर दिया। इसके पश्चात् भी स्वामी यह चाहते थे कि जाति व्यवस्था को अवश्य समाप्त कर दिया जाये लेकिन वैदिककालीन वर्ण-व्यवस्था का बने रहना जरूरी है। यह सच है कि उन्होंने वर्ण विभाजन का आधार व्यक्ति की योग्यता और कुशलता को माना जिसमें कभी भी परिवर्तन हो सकता है लेकिन भारत जैसे देश में ऐसे विचार बहुत कम व्यावहारिक है। इसका कारण यह है कि वर्ण-विभाजन के कारण ही भारत में जातियाँ का विभाजन शुरू हुआ । वर्ण-विभाजन ने अन्तर्विवाह की जिस नीति को प्रोत्साहन दिया, उसी के कारण यहाँ जातिगत भेद-भाव वैवाहिक समस्याओं में इतनी वृद्धि हुई है।

अध्याय का संक्षिप्त सार

भारत में जाति व्यवस्था से उत्पन्न हानियाँ को तब तक दूर नहीं किया जा सकता, जब तक वर्ण व्यवस्था पर आधारित भारतीय समाज की मूल संरचना में बदलाव न लाया गया। अपनी ओर बहुत कम आकर्षित कर सका। व्यावहारिक रूप से भी यह देखा गया है कि आर्य समाज के सुधार आन्दोलन में उच्च जातियों का ही अधिक सहयोग रहा है। वास्तविकता यह है कि वेदों को ही अपने चिन्तन का आधार मानकर धार्मिक एकीकरण

के क्षेत्र में स्वामी जी का योगदान महत्वपूर्ण है लेकिन वैदिक मान्यताओं के आधार पर समाज का पुर्नगठन करना एक विवादपूर्ण विषय बन गया। ऐसे चिन्तन को बीसवीं शताब्दी की धारा के अनुकूल भी नहीं कहा जा सकता। इसके बाद भी अपने युग की सीमाओं को ध्यान में रखते हुए स्वामी जी के सिद्धान्त तथा व्यावहारिक योगदान को भारतीय समाज के बड़ी उपलब्धि कहा जा सकती है।

परिक्षोपयोगी प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. महात्मा गाँधी का जीवन परिचय देते हुए उनकी प्रमुख कृतियों का उल्लेख कीजिए।
2. गाँधीवाद से आप क्या समझते हैं ? विवेचना कीजिए।
3. गाँधीजी के आर्थिक तथा राजनैतिक विचारों पर समीक्षा कीजिए।
4. समाज सुधार में स्वामी दयानन्द सरस्वती की भूमिका की विवेचना कीजिए।
5. गाँधीजी के आदर्श समाज पर अपने विचार दीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. गाँधीजी के दर्शन की पृष्ठभूमि की समीक्षा कीजिए।
2. सत्य और अहिंसा के संदर्भ में गाँधीजी के विचारों की व्याख्या कीजिए।
3. निम्नांकित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

   (क) बाल-विवाह का विरोध

   (ख) सत्याग्रह
4. आर्यसमाज के सिद्धान्तों की समालोचना कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. गाँधीजी कानून की शिक्षा प्राप्त करने के लिए इंग्लैण्ड गये—

   (अ) सन् 1888 में   (ब) 1886 में

   (स) सन् 1891 में   (द) 1899 में
2. गाँधीजी काँग्रेस के अध्यक्ष चुने गये—

   (अ) 1921 में   (ब) 1919 में

   (स) 1924 में   (द) 1942 में

NOTES

3. गाँधीजी अहिंसा को समस्याओं के समाधान का मानते हैं—

   (अ) शस्त्र (ब) अस्त्र

   (स) भिन्न (द) उपर्युक्त सभी

4. स्वामी दयानन्द सरस्वती का जन्म कब हुआ था ?

   (अ) 1818 में (ब) 1820 में

   (स) 1801 में (द) 1824 में

5. स्वामी सच्चिदानन्द परमंहस से स्वामी दयानन्द जी की भेंट कितनी वर्ष की आयु में हुई ?

   (अ) 25 (ब) 20

   (स) 21 (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं

6. मूल शंकर को दयानन्द सरस्वती का नाम किसने दिया ?

   (अ) स्वामी पूर्णानन्द (ब) स्वामी श्रद्धानन्द

   (स) स्वामी सच्चिदानन्द (द) सभी ने

7. महात्मा गांधी का जन्म किस सन् में हुआ-

   (अ) 1869 (ब) 1870

   (स) 1868 (द) 1871

8. महात्मा गांधी की मृत्यु कब हुई-

   (अ) 30 जनवरी, 1948 (ब) 30 जनवरी, 1947

   (स) 29 जनवरी, 1948 (द) 30 जनवरी, 1949

9. अहिंसा कैसा गुण है-

   (अ) वैयक्तिक (ब) सामाजिक

   (स) अवैयक्तिक (द) सामूहिक

10. 'शारदा एक्ट' कब पारित हुआ-

   (अ) 1926 (ब) 1927

   (स) 1928 (द) 1929

उत्तर— 1. (अ), 2. (स), 3. (ब), 4. (द), 5. (स), 6. (अ), 7. (अ), 8. (अ), 9. (ब), 10. (द)।

●●

NOTES

11 राधा कमल मुकर्जी

अध्याय में सम्मिलित विषय सामग्री

- उद्‌देश्य
- प्राक्कथन
- जीवन चरित्र एवं रचनाएँ
- समाज एक मुक्त व्यवस्था
- सामाजिक मूल्य : अर्थ एवं परिभाषाएँ
- मूल्यों का सोपान स्तर
- मूल्यों का वर्गीकरण
- मूल्यों का महत्व
- अपमूल्यों का अवधारणा
- प्रादेशिक समाजशास्त्र
- सामाजिक पुनर्निमाण
- अध्याय का संक्षिप्त सार
- परीक्षोपयोगी प्रश्न

उद्‌देश्य :

इस अध्याय अध्ययन के पश्चात् आप निम्न तथ्यों को समझ सकेंगे—

- प्राक्कथन
- जीवन चरित्र एवं रचनाएँ
- समाज एक मुक्त व्यवस्था
- सामाजिक मूल्य : अर्थ एवं परिभाषाएँ
- मूल्यों का सोपान स्तर
- मूल्यों का वर्गीकरण
- मूल्यों का महत्व
- अपमूल्यों का अवधारणा
- प्रादेशिक समाजशास्त्र
- सामाजिक पुनर्निमाण

NOTES

प्राक्कथन

डा. राधाकमल मुकर्जी ने भारत में समाजशास्त्र और भारतीय सामाजिक विचारधारा के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया है। उनके विचार उनकी पुसतक 'Institutional Theory of Economics Sociology' में उपलब्ध है। उन्होंने व्यक्ति के विकास मे समूह की भूमिका को स्पष्ट किया है। डा. मुकर्जी ने लखनऊ विश्वविद्यालय में रहकर समाजशास्त्र की विषय-वस्तु को परिसीमित करने का प्रयास किया। मूल्यों के समाजशास्त्र को विकसित करने में आपका विशेष योगदान है।

जीवन चरित्र एवं रचनाएँ

डा. राधाकमल मुकर्जी का जन्म 7 दिसम्बर 1889 की बरहामपुर (मुर्शिदाबाद प. बंगाल) में हुआ। आपके पिता श्री गापालचन्द्र मुकर्जी एक विख्यात वकील थे। आपकी शिक्षा प्रेसीडेन्सी कॉलेज, कलकत्ता में हुई। 1910 में मुकर्जी बरहामपुर के कृष्णनाथ कॉलेज में अर्थशास्त्र के प्राध्यापक बन गये जहाँ वे पाँच वर्ष तक रहे। इस अवधि में उन्होंने अर्थशास्त्र से सम्बन्धित विभिन्न शोध कार्य भी जिनके परिणामों को उन्होंने 1916 में 'The foundation of Indian Economics' नाम अपनी प्रथम कृति में छपवाया। सनृ 1915 में मुकर्जी को बंगाल में सहकारिता आन्दोलन पर सामाजिक सर्वेक्षण एवं शोध कार्य करने के लिए 'प्रेमचन्द्र रामचन्द्र छात्रवृत्ति प्रदान की गयी। सन् 1916 में मुकर्जी लाहौर के सनातन धर्म कॉलेज के प्राचार्य बनाये गये जहाँ आपने एक वर्ष तक कार्य किया। इसके पश्चात् सन् 1917 से 1921 तक आप कलकत्ता विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र एवं राजनीतिक दर्शनशास्त्र पढ़ाते रहे। 1920 में कलकत्ता विश्वविद्यालय से ही आपने 'भारतीय ग्रामीण समुदाय में 'सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन' विषय पर शोध निबन्ध लिखकर डाक्ट्रेट की उपाधि ग्रहण की। इसके पश्चात् आप लखनऊ विश्वविद्यालय में चले गये जहाँ आपने सनृ 1021 से 1952 तक पश्चात् आप लखनऊ विश्वविद्यालय में चले गये जहाँ आपने सन् 1021 से 1952 तक अर्थशास्त्र एवं समाजशास्त्र विभाग के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष के रूप में कार्य किया। यहाँ आपने अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र एवं मानवशास्त्र से सम्बन्धित शोध कार्य एवं अध्ययन दोनों में समन्वित दृष्टिकोण एवं पद्धति का शुभारम्भ किया। यहाँ आपने ग्रामीण जीवन, श्रमिकों एवं परिस्थितिशास्त्र से सम्बन्धित अनेक लेख एवं अध्ययनप्रतिवेदन भी प्रकाशित करवाये। सन् 1955 से 1958 तक आप लखनऊ विश्वविद्यालय के उपकुलपति भी रहे। आपने विश्व के अनेक भागों में अर्थशास्त्र एवं सांख्यिकी कमीशन के अध्यक्ष मनोनीत किये गये। आपने विश्व के विभिन्न भागों में अर्थशास्त्र एवं समाजशास्त्र से सम्बन्धित अनेक भाषण दिये। सन् 1946 में आप एफ. ए. ओ. अर्थशास्त्र एव अविष्कारों एवं सांख्यिकी कमीशन के अध्यक्ष मनोनीत किये गये। आप विश्व के विभिन्न भागों में तथा केन्द्रीय सरकार एवं उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा तैयार की गयी अनेक कमेटियों में कई बार पदों पर कार्य कर चुके हैं। आप 1945 की अवधि में ग्वालियर सरकार के आर्थिक सलाहकार रहे। लखनऊ विश्वविद्यालय के कुलपति पद से अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् आप इस विश्वविद्यालय के **जे. के. इस्टीट्यूट ऑफ सोशियोलॉजी एण्ड ह्यूमन रिलेशन्स'** के डाइरेक्टर किये गये। इसी पद पर कार्य करते हुए सन् 1968 में आपका देहावसान हो गया।

मुकर्जी ने लगभग 53 पुस्तकों की रचना की तथा विभिनन पत्र-पत्रिकाओं में अपने शोध लेख लिखे। आपने आर्थिक समस्याओं के अध्ययन के लिए संस्थागत दृष्टिकोण या उपागम (Institutional Approach) अपनाने पर बल दिया है। आपने भारतीय ग्रामीण समस्याओं का आनुभाविक अध्ययन भी किया। उसी के परिणामस्वरूप आपकी पुस्तक 'Land Problem in India' प्रकाशित हुई। आप समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र को एक-दूसरे के करीब लाने वाले प्रमुख विद्वान हैं। आपकी सामाजिक कल्याण में विशेष रुचि थी और और इसी दृष्टि से आपने सन् 1906 से ही ऋण समितियों से जन समस्याओं को हल करने में सहयोग लेना प्रारम्भ कर दिया था। डा.ॅ मुकर्जी ने पश्चिम तथा पूर्व के विचारों का समन्वय करने का विशेष प्रयास किया और इसलिए आप जीवन के अन्तिम वर्षो में समाज के महाविज्ञान (मास्टर साइन्स ऑफ सोसाइटी) के निर्माण की दिशा मे लगे रहे। जब हम भारत में समाजशास्त्र के विकास में योगदान पर करते हैं तो पाते हैं कि 'मानवीय परिस्थितिकी सिद्धान्त' समाजशास्त्रीय सिद्धान्त' एवं 'मूल्यों तथा प्रतीकों का सिद्धान्त' आपके प्रमुख सिद्धान्त हैं। डॉ. मुकर्जी ने लगभग 53 आधारभूत पुस्तकें लिखीं और कई विख्यात पत्र-पत्रिकाओं में आपके शोध लेख प्रकाशित हुए। मुकर्जी के विचारों पर बी. एन. शील, विनयकुमार सरकार, नरेन्द्रकुमार सेन गुप्ता आदि भारतीय विचारकों तथा पैट्रिक गेडिस, रॉबर्ट पार्क, बर्गेस, ऑगबर्न एवं रॉस जैसे विदेशी विद्वानों के विचारों एवं रचनाओं का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। इनमें से कुछ के साथ आपने पुस्तकों की रचना की और परिस्थितियों विज्ञान, दर्शनशास्त्र, मनोविज्ञान, संस्कृति, सभ्यता, कला, धर्म, आचार रहस्यवाद, प्रतीकों एवं मूल्यों का समाजशास्त्र आदि सभी विचारों पर बहुत-कुछ लिखा। अपने जीवन की सांध्यबेला में मुकर्जी का रुझान अध्यात्मवाद की ओर हो गया। उन्होंने 'भगवत्गीता' का भी विस्तृत टीका लिखी उनकी मृत्यु के बाद सन् 1917 में 'The Song of the Self Supreme' नाम से प्रकाशित हुई। आपकी कुछ प्रमुख पुस्तकें इस प्रकार हैं—

(1) The foundation of Indian Economics, (1916)

(2) The Principle of Comparative Economics ,(1922)

(3) Democracies of the East, (1923)

(4) Border Land of Economics, (1925)

(5) Regional Sociology, (1926)

(6) Mind in Sociology : Introduction to Social Psychology, (1928)

(7) The Theory and Art of Mysticism, (1937)

(8) Man and his Habitation, (1940)

(9) Social Ecology, (1945)

(10) The Social Function of Art.

(11) Social Structure of Life (1949)

(12) The Indian Scheme of Life (1949)

(13) The Dynamics of Morals, (1951)

(14) A History of Indian Civilization, (1956)

(15) The Horizon of Marriage, (1936)

(16) The culture and Art of India. (1956)

NOTES

(17) The Philosophy of Social Science, (1960)

(18) The Philosophy of Personality, (1963)

(19) The Dimensions of Human Evolutions, (1964)

(20) The Dimersions of Valus, (1964)

(21) The Sensity of Civilization, (1964)

(22) Oneness of Mankind, (1968)

(23) The Cosmetic Art of India, (1968)

(24) The Community of communities, (1966)

(25) The Philosophy of Man, (1966)

(26) The Song of Self Supreme, (1971)

डॉ. मुकर्जी के भारतीय दर्शनशास्त्र में भी गहरी रुचि थी और के परिणामस्वरूप आप समाजशास्त्रीय चिन्तन में एक नया आयाम सम्मिलित कर सके। हाकिंग (Hocking) ने डॉ मुकर्जी के सम्मान में प्रकाशित 'The Frontier of Social Sciences' में मुकर्जी ने पायी जाने वाली तीन तरफा वस्तुनिष्ठता का उल्लेख किया है। उनमें वैज्ञानिक आधार से प्रशिक्षित विद्वान के रूप में तरफा वस्तुनिष्ठता का उल्लेख किया है। उनमें वैज्ञानिक आधार से प्रशिक्षित विद्वान के रूप में वस्तुनिष्ठता थीं उनमें अपने विषय पर पश्चिमी साहित्य के गहन अध्ययन के आधार पर प्राप्त वस्तुनिष्ठता थी तथा इस प्रकार उनमें वस्तुनिष्ठता थी कि वे एक समाजशास्त्री के रूप में मानवीय संस्थाओं के स्वास्थ्य पर धर्म की भूमिका से भली-भाँति परिचित थे। प्रोफेसर राधा कमल मुकर्जी ने अपने जीवनकाल में वार्ड, गिडिंग्स, कॉम्ट, स्पेन्स, वेजहॉट, रिकार्डो, मिल हॉब हाउस तथा मार्शल की रचनाओं का गहन अध्ययन किया। इसलिए आपके चिन्तन में पूर्व और पश्चिम के विचारों का मिश्रण देखने की मिलता है। जिसका अभिव्यकित मूल्यों पर व्यक्त आपके विचारों से होती हैं। डॉ. मुकर्जी मानव के विभिन्न भागों में विभाजित होने और मानव के अलगाव में विश्वास नहीं करते हैं जबकि यह स्थिति आज के औद्योगिक युग में विशेषत: देखने को मिलती है।

हम यहाँ राधाकमल मुकर्जी के प्रमुख समाजशास्त्रीय योगदानों का उल्लेख करेंगे

सामाजिक विज्ञान का सिद्धान्त समाज का सामान्य सिद्धान्त (THEORY OF SOCIAL SCIENCES GENERAL THEORY OF SOCIETY)

डॉ. मुकर्जी की मान्यता है कि अब समय आ गया है है जबकि हम समाज के एक सामान्य सिद्धान्त का निर्माण करें। यह सामान्य सिद्धान्त सामाजिक सम्बन्धों और संरचनाओं के सम्बन्ध में अन्य सामाजिक विज्ञानों के सिद्धान्तों, नियमों एवं व्याख्याओं का एक समग्र

रूप में एकीकृत एवं समन्वित ज्ञान का एक समूह होना चाहिए। समाज का एक सामान्य सिद्धान्त का निर्माण क्यों किया जाय, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए मुकर्जी कहते हैं कि यदि सभी सामाजिक विज्ञान सामाजिक जीवन के अलग-अलग पहलुओं से ही अपने को जुड़ा रखेंगे तो समाज का समग्र रूप और समाज का सामान्य सिद्धान्त विकसित नहीं हो पाएगा। मुकर्जी कहते हैं कि समाज अन्त:सम्बन्धित वास्तविकताओं (Interrelated realities) की एक समग्रता है। यह विभाजन योग्य नहीं वरन् अखण्ड व्यवस्था है। इसलिए समाज के विषय में वास्तविक ज्ञान तभी हो सकता है जब हम समाज का समग्रता के रूप में (in totality) उसकी आदतों, मूल्यों तथा प्रतीकों का अध्ययन करें और एक सामान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन करें।

मुकर्जी कहते हैं कि समाज के सामान्य सिद्धांत के निर्माण के लिए सामाजिक तथ्यों सामाजिक सम्बन्धों एवं अनुभवों की सामान्यता की औपचारिक प्रतिमानों एवं तर्कयुक्त क्रमबद्धता के रूप में रखा जाए। समस्त सामाजिक सम्बन्धों और संस्थाओं को हम मानव की मूलभूत इच्छाओं और संवेगों के सन्दर्भ में ही समझ सकते हैं। मुकर्जी सामाजिक तथ्यों एवं सम्बन्धों को समझने के लिए उन्हें सामाजिक मूल्यों एवं प्रतीकों के सन्दर्भ में विश्लेषित करने पर भी बल देते हैं।

समाज के सामान्य सिद्धान्त में मूल्यों का महत्वपूर्ण स्थान होता है। इन मूल्यों का विकास मानव अपने सामाजिक जीवन में अन्त:क्रियाओं के दौरान करता है तथा मानव का सामाजिक जीव भी उन परिस्थितियों, मनो-सामाजिक एवं नैतिक स्थितियाँ के द्वारा तय होता है। मुकर्जी कहते हैं कि समाज के एक सामान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन मूल्यों के सन्दर्भ में ही सम्भव है क्योंकि समाज मूल्यों का ही संगठन और संकलन है (Society is an organization and accumulation of values)

मुकर्जी ने समाज के एक सामान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के दौरान ही कई समाजशास्त्रीय अवधारणाओं जैसे, संस्था, संस्कृति, समूह, सामाजिक सम्बन्ध एवं समाज आदि को भी परिभाषित किया जाए। आपने समाज को विभिन्न दृष्टिकोण के आधार पर परिभाषित किया जैसे मुकर्जी के अनुसार, ''समाज संरचनाओं व प्रकार्यो का वह योग है जिसके द्वारा मनुष्य अपने पर्यावरण के तीन आयामों (Dimensions) या स्तरों परिस्थितिशास्त्रीय (Ecological), मनो-सामाजिक तथा लक्ष्यपूर्ण-नैतिक (Teliemoral) के साथ अपना अनुकूलन करता एवं अपनी जीविका प्रस्थिति तथा मूल्यपूर्ति सम्बन्धी अपनी आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।''

मुकर्जी कहते हैं **पारिस्थिति विज्ञान की दृष्टि से समाज एक प्रदेश** (Region), है, **अर्थशास्त्र की दृष्टि से** समाज एक **वर्ग है, समाजशास्त्र दृष्टि से** समाज एक संस्था है और नैतिक दृष्टि से समाज आदर्श मूल्यों, चरित्र निर्माण एवं अनुरक्षण (Maintenance) के लिए सहभागिता स समागम (Communion) है। समाज के एक सामतान्य सिद्धान्त में समाज के इन सभी पहलुओं को सम्मिलित किया जाना चाहिए।

समाज एक मुक्त व्यवस्था—समाज को विभिन्न वैज्ञानिकों ने बन्द एवं खुली व्यवस्था के रूप में देखा है। कुछ समाजशास्त्री एवं मनोवैज्ञानिक समाज की एक बन्द व्यवस्था

(Closed System) के रूप में व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार व्यक्ति का व्यवहार समाज में क्रियाशील शक्तियों द्वारा निर्देशित होता है। दूसरी ओर जो लोग समाज को मुक्त व्यवस्था (Open System) मानते हैं, उनके अनुसार मतानुसार समाज के सदस्यों में भावनाओं, संवेगों तथा सीखी हुयी प्रवृत्तियों में विलक्षणताएँ होती हैं जो कि मानव की संस्कृति एवं व्यक्तित्व प्रक्रिया को निरन्तर नया जीवन प्रदान करती हैं मुकर्जी का मानना है कि समाज का सामान्य सिद्धान्त समाज की 'मुक्त व्यवस्था' के सिद्धान्त पर आधारित है।

मुकर्जी ने 'मुक्त व्यवस्था' के निम्नलिखित तीन पक्षों का उल्लेख किया है।

1. **प्रदेश एवं जीवन निर्वाह की मुक्त परिस्थितिगत व्यवस्था (The Open Ecological System of Region and Subsistence)**—इसमें समाज के लोगों को अपने जीवन निर्वाह के लिए अपनी पारिस्थितिगत व्यवस्थाओं जैसे भूमि, पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों आदि से अनुकूलन करना पड़ता है। मानव में भी क्षमता है कि वह पारिस्थितिगत नियमों को अपने पक्ष या विपक्ष में बदल सकता है, वह जीवन-निर्वाह की कई नई परिस्थितियों को उत्पन्न कर सकता है और करता भी है, यही पारिस्थितिगत मुक्त व्यवस्था है।

2. **संस्था एवं प्रस्थिति की मुक्त समाजशास्त्रीय व्यवस्था (The Open Sociological System of Institution and Status)**—समाज की मुक्त व्यवस्था का दूसरा पक्ष यह है कि समाज की संस्थाएं विचार, नियन्त्रण और प्रस्थिति प्रतिमानों को नियन्त्रित करती हैं। मानव अपनी आवश्यकताओं, उद्देश्यों, रूचियों एवं मूल्यों के अनुसार विभिन्न प्रकार की संस्थाओं एवं प्रस्थिति योजनाओं को जन्म देती है जिसमें पर्याप्त लचीलापन पाया जाता है।

3. **समूह और मूल्यों की मुक्त नैतिक व्यवस्था (The Open Ethical System of Group and Value)**—मुक्त व्यवस्था का तीसरा पक्ष यह है कि मानव और समाज मिलकर जीवन एवं परिवर्तित अवस्थाओं के अनुरूप नई नैतिकताओं को विकसित करने का प्रयत्न करते हैं।

डा. मुकर्जी ने कार्यो का भी उल्लेख किया है जो एक समाज को अपने अस्तित्व के लिए नियमित रूप से पूरा करते रहना चाहिए। ये निम्नांकित हैं—

(1) प्रत्येक समाज के अस्तित्व के लिए यह आवश्यक है। किसी जनसंख्या का भरण-पोषण होता रहे और निश्चित संख्या में उसकी जनसंख्या जीवित कि समाप्त हो जाएगा। यदि समाज में उपलब्ध भरण-पोषण के साधनों की तुलना में जनसंख्या अधिक है तब भी जनसंख्या को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। अत: समाज को परिस्थितिकीय (Ecological) सन्तुलन बनाये रखना चाहिए।

(2) प्रत्येक समाज के अस्तित्व के लिए यह भी आवश्यक है कि वह सामाजिक अनुयन्त्रण की भी व्यवस्था बनाए रखे। सामाजिक व्यवस्था बनाये रखने के लिए वह संस्थाओं, कानूनों एवं नैतिक व्यवस्थाओं का उपयोग कर सकता है।

(3) समाज के अस्तित्व के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह जीवन के लिए उचित मूल्यों, सेवाओं और वस्तुओं का चयन कर उसका वितरण एवं उपभोग करे तथा उनका उचित जीवन-स्तर बनाए रखे।

(4) समाज के अस्तित्व के लिए यह भी आवश्यक है कि समाज के अभिजात वर्ग तथा सामान्य लोगों में सत्ता और स्वतन्त्रता का उचित बँटवारा हो। इसी प्रकार से आय, सम्पत्ति अधिकार, सीमित वस्तुओं एवं मूल्यो के वितरण आदि की भी समाज समुचित व्यवस्था करें।

(5) समाज के अस्तित्व के लिए यह भी आवश्यक है कि वह व्यक्तियों एवं समूहों के मध्य उत्पन्न होने वाले विवादों को निपटाने की व्यवस्था करें। इसके लिए वह कानून शिक्षा एवं उचित मूल्यों की व्यवस्था करे। इसके लिए वह कानून, शिक्षा एवं उचित मूल्यों की व्यवस्था करें तथा स्वतन्त्रता और समानता के सिद्धान्त को लागू करे।

(6) अन्तिम रूप में समाज की सर्वोच्च मूल्यों की व्यवस्था करनी चाहिए तथ व्यक्तियों, के विकास की दृष्टि से ही सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक संस्थाओं, प्रस्थिति, प्रतिष्ठा, विशेषाधिकारों, स्वतन्त्रता, प्रतिबन्धों, अधिकार एवं कर्त्तव्यों आदि को विवेचना व्यक्ति के विकास के सन्दर्भ में ही करनी चाहिए।

इस प्रकार मुकर्जी समाज की बन्द व्यवस्था के स्थान पर मुक्त व्यवस्था के समर्थ हैं क्योंकि बन्द व्यवस्था में मानव एवं समाज की प्रगति व गतिशीलता दब जाती है तथा मानव की सृजनात्मक प्रवृत्तियों को समुचित प्रोत्साहन नहीं मिल पाता है।

समाज का महाविज्ञान (Master Science Society)

डॉ. मुकर्जी ने समाज को एक महाविज्ञान बनाने का सुझाव दिया है। इस विज्ञान में मानव-पारस्थितशास्त्र (Human Ecology) व समाज शास्त्र के सिद्धान्तों तथा मूल्यों एवं प्रतीकों से सम्बन्धित सिद्धान्त सम्मिलित होंगे। इस विज्ञान में इन सभी का समुचित रूप भी प्रस्तुत किया जाएगा, साथ ही उनका पृथक होने के साथ-साथ समाज का एक व्यवस्थित ज्ञान प्रदान करने वाले महाविज्ञान के निर्माण का मार्ग प्रशस्त हो सकेगा तथा साथ ही समाज के बारे में एक सामान्य सिद्धान्त भी विकसित हो सकेगा समाज की एक सामान्य सिद्धान्त विभिन्न सामाजिक विज्ञानों को एकता के सूत्र में पिरोएगा तथा उनके मध्य विद्यमान सैद्धान्तिक ज्ञान सम्बन्धी दूरियों को कम करेगा। इस अर्थ में समाज का यह महाविज्ञान समाजशास्त्र से भी अधिक विशाल एवं विस्तृत विज्ञान होगा।

इसी सन्दर्भ में मुकर्जी समाजशास्त्र को परिभाषित करते हुए लिखते हैं कि ''समाजशास्त्र समाज के सामान्य सिद्धान्त का वह पक्ष है जिसका सम्बन्ध संस्थाओं की संरचना के अन्तगर्त संचार और प्रस्थिति के सामाजिक सम्बन्धों से है।'' मुकर्जी ने समाजशास्त्र के विषय-क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा, आधिपत्य एवं सहयोग आदि को सम्मिलित किया है। समाजशास्त्र को चाहिए कि मूल्यांकन करे एवं मूल्यों में उत्पन्न होने वाली नवीन प्रवृत्तियो को सामाजिक परिस्थिति आवश्यकता तथा अनुभव के सन्दर्भ में जानने का प्रयास करे।

मुकर्जी कहते हैं कि आज एक ऐसे समाज विज्ञान के सिद्धान्त की आवश्यकता है जिसके द्वारा सामाजिक मूल्यों का मापा, जा सके। इसी प्रकार से मानवीय सम्बन्धों के वास्तवकि अध्ययन हेतु सभी सामाजिक विज्ञानों की एकता भी आवश्यक है जिसे समाज का महाविज्ञान ही पूरा कर सकता है। यह विज्ञान मानव जाति से सम्बन्धित उन प्रश्नों का उत्तर भी दे सकेगा। जिनका उत्तर अब तक खोजा नहीं गया। यह महाविज्ञान समाजशास्त्र से भी विस्तृत होगा। यद्यपि वर्तमान में समाजशास्त्र का बहुत विकास हुआ। और आज इसकी अनेक शाखाएँ प्रशाखाएँ जैसे धर्म का समाजशास्त्र, औद्योगिक समाजशास्त्र, नगरीय एवं ग्रामीण समाजशास्त्र आदि का विकास हो चुका है और ये सभी शाखाएँ परस्पर आदान-प्रदान की क्रिया से कार्य कर रही हैं। फिर भी उच्चतर आदर्शो को प्राप्त करने की दृष्टि से समाज के एक महाविज्ञान की आवश्यकता है।

मुकर्जी कहते हैं कि समाज के इस महाविज्ञान का दृष्टिकोण विश्वव्यापी (Global) होगा तथा यह विश्व समुदाय की विभिन्न समस्याओं के समाधान का प्रयत्न करेगा मानव जाति के समान मुल्यों का आदर करेगा। महाविज्ञान के अन्तगर्त एक ऐसे दर्शन को अपनाया जाएगा जो कि विभिन्न सामाजिक विज्ञानों में पाये जाने वाले पूर्वानुमानों (Presuppositions) का परीक्षण और पुननिर्माण बदलते हुए सामाजिक सम्बन्धों एवं मूल्यों के सन्दर्भ में करेगा। समाज का यह महाविज्ञान उन उपायों की भी खोज करेगा जिनसे समाज में एकता, व्यवस्था, सुरक्षा, स्वतन्त्रता एवं सहभागिता को बनाए रखा जा सके। यह मानव सम्बन्धों के सामाजिक और नैतिक पक्षों के पारस्परिक सम्बन्धों को स्पष्ट करेगा। यह उन प्रक्रियाओं को परिभाषित करेगा जिनके द्वारा एक सांस्कृतिक विशेष के आदर्श मूल्यों को प्रोद्योगिकी द्वारा नया रूप मिलता है या वे समाप्त हो जाते हैं। 'यह मनोविज्ञान ईश्वर को परिपूर्णता और पवित्रता के साथ-साथ सत्य, सौन्दर्य और सदाचार के समन्वित प्रतीक के रूप में मान्यता प्रदान करेगा और यह स्वीकार करेगा कि ईश्वर प्राणियों के ह्रदय में निवास करते हैं एवं वे ही धीरे-धीरे किन्तु निरन्तर मानवता की सर्वाभौम स्वतन्त्रता एवं पूर्णता की ओर ले जाते हैं।''

मूल्यों का सिद्धान्त (सामाजिक मूल्य) (THEORY OF VALUES)

मूल्यों का डॉ. मुकर्जी ने अपने मूल्यों विचार 'The social Structure of Values' तथा 'The Dimensions of Values' नामक पुस्तकों में वयक्त किये हैं। मुकर्जी की देश-विदेश में ख्याति का एक प्रमुख कारण उनके प्रतिपादित सामाजिक मूल्यों का सिद्धान्त हैं। इस सिद्धान्त में हमें पूर्व एवं पश्चिम को विचारधाराओं का एक सुन्दर समागम देखने को मिलता है। 'The Social Structure of Values' नामक पुस्तक में मुकर्जी ने मूल्यों के समाजशास्त्रीय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इसमें आपने मूल्यों की उत्पत्ति एवं उद्‌विकास, मूल्यों के मनोवैज्ञानिक नियमों तथा मूल्यों की सुरक्षा आदि पर विचार व्यक्त किये हैं।

दूसरी पुस्तक 'The Dimensions of Values' में आपने मूल्यों के विभिन्न आयामों का उल्लेख किया है।

NOTES

जिसके अन्तर्गत आपने जीव विज्ञान, मनोविज्ञान दर्शनशास्त्र तथा तत्वमीमासां आदि में पायी जाने वाली मूल्यों की व्याख्या को प्रस्तुत किया है जिसे एक अंर्तवैज्ञानिक (Inter disciplinary) उपागम कहा जा सकता है। उन्होंने मूल्यों के सन्दर्भ में विभिन्न जीवनशास्त्रियों, जिन का मत है कि जब तक मूल्यों के बारे में कोई सार्वभौम सामान्य विचारधारा, प्रतिपादित नहीं कर ली जाती तब तक मानव-जीति की वास्तविक प्रगति सम्भव नहीं है।

मुकर्जी सम्पूर्ण सामाजिक और व्यवस्था का आधार मूल्यों को मानते हैं। वे मूल्यों, व्यक्तियों और समाज को परस्पर सम्बन्धित मानते हैं। उनका मत है कि उनके पारस्परिक, आदान-प्रदान से ही व्यक्ति पूर्ण बनता है। व्यक्ति ऐसी स्थिति में समाज से पृथक केवल अंग नहीं रह जाता है वरन् वह अंग के साथ-साथ ही समग्र भी होता है, वह व्यक्ति भी है और समष्टि भी। व्यक्ति एक ही समय में एक साथ ही अपने साथी व्यक्ति से तादात्मीकरण (Identification) करता है और दूसरी ओर उसी से स्वयं को पृथक भी मानता है। मुकर्जी के मतानुसार व्यक्ति मूल्यों का सृजन करता है। व्यक्ति मूल्यों का उद्‌गम स्त्रोत ही नहीं वरन अन्तवैयक्तिक लक्ष्यों, सम्बन्धों और व्यवहारों में समाहित है। (He is not only the fountain of values, he also makes value judgement embolied in all inter-personal goals, relations and behavious in the normal functionung of gropus and insiturtions.

डॉ. राधाकमल मुकर्जी के प्रयासों से भारत में मूल्यों का अध्ययन करने के लिए एक विशेष शाखा का विकास हुआ जो मूल्यों का समाजशस्त्र नाम से विख्यात है। इस शाखा में मूल्यों तथा समाज का अध्ययन किया जाता है। प्रत्येक समाज में कुछ आदर्श होते हैं। और उन्हीं आदर्शों के आधार पर समाज की प्रगति का आंकलन किया जाता है। इन्हीं मूल्यों के आधार पर यह निर्धारित होता है कि समाज में उचित क्या है। प्रत्येक समाज के सामाजिक मूल्यों अन्य समाजों के सामाजिक मूल्य अन्य समाजों के सामाजिक मूल्यों से भिन्नता लिये होते हैं। इन्हीं मूल्यों के आधार पर व्यक्ति-व्यक्ति के व्यवहार को आँका जाता है। हम यहीं मूल्यों पर डॉ. मुकर्जी विचारों को जानने का प्रयास करेंगे।

सामाजिक मूल्य : अर्थ एवं परिभाषा
(Social Values : Meaning and Definition)

मुकर्जी मूल्यों की अवधारणा को स्पष्ट करने हुए कहते हैं कि मूल्य मानव समूहों और व्यक्तियों के द्वारा प्राकृतिक और सामाजिक संसार से सामंजस्य करने के उपकरण है। मूल्य ऐसे प्रतिमानों को कहते है। जो मनुष्यों की विभिन्न प्रकासर की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु मार्गदर्शन करते है। ये सामाजिक अस्तित्व के केन्द्रीय तत्व कहे जा सकते है। तथा इनकी रक्षा के लिए समूह के सदस्य के हर सम्भव त्याग करने को तत्पर रहते है। मूल्य एक प्रकार से सामूहिक लक्ष्य होते है। जिनके प्रति सदस्यों की स्वाभाविक आस्था होती हैं। वे मूल्यों को 'समाज द्वारा स्वीकृति-प्राप्त आकांक्षाएँ और लक्ष्य' मानते है।

सामाजिक मूल्यों को परिभाषित करते हुए राधाकमल मुकर्जी लिखते है, ''मूल्य समाज द्वारा मान्यता प्राप्त इच्छाएँ तथा लक्ष्य (Desieres and goals) हैं जिनका अन्तरीकरण सीखने या समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा होता है और प्राकृतिक अधिमान्यताएँ मानक तथा अभिलाषाएं बन जाते है।''

जॉनसन के अनुसार, ''मूल्यों का एक मानक के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो कि सांस्कृतिक हो सकता हैं या केवल व्यकितगत और जिसके द्वारा वस्तुओं की एक साथ तुलना की जाती है और वे एक-दूसरे के सन्दर्भ में स्वीकार या अस्वीकार की जाती है, वांछित या अवांछित, अच्छी या बुरी, अधिक या कम उचित मानी जाती है'' जानसन का मत है कि मूल्यों के सभी प्रकार की वस्तु, विचार, क्रिया, गुण, पदार्थ, व्यक्ति समूह, लक्ष्य एवं साधन आदि का मूल्यांकन किया जाता है।

फिचर (Ficher) के अनुसार,

> ''समाजशास्त्रीय दृष्टि से मूल्यों को उन कसौटियों के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिनके द्वारा समूह या समाज व्यक्तियों, उद्देश्यों और अन्य सामाजिक सांस्कृतिक वस्तुओं के महत्व का निर्णय करते है।'' इस प्रकार मूल्य वे कसौटियों है जो कि सम्पूर्ण संस्कृति एवं समाज को अर्थ एवं महत्व प्रदान करती है।

हारालाम्बीस के अनुसार,

> ''एक मूल्य एक विश्वास है जो यह बताता है। कि क्या अच्छा और वांछनीय है। यह परिभाषित करता है कि क्या महत्वपूर्ण है। लाभप्रद है। और प्राप्त करने योग्य है।''

वुड्स (Woods) ने बताया है कि,

> सामाजिक मूल्य वे सामान्य सिद्धान्त है जो दिन-प्रतिदिन के जीवन में व्यवहार को नियन्त्रित करते हैं। वे मानव व्यवहार को दिशा प्रदान करने के साथ-साथ्स अपने आप में आदर्श एवं उद्देश्य भी है एवं क्या गलत है।''

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सामाजिक मूल्य वे मानव या धारणाएँ है। जिनके आधार पर हम किसी व्यक्ति के व्यवहार, वस्तु के गुण, साधन एवं भावनाओं आदि को उचित या अनुचित, अच्छा या बुरा ठहराते है। मूल्य एक बार से सामाजिक माप से पैमाना है जिसके आधार पर किसी वस्तु का मूल्यांकन किया जाता है। इन मूल्यों को व्यक्ति समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा सीखता है और आन्तरीकृत करता है। तथा उन्हीं के अनुरूप आचरण करने की सोचता है। सामाजिक मूल्यों को प्राप्त करना व्यक्ति को इचछा बन जाती है। सामाजिक मूल्यों का निर्माण सम्पूर्ण समूह एवं समाज के सदस्यों की पारस्परिक अन्त:क्रिया के दौरान होता है। अत: वे सारे समूह या समाज की वस्तु है। समाज एवं संस्कृति में भिन्नता के कारण ही सामाजिक मूल्यों में भी भिन्नता पायी जाती है। सामाजिक मूल्यों को और अधिक स्पष्टत: समझने के लिए यहां हम उनकी प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख करेंगे।

सामाजिक मूल्यों की विशेषताएँ

(1) **सामाजिक मूल्य सामूहिक होते है**—सामाजिक मूल्यों का सम्बन्ध किसी व्यक्ति विशेष से नहीं होता है वरन् यह सारे समूह एवं समाज की धरोहर होते हैं। और सारे समूह को इन्हें मान्यता प्राप्त होती है। इनका निर्माण किसी एक व्यक्ति द्वारा नहीं किया जाता वरन् ये सामूहिक अन्त:क्रिया की उपज एवं परिणाम होते है।

(2) **सामाजिक मूल्य सामूहिक मापक है**—मानक का तात्पर्य है जिसके द्वारा हम किसी वस्तु को मापते है। सामाजिक मूल्य भी मानक हैं जिनके द्वारा हम किसी वस्तु, व्यवहार, लक्ष्य, साधन, गुण आदि को अच्छा या बुरा, उचित या अनुवित वांछित एवं अवांछित ठहराते है। इन्हें हम उच्चस्तरीय सामाजिक मानदण्ड कह सकते है।

(3) **सामाजिक मूल्यों के बारे में एकमतता पायी जाती हैं**—समूह एवं समाज के सभी लोगों में सामाजिक मूल्यों के बारे में एकमतता पायी जाती है। वे सभी उन्हें स्वीकार करते है और मान्यता प्रदान करते है। अत: जब भी सामाजिक मूल्यों का उल्लघंन होता है तो समूह द्वारा प्रतिक्रिया व्यक्त की जाती है।

(4) **सामाजिक मूल्यों के पीछे उद्वेग-भावनाएं होती है**—सामाजिक मूल्यों के साथ लोगों की भावनाएं जुड़ी होती है। यही कारण है कि वे व्यक्तिगत हितों को तिलांजलि देकर भी इनकी रक्षा करते है। स्वतन्त्रता के मूल्यों की रक्षा के लिए अनेक भारतीयों ने हंसते-हंसते प्राणोंत्सर्ग किया, सीने पर गोलियां झेली और जेल के सीखचों में बन्द हुए। देश-भक्ति के मूल्यों की रक्षा के लिए ही लोग युद्ध में अपना बलिदान देते है। सतीत्व की रक्षा के लिए भारतीय वीरांगनाओं ने जौहर किया। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि सामाजिक मूल्यों का सम्बन्ध भावनाओं से जुड़ा होता है।

(5) **सामाजिक मूल्य गतिशील होते हैं**—सामाजिक मूल्य सदैव ही एक समान नहीं होते। समय एवं परिस्थितियों के साथ इनमे परिवर्तन आता रहता है। सामाजिक मूल्यों का उद्देश्य सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना है, अत: जब समाज की आवश्यकताएं बदलती है तो सामाजिक मूल्य भी परिवर्तित होते हैं।

(6) **सामाजिक मूल्यों में विभिन्नता पायी जाती है**—प्रत्येक समाज के अपने मूल्य होते है जो अन्य समाजों के मूल्यों से भिन्न होते है। हाग्रलाम्बोस का भी मत है कि "मूल्य एक समाज से दूसरे समाज से भिन्न होता है।" भारतीय समाज एवं पश्चिमी समाजों के मूल्यों में भिन्नता पायी जाती है। हम पर्दा प्रथा, जाति अन्तर्विवाह (Cast Endogamy), सती प्रथा, विधवा विवाह आदि प्रथाओं को उचित मानते रहे हैं, किन्तु पश्चिमी समाजों में इन्हें अनुचित माना है। इसी प्रकार से सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित सामाजिक मूल्यों में भिन्नता पाई जाती है। परिवार, विवाह, जाति, शिक्षा, व्यापार, खेल कूद, मनोरंजन आदि सभी से सम्बन्धित मूल्यों में भिन्नता पायी जाती है।

(7) **सामाजिक मूल्य सामजिक कल्याण एवं सामाजिक आवश्यकताओं के लिए महत्वपूर्ण समझे जाते हैं—(Social Values are Considered Important for Social Welfare and Social Needs)**—सामाजिक मूल्य समूह के कल्याण तथा आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक हैं। इनके अनुरूप आचरण करने पर ही समूह से संगठित, एकमतता, एवं एकरूपता बनी रहती है। इनके अभाव में सामाजिक सम्बन्धों में समानता लाना कठिन है।

(8) **सार्वभौमिकता (Universality)**—मूल्य सभी समाजों में विद्यमान रहे है। कोई भी समाज ऐसा नहीं है। जिसमें सामाजिक मूल्यों का अभाव हो। क्योंकि मूल्यों के

NOTES

आधार पर ही समाज अपने सदस्यों के व्यवहारों एवं क्रियाओं के औचित्य को सिद्ध करता है, मूल्य ही व्यक्ति की क्रियाओं का निर्देशन करते हैं। इनके आधार पर ही समाज एवं व्यक्ति की प्रगति को मापा जाता है और संस्थाओं एवं समाज का विकास किया जाता है।

मूल्यों का उद्‌भव (Origin of Values)

राधाकमल मुकर्जी का मत है कि सभी मूल्य सामाजिक होते हैं और मूल्यों की उत्पत्ति एक सामाजिक संरचना विशेष के सदस्यों के बीच होने वाली अन्त:क्रियाओं के फलस्वरूप धीरे-धीरे होती है। मानव को अपने पारिस्थितिगत पर्यावरण से सन्तुलन बनाये रखना आवश्यक होता है। मानव को अपने पारिस्थितिगम पर्यावरण से सन्तुलन बनाये रखना आवश्यक होता है। जीवन-निर्वाह और भरण-पोषण सम्बन्धी आवश्कताओं की पूर्ति करने के लिए अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इस दौरान उसे अनेक सामाजिक अनुभव भी होते हैं। आवश्यकतों का जुटाने के दौरान उसे अनेक सामाजिक अनुभव भी होते हैं। आवश्यकताओं का जुटाने के दौरान वह अपने समूह और समाज के कई लोगों के सम्पर्क में आता है और सामाजिक जीवन का भागीदार भी बनता है। इसी दौरान सामाजिक व्यवस्था का निर्माण भी होता है। वास्तविक जीवन में जोग परस्पर सहयोग करते हैं और इसी समय सामाजिक मूल्यों का भी जन्म होता है। समाज में अव्यवस्था, असुरक्षा और अशान्ति को टालने के लिए कुछ मानदण्डों और मूलें की व्यवस्था करनी पड़ती है। इसी प्रकार सामाजिक मूल्यों का जन्म सामाजिक समस्याओं के समाधान हेतु मानव सहयोग के कारण होता है। मुकर्जी कहते हैं कि मनुष्य को मूल्य अपने जीवन से, पर्यावरण से, अपने आप से समाज और सस्कृति से ही वरन् मानव अस्तित्व और अनुभव से भी प्रदान होते है। मुकर्जी कहते हैं कि मूल्यों की उत्पत्ति और विकास सामूहिक सम्बन्धों की संरचना में होता है। अत: जब भी संस्कृति में परिवर्तन होते हैं, नये मूल्यों का जन्म होता मुकर्जी ने मानव को मूल्यों की खोज करने वाला एवं मूल्यों का निर्माण करने वाला 'प्राणी' कहा है। (Man is the value seeking and value creating being)।

मुकर्जी का मत है कि सामूहिक परिस्थितियाँ मूल्यों की उत्पत्ति में सहायक है। जब मानव सामाजिक जीवन में सक्रिय होता है तो उसके मन में आदर्शो नैतिक तथ्यों के प्रति अधिक चेतना होती है। अत: सामुहिक अन्त:क्रिया के परिणामस्वरूप जिन अनुभवों के आधार पर सामाजिक जीवन से जीवन से अनेक बीजों का विकास होता है। उनके आधार पर समूह की प्रकार्यात्मक मूल्यों की रचना होती है।

मूल्यों का क्षेत्रीय आधार (Regional Basis of Values)

डॉ. मुकर्जी का मत है कि प्रत्येक सामाजिक घटना एक विशेष परिस्थिति के सन्दर्भ में ही समझी जा सकती है और परिस्थितियों विशेषताओं के फलस्वरूप समाज में मूल्यों का जन्म होता है। मूल्यों के सार्वभौविक होते हुए भी उनकी सार्वभौमिक नहीं होती है अर्थात् सभी सामाजों में मूल्य पाये जाते हैं फिर भी प्रत्येक क्षेत्र के मूल्यों में अपनी एक विशिष्टता होती है। और वह दूसरे क्षेत्रों से भिन्न होते है। जैसे—विवाह, एक मूल्य के रूप में सभी

समाजों में पाया जाता है, किन्तु भारत में इसकी प्रकृति एक धार्मिक संस्कार के रूप में है जबकि अन्यत्र यह एक सामाजिक और कानूनी समझौता माना जाता है।

NOTES

मूल्यों का सोपान स्तर (Hierarchy of Values)

डॉ. मुकर्जी का मत है कि सभी मूल्य समान स्तर के नहीं होते। वरन् उनमें भी एक सोपान या संस्तरण देखने को मिलता है। मूल्यो का यह स्तर सामाजिक संगठन के स्तरों पर निर्भर करता है। मुकर्जी ने सामाजिक संगठन के चार स्तरों का उल्लेख किया है, इन स्तरों के आधार करता है। पर नैतिकता का विकास होत है। प्रारम्भ में सामाजिक संगठनों में नैतिकता का अभाव पाया जाता है, धीरे-धीरे इन संगठनों में नैतिकता का विकास होता है और वह अपने चर्मोत्कर्ष पर पुहँच जाती है। सामाजिक संगठन और उनसे मूल्यों को मुकर्जी ने निर्म्नांकित चार स्तरों में विभाजित किया है—

(1) **भीड़**—मुकर्जी के अनुसार भीड़ सामाजिक संगठन की पहली अवस्था है। भीड़ एक अस्थायी समूह है। जो आदिम प्रकार के संबंधों तथा व्यवहारों को स्पष्ट करता है यह आदिम प्रवृत्तियों एवं संवेगों से परिपूर्ण होता है। भीड़ मे विवेक की अपेक्षा भावनाओं का साम्राज्य होता है, इसमें नैतिकता का अभाव होता है अनुकरण की प्रवृत्ति अधिक होती है। भीड़ का रचनातन्त्र ऐसा होता है कि वह बुराइयों का तत्काल समाधान चाहती है। आधुनिक समय में भी भीड़ का प्रयोग का ऐसे साधन के रूप में किया जाता है। जिसके द्वारा अधिक व राजीतिक सत्ता की हथियाने एवं क्रान्ति लाने का प्रयत्न किया जाता है। भीड़ में मूल्य मानदण्डों एवं आदर्शो का पूर्णत: अभाव पाया जाता है।

(2) **स्वार्थ समूह**—सामाजिक संगठन का दूसरा उदाहरण स्वार्थ समूह हैं जिनका निर्माण किसी एक या कुछ स्वार्थो या उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है। इन संगठनों में लोगों में मिलजुल कर कार्य करने की प्रवृत्ति विकसित होती है तथा लोगों में चेतना का विकास होता है। श्रमिक संघ, व्यापार संघ, राजनीतिक दल और क्लब आदि स्वार्थ समूहों के उदाहरण हैं। स्वार्थ समूहों का सम्बन्ध इस प्रकार के मूल्यों से होता है जिसके भागीदार सभी व्यक्ति नहीं हो सकते। जैसे—एक छात्र संघ के मूल्यों के भागीदार केवल छात्र ही होगों अन्य व्यक्ति नहीं।

(3) **समाज का समुदाय**—समाज या समुदाय ऐसे संगठन हैं जो स्वार्थ समूहों की अपेक्षा अधिक विस्तृत तार्किक एवं नैतिक आधारों को प्रस्तुत करते हैं। समाज में व्यक्ति अन्य सदस्यों के हितों को ध्यान में रखकर सहयोगी व्यवहार करता है। समाज या समुदाय में समानता और न्याय के मूल्य अधिक अभिव्यक्त होते हैं और उन्हें स्वीकार भी किया जाता है।

(4) **सामूहिकता**—कई दृष्टियों से सामूहिकता मानव समाज का सर्वोच्च संगठन है। यह सामाजिक संगठन का सुदृढ़ और सार्वभौमिक रूप है जो कि सचेत अनुशासन, उच्चस्तरीय बुद्धि एवं विवेक का परिणाम होता है। इसमें मनुष्य सार्वभौमिक सामाजिक मूल्यों जैसे प्रेम, समानता बन्धुत्व सहयोग सामाजिक उत्तरदायित्व आदि को

स्वीकार करता है। इसमें लोगों में विश्व बन्धुत्व की भावना का विकास होता है। और साथ ही स्वार्थ पर परार्थ की विजय देखने का मिलती है।

मूल्यों के नियम (Law of Values)

डॉ. राधाकमल मुकर्जी ने 'मूल्यों की सामालिक संरचना' नामक अपनी पुस्तक में मूल्यों के कुछ नियमों का उल्लेख किया है, वे इस प्रकार हैं—

(1) समाज के नियन्त्रण एवं समर्थन के कारण मानवीय प्रेरणाएँ (Human Motivations) मूल्यों में परिवर्तित हो जाती है।

(2) मौलिक मूल्यों की सन्तुष्टि हो जाने पर मानव में उन मूल्यो के प्रति उदासीनता उत्पन्न हो जाती है। ऐसी स्थित में समाज एवं सस्कृति में नवीन इच्छाएँ, साधन एवं लक्ष्य ढूँढ़े जाते हैं जो नवीन मूल्यों को जन्म देते हैं। इस प्रकार से मूल्यों का चक्र (Cycle of Value) का नियम पनपता है।

(3) मूल्यों की परस्पर अन्त:क्रिया के कारण वे परस्पर मिल जाते हैं। वे अनेक प्रकार के सम्मिलन (Combinations) को उत्पन्न करते है।

(4) विभिन्न मूल्यों में परस्पर प्रतिस्पर्द्धा पाई जाती है। इससे मूल्यों में संस्तरण उत्पन्न हो जाता है।

(5) मूल्यों में संघर्ष होने पर अपनी शिक्षा, अनुभव आदर्श एवं नियमों के आधार पर उपयुक्त मूल्यों का चयन करना है।

(6) समाज या संस्कृति मानवीय मूल्यों को मौलिक प्रतिमान प्रदान करते हैं।

(7) मूल्यों में वैयक्तिकता, विभिन्नता और अनूठापन पाया जाता है। जिनका चयन व्यक्ति अपनी बुद्धि, आवश्यकता, आदत, क्षमता आदि के आधार पर करता है।

(8) सामाजिक पर्यावरण, समूह, संस्था आदि में परिवर्तन के साथ-साथ मानवीय मूल्यों में भी परिवर्तन होते हैं।

(9) मनुष्य के आदर्श मूल्यों-बौद्धिक, कलात्मक एवं धार्मिक की जड़ मानव की अर्न्तदृष्टि, परानुभूति और सहयोग में निहित होती ह।

मूल्य और प्रतीक (Values and Symbols)

डॉ. राधाकमल मुकर्जी का मत है कि मूल्यों की प्रवृत्ति प्रतीकात्मक है। समाज में सम्बन्धों की व्याख्या प्रतीकों के माध्यमों से की जाती है। मनुष्य को विभिन्न आर्थिक सामाजिक चीजों की जानकारी विभिन्न प्रकार के प्रतीकों द्वारा ही प्राप्त होती है। प्रतीकों के माध्यम से मानवीय मूल्यों को समझा जा सकता है। संगठित एवं सम्पन्न सामाजिक जीवन के लिए मूल्यों और आदर्शो की महत्वपूर्ण भूमिका होती हैं। आदर्शो एवं मूल्यों की एकीकृत अभिव्यक्ति को प्रतीक के नाम से जाना जाता हे।

मूल्य और व्यक्तित्व (Values and Personality)

NOTES

डॉ. राधाकमल मुकर्जी का मत है कि व्यक्तित्व के निर्माण में मूल्यों का विशेष महत्व होता है। मूल्य व्यक्तित्व को प्रभावित करते है कोई व्यक्ति समाज से कितनी आसानी से सामंजस्य कर पायेगा, यह इस बात पर निर्भर है कि उसके व्यक्तित्व में मूल्यों का प्रवेश कितना व्यवस्थित रहा है। प्रत्येक समाज को जीवित रहने के लिए नियमित रूप से व्यक्तित्व के सर्वोच्च मूल्यों की पूर्णता का प्रयास किसा जाना चाहिए। इसके अभाव में सभ्यता का शीघ्र सर्वोच्च मूल्यों की पूर्णता का प्रयास किया जाना चाहिए। इसके अभाव में सभ्यता की शीघ्र अन्त होता है। मूल्यों के अभाव में जीवित सभ्यताएं शायद ही अधिक समय तक चल सकें। सभ्यताओं का उत्थान और पतन बहुत कुछ उनके द्वारा व्यक्ति के विकास पर दिये जाने वाले बाल पर निर्भर करता है। इस सन्दर्भ में प्रो. मुकर्जी लिखते हैं, ''किसी समाज की जीवित रहने के लिए नियमित रूप से व्यक्तित्व सर्वोच्च मूल्यों की पूर्णता का प्रयत्न करना चाहिए।

मूल्यों का वर्गीकरण (Classification of values)

मूल्यों का वर्गीकरण विभिन्न प्रकार से किया जाता है। **पेरी** (Perry) ने मूल्यों को **नकारात्मक सकारात्मक विकासवाद एक वास्तविक** आदि भागों में वर्गीकृत किया है। कुछ विद्वान मूल्यों को सुखवादी, धार्मिक, आर्थिक नैतिक एवं तार्किक आदि भागों में बांटने हैं। **प्रो. स्पेंगर** (Spranger) ने मूल्यों को निम्नाकिंत भागों में बांटा है—

(1) सैद्धान्तिक या बौद्धिक मूल्य (Theroritical or intellectual Values),

(2) आर्थिक या व्यावहारिक मूल्य (Economic or practical Values),

(3) सौन्दर्यात्मक मूल्य (Aesthetics Vlaues),

(4) सामाजिक या परार्थवादी मूल्य (Social or Altruistic Values),

(5) राजनीतिक मूल्य (Religious or Mystical Values)।

डॉ. मुखर्जी ने भी मूल्यों के इस वर्गीकरण को स्वीकार किया है। आपने मूल्यों को प्रमुख रूप से दो भागों में बाँटा है— **साध्य मूल्य स्वीकार** किया है।

अपने मूल्यों को प्रमुख रूप से दो भागों में बाँटा है—

(1) **साध्य मूल्य** (Intrinsic value) तथा

(2) **साधन मूल्य** (Insturmental value)।

साध्य मूलक वे लक्ष्य तथा सन्तुष्टियाँ (Goal and satisfactions) हैं जिन्हें मानव तथा समाज जीवन तथा मस्तिष्क के विकास के लिए अपनाता है जो व्यक्ति के व्यवहार के अंग होते हैं। साध्य मूल्य अमूर्त एवं पारलौकिक होते हैं, इनका सम्बन्ध जीवन उच्चतम एवं लक्ष्यों से होता है। 'सत्यम शिवं सुन्दरम्' आदि ।

साधन मूल्य वे हैं जिन्हें व्यक्ति और समाज साध्य मूल्यों को प्राप्त करने के लिए, उनकी सेवा एवं उन्हें उन्नत करने के साधन के रूप में अपनाते हैं। स्वास्थ्य, सम्पत्ति, सुरक्षा सत्ता, प्रस्थिति, पेशा आदि से सम्बन्धित मूल्य साधन मूल्य हैं क्योंकि इनका उपयोग कुछ साध्यों एवं सन्तुष्टियों को प्राप्त करने के लिए किया जाता है। लौकिक लक्ष्यों की पूर्ति के साधन कहे जा सकते हैं। साधन मूल्यों को विशिष्ट (Specific) या अस्तित्वात्मक (Extistential) मूल्य भी कहा जाता है। साधन मूल्यों के उचित चुनाव पर ही साध्य मूल्यों की प्राप्ति सम्भव है। सामान्यत: लोगों का रुझान साध्य मूल्यों के उचित चुनाव पर ही साध्य मूल्यों की प्राप्ति सम्भव है। सामान्यत: लोगों का रुझान मूल्यों की अपेक्षा साधन मूल्यों की ओर होता है। **सी. एक केस** (C. M. Casse) ने सामाजिक मूल्यों को निम्नलिखित चार भागों में बाँटा है।

(1) **सावयवी मूल्य**—इस प्रकार के मूल्यों का सम्बन्ध आग, पानी एवं भार आदि से होता हैं।

(2) **विशिष्ट मूल्य**—प्रत्येक व्यक्ति की अपनी व्यकितगत विशेषताएँ रुचि एवं विचार होते हैं। उन्हीं के आधार पी वह किसी वस्तु का मूल्यांकन करता है। उदाहरण के लिए, विधवा पुनर्विवाह एवं बाल-विवाह को कोई व्यक्ति उचित मानता है। तो कोई अनुचित।

(3) **सामाजिक मूल्य**—कुछ मूल्यों का सम्बन्ध सामाजिक जीचन से होताहै। सामाजिक व्यवहार, परम्पराओं एवं आदतों के सम्बन्ध में प्रत्येक समाज में कुछ मूल्य पाये जाते हैं।

(4) **सांस्कृतिक मूल्य**— इनका सम्बन्ध संस्कृति से होता है। इनमें उपकरणों (Tools), प्रतीकों (Symbols), सत्य, सुन्दरता एवं उपयोगिता आदि से सम्बन्धित मूल्य आते हैं।

सामाजिक मूल्यो का एक अन्य वर्गीकरण धार्मिक, आर्थिक राजनीतिक एवं सौन्दर्यात्मक के रूप में किया गया है जिनका सम्बन्ध धार्मिक, आर्थिक राजनीतिक जीवन एवं सौन्दर्य बोध से है। इन विभिन्न क्षेत्रों में व्यवहार एवं वस्तुओं का मूल्यांकन उस समाज में प्रचलित मूल्यों के आधार पर ही किया जाता है।

सामाजिक मूल्यों का महत्व (प्रकार्य)
(IMPORTANCE OR FUNCTIONS SOIAL VALUES)

मूल्यों के महत्व का उल्लेख करते हुए मुकर्जी कहते हैं कि सामाजिक विज्ञानों के लिए मूल्यों का नहीं महत्व है। जो भौतिकशास्त्र क लिए गति और गुरुत्वाकर्षण और रक्त संचार को तो प्राकृतिक घटनाओं से पृथक करके मापा जा सकता है ताकि एक निश्चित सूत्र द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है लेकिन मूल्यो को जीवन, बुद्धि और समाज से पृथक नहीं किया जा सकता है। मानव की आधारभूत इच्छाओं तथा आवश्कताओं की सन्तुष्टि करने में मूल्यों का महत्वपूर्ण हाथ है। **डॉ. मुकर्जी** का मत है कि कोई समाज यदि अपने अस्तित्व को बनाये रखना चाहता है। तो उसे व्यक्ति के सर्वोच्च मूल्यों को नियमित रूप से पूर्ति करनी चाहिए। मानव व मानव-कल्याण पालन एवं संरक्षण आवश्यक है। सामूहिक

मूल्य समाज में एकता, संगठन एवं नियन्त्रण बनाये रचाते हैं मुकर्जी कहते हैं कि सामूहिक मूल्य समाज आदिकालीन बर्बर स्तर पर पहुँच जायेगा। उच्च मानव का जीवन घिनौना, पशुवत एवं संक्षिप्त (Nasty brutish and short) हो जायेगा मुकर्जी के अनुसर, सामाजिक मूल्यों का महत्व या प्रकार्य इस प्रकार है—

NOTES

(1) **समाज में एकरूपता उत्पन्न करते हैं**—सामाजिक मूल्य सामाजिक सम्बन्धों एवं व्यवहारों में एकरूपता उत्पन्न करते है। सभी व्यक्ति समाज में प्रचलित मूल्यों के अनुसार ही करते है। इसके परिणामस्वरूप सभी के व्यवहारों में समानता उत्पन्न होती है।

(2) **व्यक्ति के लिए महत्व**—सामाजिक मूल्यों का व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। सामाजिक मूल्य सारे समूह एवं समाज की देन होते है। समाजीकरण द्वारा व्यक्ति इन सामाजिक मूल्यों को आत्मसात करता हे। और अपने व्यवहार, आचरण एवं जीवन को उनके अनुरूप ढालने का प्रयत्न करता है। इसके परिणामस्वरूप वह सामाजिक परिस्थितियों से अनुकूलन सरलता से कर लेता है। इसलिए वह अपने को समूह से अलग न मानकर उसी का एक अंग मानने लगता है व्यक्ति का समूह के साथ एकीकरण व्यक्ति की सुरक्षा एवं सामाजिक प्रगति दोनों ही दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

मूल्य व्यक्ति के जीवन को अर्थपूर्ण बनाते है। ये व्यक्तित्व के निर्माण तथा संगठन से भी महत्वपूर्ण निभाते है। मूल्य ही व्यक्तित्व संरचना को परिभाषित एवं नियन्त्रित करते है।

(3) **सामाजिक संगठन एवं एकीकरण**—सामाजिक मूल्य समाज के एक विशिष्ट प्रकार के स्वीकृत एवं प्रतिमानित व्यवहारों को जन्म देते है। समूह के सदस्यों से यह अपेक्षा की जाती है। कि वे इन प्रतिमानित व्यवहारों के अनुरूप आचरण करें ताकि समाज में संगठन एवं एकीकरण बना रहे। समान, आदर्शो, व्यवहारों एवं मूल्यों को स्वीकार करने के कारण आत्मीयात एवं सामुदायिक भावना का विकास होता है। समान मूल्यों में विश्वास कार्य करते एवं परस्पर सहयोग करते है। **जॉनसन** करते हैं, ''मूल्य व्यक्ति को या सामाजिक अन्त:क्रिया की प्रणाली की एकीकृत करने में सहायक होता है।

(4) **सामाजिक क्षमता का मूल्यांकन**—सामाजिक मूल्यों द्वारा ही समाज के व्यक्ति यह जानने मे समर्थ होते है कि दूसरे लोगों की दृष्टि मे उनका क्या स्थान है वे संस्तरण में कहां स्थित है। समूह एवं व्यक्ति की क्षमता का मूल्यांकन सामाजिक मूल्यों के आधार पर ही किया जाता है।

(5) **भौतिक संस्कृति का महत्व बढ़ाते है**—भौतिक संस्कृति के कुछ तत्व चाहे कुछ लोगों या समूह के लिए अधिक महत्वपूर्ण न भी हों, किन्तु उनके पीछे सामाजिक मूल्य होते हैं। अत: लोग उन वस्तुओं को देखने के रुचि रखते है। उदाहरण के लिए टेलीवजन, कार एवं टेलीफोन कुछ व्यक्तियों के लिए अधिक उपयोगी न होने पर

भी वे उन्हें इसलिए रखना चाहते है कि इनसे उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा में वृद्धि होती है। क्योंकि सामाजिक मूल्य इन वस्तुओं को उपयोगी एवं प्रतिष्ठासूचक मानते है।

(6) **समाज के आदर्श विचारों एवं व्यवहारों के प्रतीकों**—सामाजिक मूल्यों में आदर्श निहित होते है। सामाजिक मूल्यों को सामाजिक स्वीकृति एवं मान्यता प्राप्त होती है। यही कारण है कि सामाजिक मूल्यों को उस समाज के आदर्श विचारों एवं व्यवहारों का प्रतीक माना जाता है। ये लोगों के विचारों और व्यवहारों के निश्चित एवं निर्धारित करते है।

(7) **सामाजिक भूमिकाओं का निर्देशन**—सामाजिक मूल्य यह भी तय करते है कि एक व्यक्ति किसी विशिष्ठ प्रस्थिति में किस प्रकार की भूमिका निभायेगा। समाज उससे किस प्रकार का आचरण करने अपेक्षा करता है। सामाजिक मूल्यों में अन्तर के कारण ही सामाजिक भूमिकाओं में भी अन्तर पाया जाता है। भारत में पति-पत्नी की भूमिका अमरीका व इग्लैण्ड में पति-पत्नी की भूमिका से इसलिए भिन्न है क्योंकि इन देशों की मूल्य व्यवस्था में भी अन्तर है और ये मूल्य ही भूमिका निर्वाह का निर्देशन करते है।

(8) **सामाजिक नियन्त्रण**—सामाजिक मूल्य सामाजिक नियन्त्रण के सशक्त साधन हैं ये व्यक्ति एवं समूह पर एक निश्चित प्रकार का व्यवहार करने या न करने के लिए दबाव डालते है। समाज द्वारा मूल्यों के विपरीत करने वालों के लिए दण्ड एवं मूल्यों के अनुरूप आचरण करने वालों के लिए पुरस्कार की जाती है। इस प्रकार सामाजिक मूल्य सामाजिक नियन्त्रण की दृष्टि से महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

(9) **अनुरूपता एवं विषयगमन को स्पष्ट करते है।**—सामाजिक मूल्यों के आधार पर ही हम सामाजिक व्यवहार को अनुरूपता (Conformity) तथा विपथगमन (Deviance) में बांटते है। जो व्यवहार सामाजिक मूल्यों के अनुकूल होते है। उन्हें अनुरूपत एवं जो व्यवहार इनके विपरीत होते है, उन्हें विपथगमन कहते है। समाज में अनुरूपता एवं विपथगमन का अध्ययन सामाजिक मूल्यों के ज्ञान के आधार पर ही किया जा सकता है। इन्हीं के आधार पर हम अपराध की व्याख्या करते है। सामाजिक मूल्य सामाजिक अस्तित्व के लिए आवश्यक है। अत: कोई समाज उनके उल्लंघन की आज्ञा नहीं देता। ऐसा करने वाले को दोषी ठहराया और दण्ड दिया जाता है। इस प्रकार सामाजिक विघटन को रोकने, सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने एवं पुन: निर्माण के लिए सामाजिक मूल्य आवश्यक है।

व्यक्ति, समाज और मूल्यों के बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों को दर्शाने के लिए मुकर्जी ने दीपक की बत्ती, तेल और ज्योति का उदाहरण दिया है। आप समाज को तेल, व्यक्ति को बाती एवं मूल्यों को ज्योति की संज्ञा देते है। तेल (समाज) के बिना बाती (व्यक्ति व समाज) निरर्थक है। मूल्य ही व्यक्ति और समाज के जीवन में ज्योति जलाते हैं मुकर्जी कहते है। ''मनुष्य और समाज - तैरती हुई बत्ती और तेल के बीच चलने वाले अनन्त आदान-प्रदान से मूल्य अनुभव की उजली, स्थिर ज्योति पनपती है जो कि हमारे नीरस और निरानन्द प्रकाशित करते रहते है।

NOTES

इन उपयोगिताओं के होते हुए भी कभी-कभी सामाजिक मूल्य समाज में विघटन भी पैदा करते है। यदि वे समय एवं परिस्थिति के साथ परिवर्तित नहीं होते है या समाज के लोगों की अकांक्षाओं की पूर्ति में बाधक होते है, तो लोग विद्रोही होकर ऐसे मूल्यों को तोड़ते है। उदाहरण के लिए, राजतन्त्र में राजा के प्रति भक्ति दिखाना एक राजनीतिक मूल्य है जिसकी सभी नागरिकों से अपेक्षा की जाती हैं, किन्तु यदि कोई राजा दुराचारी एवं शोषक हो तो ऐसी स्थित में राजा के प्रति बफादरी के मूल्य का पालन नहीं किया जायेगा और लोग विद्रोही होकर उन मूल्यों को तोड़गे। भारतीय समाज में प्रचलित बाल-विवाह, सती-प्रथा, पर्दा-प्रथा, जागीर-प्रथा आदि से सम्बन्धित रूढ़िवादी वर्तमान परिस्थितियों मेल नहीं खाते, उनका पालन पिछड़ेन का सूचक माना जाता है। अत: लोग इनसे सम्बन्धित पुराने मूल्यों को त्याग कर नवीन मूल्य ग्रहण करते जा रहे है।

गैर-मूल्यों अपमूल्यों की अवधारणा (Concept of Disvalues)

डॉ. राधाकमल मुकर्जी ने मूल्यों के साथ-साथ अपमूल्यों या गैर-मूल्यों की चर्चा भी की है उनका मत है कि समाज में मूल्यों के साथ-साथ अपमूल्य भी पाये जाते हैं। अपमूल्य का तात्पर्य है सामाजिक मान्यताओं की उपेक्षा करना अथवा सर्वमान्य सामाजिक मूल्यों का उल्लंघन करना, उन्हें अस्वीकार करना या उनके विरुद्ध करना। जब सामाजिक जीवन में बुराइयां पैदा करना होती है तब अपमूल्यों की स्थापना होने लगती है। **अपराध, शोषण, भ्रष्टाचार, हिंसा, द्वेष, विघटन आदि अपमूल्य ही है। इस प्रकार से समाज द्वारा स्वीकृत मूल्यों को महत्व न देना ही अपमूल्य है।**

मुकर्जी कहते है कि अपमूल्यों की उत्पत्ति निम्नलिखित तीन कारणों से होती है—

(1) **शारीरिक या जैवकीय कारण**—जब मानव की तीन मूलभूत भौतिक आवश्यकताओं—रोटी, कपड़ा और मकान की पूर्ति समुचित रूप से नहीं हो पाती हो। शारीरिक कष्ट, असुविधा, कुपोषण, वस्त्र एवं आवास का अभाव, मौसम, बीमारी से सुरक्षा का अभाव तथा शारीरिक और मानसिक परिपक्वन (Maturation) में बाधा आदि अपमूल्यों की उत्पत्ति के लिए **शारीरिक या जैवकीय कारण है।**

(2) **मानसिक आवश्यकताएँ**—मानसिक आवश्यकताएँ भी अपमूल्यों को जन्म देती हैं जब मनुष्य की प्रेम, प्रस्थिति तथा सुरक्षा की आवश्यकताओं में बाधा पड़ती है तथा मानव मानसिक तनाव और संघर्षो में होता है। तब भी अपमूल्यों का जन्म होता है।

(3) **सामाजिक आवश्यकताएँ**—मानव की सामाजिक आवश्यकताओं में बाधा पड़ने पर भी अपमूल्यों का जन्म है। ऐसी स्थिति में पारिवारिक एवं सामाजिक सन्तुलन बिगड़ने लगता है। समाज में विघटन और समस्याएँ पैदा होती हैं जो समाज में गैर-मूल्यों को बढ़ावा देती है।

गैर-मूल्यों में वृद्धि हो पर समाज में अनेक प्रकार की समस्याओं का जन्म होता है। मुकर्जी ने अपमूल्यों को सुधारने के लिए दो उपायों का उल्लेख किया है—सुधारात्मक एवं रचनात्मक। सुधारात्मक उपाय के अन्तर्गत विचलित व्यवहार वाले व्यक्तियों का सामाजिक

NOTES

एकीकरण किया जाता है तथा रचनात्मक उपायों के अन्तर्गत अपराधियों एवं विघटित व्यक्ति वाले व्यक्तियों का पुनर्वास किया जाता है।

डॉ. मुकर्जी न तो पूर्ववादी है और न ही पश्चिमवादी अपितु समन्वयवादी हैं। अपने अर्थशास्त्र के संस्थात्मक सिद्धान्त में मुकर्जी न केवल वेबलन, कॉम्ट तथा मिचैल द्वारा नेतृत्व प्रदान की गयी अमरीका अध्ययन शाखा का साथ देते है। अपितु परम्पराओं तथा मूल्यों की नवीन भूमिका का बल देकर नवी-अनुस्थापन प्रदान करते है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि डॉ. मुकर्जी का सम्पूर्ण चिन्तन भारत में समाजशास्त्र उत्थान का परिचायक है।

डॉ. राधाकमल मुकर्जी मूलत: अर्थशास्त्री थे किन्तु उन्होंने समाजशास्त्र के क्षेत्र में भी अपने अमूल्य विचार प्रदान किये। उन्होंने अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र के मध्य पाये जाने वाले भेद को कम करने एवं उन्हें निकट लाने का प्रयास किया। सामाजिक पारिस्थिति विज्ञान के क्षेत्र में भी उन्होंने अपने महत्वपूर्ण विचार अपनी कृति 'Social Ecoloyg' (1845) में व्यक्त किये। उनकी दृढ़ मान्यता है कि अर्थशास्त्र, जनांकिकी और प्रादेशिक समाजशास्त्र के सामान्य निष्कर्षों का उपयोग पारिस्थिति के क्षेत्र में किया जा सकता है। वे लिखते हैं ''मानव सम्बन्धों के अध्ययन के लिए मानव प्रदेश (Human Region) ही उचित इकाई है क्योंकि एक प्रदेश विशेष में ही हम एक-दूसरे के साथ अन्त:क्रिया करने वाले संस्कृति के धारक मानव समूहों तथा पौधे, पशु तथा अन्य निर्जीव पर्यावरण के बीच पाए जाने वाले संस्कृति के धारक मानव समूहों तथा पौधे, पशु तथा अन्य निर्जीव पर्यावरण के बीच पाए जाने वाले जटिल अर्न्तसम्बन्धों को अच्छी तरह समझ सकते हैं। सम्भवत: मानवीय सामाजिक व्यवहारों, सामाजिक संस्थाओं तथा अनुकूलन की मानवीय समस्याओं को प्रादेशिक संकुल (Regional Complex) से अलग करके पूरी तरह समझा नहीं जा सकता।''

इन परिभाषा में मुकर्जी ने सामाजिक पारिस्थितिक विज्ञान को ज्ञान की तरह एक ऐसी शाखा के रूप में चित्रित किया है जिसके अन्तर्गत एक प्रदेश विशेष की परिस्थितिगत प्रक्रियाओं के मध्य पाये जाने वाले अन्त:सम्बन्धों का निर्वाचन एवं विश्लेषण आता है। इन सम्बन्धों की अभिव्यक्ति संघर्ष, सहयोग, सन्तुलन, प्रतिस्पर्धा, गतिशीलता, अनुकूलन एवं परिवर्तन आदि के रूप में ही सकती है।

डॉ. मुकर्जी ने सामाजिक परिस्थिति विज्ञान के प्रमुख दो पहलुओं का उल्लेख किया है—

(1) **व्यावहारिक पारिस्थितिकी**—इसके अन्तर्गत जनसंख्या, प्राकृतिक साधनों, वनस्पति एवं पशुजगत के पारिस्थितिक सन्तुलन के साथ सामंजस्य करते हुए मनुष्य के विभिन्न स्वरूपों का अध्ययन आता है।

(2) **समुदाय पारिस्थितिकी**—इसके अन्तर्गत मानव-भूगोल, मानव जीवन-शास्त्र, अर्थशास्त्र, समाज मनोविज्ञान तथा तकनीकी के साथ पारिस्थिति विज्ञान की अत:क्रिया के कारण प्राप्त अन्त:वैज्ञानिक दृष्टिकोण आता है। दूसरे शब्दों में, इन विज्ञानों के अन्तर्गत प्राप्त निष्कर्षों के सम्मिलित उपयोग को ध्यान में रखते हुए पारिस्थिगत ज्ञान को ही समुदाय पारिस्थितिकी कहते हैं। समाज की प्रगति के साथ-साथ मानव मस्तिष्क का महत्व

एवं कार्य भी बढ़ता जाता है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि मानव प्रगति के साथ पर्यावरण का प्रभाव समाप्त हो जाता है। पर्यावरण एवं सामाजिक पारिस्थितिगत कारकों का प्रभाव तो मानवीय सम्बन्धों व उसकी सृजनात्मक क्षमता पर पड़ता ही है जो सामाजिक प्रगति को भी निर्देशित एवं नियन्त्रित करता है।

पारिस्थितिकी या पर्यावरण के कारण व्यक्ति एवं समुदाय दोनों को ही प्रभावित करता है। इसी आधार पर मुकर्जी ने पारिस्थिति विज्ञान के दो पक्षों-वैयक्तिक पारिस्थितिकी (Autecology) तथा सामुदायिक पारिस्थिकी (Synecology) का उल्लेख किया है। यह दोनों पक्ष परस्पर निर्भर एवं अन्तर्सम्बन्धित हैं। क्योंकि पर्यावरण सम्बन्धी कारकों के प्रति अन्त: प्रतिक्रिया व्यक्ति के द्वारा प्रकट की जाती है, उसका प्रभाव समुदाय पर और समुदाय का पर्यावरण के प्रति प्रतिक्रिया का प्रभाव व्यक्ति पर पड़ता है। साथ ही व्यक्ति एवं समुदाय दोनों को ही पर्यावरण से अनुकूलन कुछ सीमा तक तो करना ही पड़ता है।

डॉ. मुकर्जी ने सामाजिक पारिस्थिति विज्ञान के तीन प्रकार्यों (Functions) का उल्लेख किया है :

(1) मानव एवं मानवीय संस्थाओं का एक प्रदेश विशेष के साथ अनुकूलन की प्रक्रिया का निर्वचन करना। इसके अन्तर्गत उस प्रदेश विशेष की मिट्टी, जलवायु, भूमि की रचना (पठार, पहाड़, समतल भूमि) के साथ अनुकूलन करना ही नहीं वरन् वहाँ के पेड़-पौधों एवं पशुजगत के साथ अनुकूलन करना भी आता है।

(2) मानवीय क्रियाकलापों को संगठित करने वाले स्थानिक, भोज सम्बन्धी एवं पारिस्थितिगत शक्तियों के सम्बन्धों को ढूँढ़ निकालना।

(3) एक प्रदेश विशेष में मानव तथा अन्य सजीव और निर्जीव समुदायों के सन्तुलनों एवं पारस्परिक दबावों को मापना और यह ज्ञात करना कि ये सन्तुलन और दबाव मानव के प्रभुत्व और स्थायित्व के लिए अनुकूल या प्रतिकूल क्या सिद्ध होंगे।

डॉ. मुकर्जी का मत है कि पारिस्थितिकी के अन्तर्गत प्राकृतिक अवस्थाओं का बहुत महत्व है जसके साथ मानव को आज भी अनुकूलन करना पड़ रहा है। जबकि उसने विज्ञान की सहायात से प्रकृति पर विजय की घोषणा कर दी है।

आपका मत है कि प्रकृति पर विजय के लिए भी मानव को प्रकृति का अनुसरण तो करना ही पड़ता है। इसके अभाव में प्रकृति में असन्तुलन पैदा हो जाएगी जिसके फलस्वरूप विपदाएँ आने की सम्भावना रहती हैं।

वे लिखते हैं, 'जीवन के जाल के कुटिल बहुविध तथा विस्तृत धागे जीवित विश्व के विभिन्न अंशों को एक साथ बाँधते हैं और इसलिए उनमें एक सामंजस्य का बना रहना अति आवश्यक है। एक प्रदेश के पेड़-पौधों की निर्मम कटाई करके देखिए अथवा खरीफ के स्थान पर रबी की फसल की बुवाई करके देखिए या मच्छरों की बेतहाशा वृद्धि होने दीजिए तो हम देखेंगे कि उनकी विपरीत या बुरी प्रतिक्रिया होगी। भारत में मच्छरों के प्रकोप के कारण बंगाल व असम में मलेरिया खूब होता है। इन परिस्थितियों से अनुकूलन

करने के लिए वहाँ की जलवायु चाय पैदा करने के अनुकूल है जिसका सेवन करने से मलेरिया के फैलाव पर रोक लगा जाती है।

डॉ. मुकर्जी ने पारिस्थितिगत तालमेल को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि एक प्रदेश विशेष एवं ऋतु विशेष में कुछ विशेष प्रकार के रोगों का आक्रमण देखने को मिलता है जिससे मानव को अनुकूलन करना पड़ता है। गंगा-यमुना के मैदान विकास कार्य जितना सरल है हिमालय के पहाड़ी में उतना ही कठिन है। इस प्रकार से पारिस्थितिगत विशेषताएँ सब कुछ होते हुए भी 'कुछ' तो हैं ही।

प्राचीन समाजों के उदाहरण देते हुए मुकर्जी लिखते हैं कि आदिम समाजों में सामाजिक संगठन ही नहीं वरन् धर्म, जादू, प्रथाएँ, परम्पराएँ एवं विश्वास सभी पर पर्यावरण का प्रभाव देखा जा सकता है। आदिम समाजों में टोटम की प्रथा प्रचलित है जिसमें कुछ विशेष प्रकार के पेड़ पौधों और पशु-पक्षियों को मारने या नष्ट करने का निषेध है। इस निषेध का प्रमुख कारण यह रहा है कि इन पेड़-पौधों और जानवरों को नष्ट करने का निषेध है। इसलिए ही टोटम के नियमों द्वारा इस संतुलन को बिगड़ने से रोका गया है।

जादू का उद्देश्य भी पर्यावरण पर मनुष्य का नियन्त्रण स्थापित करना है। उदाहरण के लिए, तूफान को रोकने अथवा वर्षा लाने का जादू का प्रयोग भी इसी उद्देश्य से किया जाता है।

मद्रास के नीलगिरि के पहाड़ों में रहने वाली टोडा जनजाति भैंसपालन से अपना जीवन-यापन करती है। भैंसों को ये पवित्र मानते हैं और भैंसशाला को मन्दिर। भैसों से सम्बन्धित कई प्रथाएँ तथा धार्मिक कर्म-काण्ड भी पाए जाते हैं।

उन सभी का उद्देश्य टोडा समाज का पशु जगत से सन्तुलन बनाये रखना है। हिन्दू लाग सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, हवा तथा गंगा आदि नदियों को जो कि प्राकृतिक वस्तुएं हैं। देवी-देवताओं के रूप में मानते हैं। यह उनका प्रकृति के साथ अनुकूलन ही है। कृषि कार्य के प्रारम्भ से पूर्व खेतों की पूजा एवं देवी-देवताओं का आवाहन भी पर्यावरण की विभिन्न शक्तियों के साथ मानवीय सम्बन्धों के सन्तुलन को ही प्रकट करता है।

डॉ. मुकर्जी ने पारिस्थितिकी अवस्थाओं एवं शक्तियों के साथ मानव अनुकूलन के तीन स्तरों का उल्लेख किया है—

(1) प्राचीन काल के समुदायों के लोग पर्यावरण पर अत्यधिक निर्भर थे क्योंकि उस समय ज्ञान और विज्ञान का आज भी तरह विकास नहीं हो पाया था। अत: प्रकृति के साथ अनुकूलन के सिवा उनके पास और कोई चारा न था।

(2) दूसरे स्तर पर मनुष्य ने पर्यावरण के साथ अपने संरक्षण, भोजन, आवास एवं पूजा आदि से सम्बन्धित विभिन्न आवश्यकताओं का तार्किक और क्रमबद्ध अनुकूलन किया।

(3) तीसरे प्रकार के अनुकूलन का सम्बन्ध आज के व्यावहारिक पारिस्थिति विज्ञान (Applied Ecology) से है जो इस बात पर जोर देता है कि मानव प्रकृति का दास नहीं वरन् उसका सहयोगी है और वह पर्यावरण में छिपी असीमित सम्भावनाओं की

खोज करके उनका उपयोग मानव-कल्याण और उन्नति के लिए कर सकता है। इसी आधार पर वह चन्द्रमा और मंगल-ग्रह पर निवास करने की बात सोच रहा है। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य और उसकी पारिस्थिति के साथ उसके गहन और घनिष्ठ सम्बन्ध हैं।

NOTES

प्रादेशिकता या प्रादेशिक समाजशास्त्र
(REGIONALISM OR REGIONAL SOCIOLOGY)

डॉ. मुकर्जी ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'Regional Sociology' (1926) में प्रादेशिकता के बारे में अपने मौलिक विचार व्यक्त किये हैं। उन्होंने इसमें यह दर्शाने का प्रयास किया है कि एक प्रदेश विशेष की प्राकृतिक विशेषताएँ वहाँ के निवासियों के कार्यों, प्रथाओं, संस्थाओं, मनोवृत्तियों, आचारों एवं चरित्र को ढालने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

डॉ. मुकर्जी के पूर्व भी कुछ पश्चिमी विद्वानों जैसे चार्ल्स लिप्ले तथा डिमालिन्स भौगोलिक पर्यावरण के मानव जीवन पर पड़ने वाले प्रभावों का उल्लेख किया था लेकिन इस क्षेत्र में मुकर्जी का योगदान मौलिक, विशिष्ट, गहन और विस्तृत है। उन्होंने प्रदेशिक अर्थशास्त्र को ऐसे विज्ञान के रूप में प्रस्तुत किया है जिसका सम्बन्ध एक भौगोलिक क्षेत्र या प्रदेश एवं मानव व्यवहार और मानव जीवन के मध्य पाये जाने वाले प्रकार्यात्मक संबंधों का अध्ययन करना है। यह विज्ञान विभिन्न प्रदेशों के लोगों के सामाजिक जीवन और व्यवहारों का तुलनात्मक अध्ययन करता है। उनके अनुसार प्रादेशिकता भी मानव व्यवहार की एक विशेष अभिव्यक्ति है जो अपने क्षेत्र विशेष की परिस्थितियों द्वारा प्रभावित नियन्त्रित तथा निर्देशित होती है। उनके अनुसार प्रादेशिक समाजशास्त्र भी विज्ञान की एक शाखा है।

डॉ. मुकर्जी ने प्रादेशिक समाजशास्त्र के अन्तर्गत निम्नांकित पक्षों का अध्ययन करने पर जोर दिया है—

(i) प्रादेशिक जीवन के जाल का अध्ययन,

(ii) प्रदेश तथा प्रादेशिक समूह के सन्दर्भ में मानव पारिस्थितियों का अध्ययन,

(iii) सामाजिक प्रारूपों का प्रादेशिक आधार का अध्ययन,

(iv) आर्थिक तथा सामाजिक प्रारूपों की बीच अनुकूलन का अध्ययन

(v) राजनीति सम्बन्धों पर आर्थिक परिस्थितियों के प्रभाव का अध्ययन तथा

(vi) प्रादेशिक समाजशास्त्र की प्रवृत्तियों का अध्ययन।

डॉ. मुकर्जी ने अपने इस नवीन विज्ञान में प्रदेश को लोगों के एक साँचे के रूप में स्वीकार किया है। उनका मत है कि प्रत्येक प्रदेश वहाँ के निवासियों के लिए एक विशिष्ट पर्यावरण को प्रस्तुत करता है जो लगभग समान और स्थिर होता है। प्रत्येक प्रदेश एक विशिष्ट सामाजिक प्रारूप को जन्म देता है, वहाँ विशिष्ट प्रकार की संरचनाओं का जन्म होता है जिन्हें स्पष्ट रूप से पहचाना जा सकता है।

मुकर्जी ने समाजशास्त्र के सन्दर्भ में तीन प्रमुख सिद्धान्तों का उल्लेख किया है—

(1) प्रादेशिक समाजशास्त्र एक समय तथा प्रदेश विशेष के सन्दर्भ में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं वैधानिक संस्थाओं को परस्पर घुली-मिली मानता है क्योंकि उस प्रदेश विशेष का प्रभाव इन सभी संस्थाओं पर सामान्य रूप से पड़ता है।

(2) प्रादेशिक समाजशास्त्र स्थान, कार्य तथा जनता (Place, Work and Folk) के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन करता है तथा इनके निष्कर्षों से नगरों एवं प्रदेशों में पाए जाने वाले सामाजिक जीवन का अध्ययन करता है।

(3) प्रादेशिक समाजशास्त्र द्वारा किया जाने वाला सामाजिक अनुसन्धान का आधार सामाजिक मानवशास्त्र तथा सामाजिक मनोविज्ञान के ज्ञान पर निर्भर करता है।

डॉ. मुकर्जी का मत है कि मानव का अपने प्रदेश के साथ केवल प्राकृतिक ही नहीं बल्कि मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध भी होता है। जिस स्थान व प्रदेश में वह जन्म लेता है उसके प्रति उसका अपनत्व और लगाव होता है। वह वहाँ की भाषा, खान-पान, रहन-सहन, रीति-रिवाज व मूल्यों को सरलता से ग्रहण कर लेता है। वहाँ की शिल्पकला, औजार, तकनीकी, जीवन का ढंग और संस्कृति को ग्रहण करने में भी समय नहीं लगता है और वह वहाँ के सामाजिक जीवन से शीघ्र ही अनुकूलन कर लेता है।

यह प्रदेश ही उसका प्रथम सांस्कृतिक पाठशाला होती है। यद्यपि वर्तमान में मानव जीवन अन्त:प्रादेशिक और अन्तर्देशीय होता जा रहा है फिर भी वह प्रदेश के प्रभाव से मुक्त नहीं है।

प्रदेशों का मानव की समग्रताओं पर प्रभाव का अध्ययन ही प्रादेशिक समाजशास्त्र का प्रमुख उद्देश्य है।

प्रत्येक प्रदेश का आर्थिक विकास भी वह स्पष्ट करता है कि उसके आर्थिक विकास और अवरोध में दो कारणों का प्रमुखत: प्रभाव रहा है :

(i) उस क्षेत्र में उपलब्ध प्राकृतिक सम्पदा एवं साधनों का,

(ii) उस सम्पदा को काम में लेने हेतु लोगों की कुशलता एवं संगठन के स्तर का।

अपने आर्थिक विकास के शिकारी, पशुपालन, कृषि अथवा औद्योगिक किसी भी स्तर पर मनुष्यों को अपने प्रदेश की जलवायु, वनस्पति, पशु-पक्षी एवं खनिज-पदार्थो से सामंजस्य करना ही पड़ता है और ये सभी मानव के सामाजिक सांस्कृतिक, आर्थिक और मानसिक क्रियाकलापों को प्रभावित करते हैं। भूगोलवादी के कारण मानव ने पर्यावरण के प्रभाव को कमजोर किया है।

डॉ. मुकर्जी का मत है कि पर्यावरण और सामाजिक कारणों के बीच अन्त:क्रिया के कारण ही एक प्रदेश विशेष में एक विशिष्ट संस्कृति का उद्भव होता है और एक प्रदेश की संस्कृति दूसरे प्रदेश से भिन्न होती है। यह भिन्नता उन्हें परस्पर मिलने नहीं देती और राष्ट्र

की मुख्य धारा से पृथक करती है जिसके परिणामस्वरूप प्रान्तवाद प्रादेशिकता की भावना जन्म लेती है।

प्रादेशिकता की भावना उस प्रदेश के लोगों में अपने प्रदेश अपनी भाषा और संस्कृति को अन्य प्रदेशों से श्रेष्ठ मानने की भावना भर देती है, वे अपने राष्ट्रीय हितों की तिलांजलि देकर राजनीतिक और आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त करने के प्रयास करते हैं। प्रादेशिकता की भावना के कारण प्रादेशिक भक्ति और वफादारी की भावना बलवती होती है और राष्ट्रवाद की भावना कमजोर पड़ती हैं। प्रो. मुकर्जी का मत है कि प्रदेशवाद की भावना जन नियन्त्रित हो जाती है तो वह विद्रोह का रूप ले सकती है, इसलिए उसे रचनात्मक व सृजनात्मक कार्यो में लगाया जाना चाहिए।

सामाजिक पुनर्निर्माण (SOCIAL RECONSTRUCTION)

डॉ. मुकर्जी ने सामाजिक पुनर्निर्माण के सम्बन्ध में भी अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है और इसके लिए एक योजना भी प्रस्तुत की है। किसी भी देश में जब सामाजिक विघटन और संघर्ष के कारण अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है तथा समाज समस्याग्रस्त हो जाता है तो यह आवश्यक हो जाता है कि सामाजिक पुनर्निमाण द्वारा पुनः उसे संगठित व व्यवस्थित किया जा सके चूँकि प्रत्येक समाज में समस्याएँ भी भिन्न होती है, अतः कोई सामाजिक पुनःनिर्माण की योजना ऐसी नहीं हो सकती जो सभी और समाजों में समान रूप से लागू होती हो।

आधुनिक समय में हमें मानव में अहमवाद संघर्ष और आक्रामक संघर्ष और आक्रामक व्यवहार की अधिकता देखने को मिलती है जो कि आधुवत औद्योगिक सभ्यता और वर्गीय स्तरीकरण की देन है। वर्तमान में हमें समाज में पक्षपात, सन्देह और सभ्यता की अधिकता देखने को मिलती है। व्यक्ति, परिवार और समाज आज अनेक समस्याओं से ग्रस्त हैं जिनके कारण समाज में असन्तुलन और विघटन उत्पन्न हो गया है जिसे दूर करने के लिए सामाजिक पुनर्निर्माण की आवश्कयता है।

प्रो. मुकर्जी ने सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक सभी क्षेत्रों में पुननिर्माण का उल्लेख किया है जो निम्नांकित हैं—

(1) **सामाजिक क्षेत्र में पुनर्निमाण**—इसके अन्तर्गत हमें उन कारणों की खोज करनी होगी जो समाज और सामाजिक जीवन में असन्तुलन पैदा करते हैं। वर्तमान समय में भारतीय समाज में संयुक्त परिवार और जाति प्रथा टूट रहे हैं। पड़ोस का नियन्त्रण शिथिल हो रहा है तथा आत्मनिर्भर ग्रामीण समुदाय नष्ट हो रहे हैं। इनके परिणामस्वरूप हमारे यहाँ व्याधिकीय व्यवहार जन्म ले रहे हैं। औद्योगीकरण नगरीकरण, पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के प्रभावों के कारण यहाँ के लोगों की आदतों, मनोवृत्तियों और मूल्यों में अनेक परिवर्तन आ गये हैं। सामाजिक नियन्त्रण शिथिल हुआ है। परिवर्तनशीलता और गतिशीलता में वृद्धि के कारण अनुकूलन की समस्याएँ खड़ी हो रही हैं। पुनर्निर्माण की दृष्टि से इन्हें सुलझाना आवश्यक है। सामाजिक पुनर्निर्माण द्वारा हमें इस प्रकार की परिवार व्यवस्था, सामाजिक नियम,

आदर्श और मूल्यों को विकसित करना होगा जो आधुनिक समय में व्याप्त बुराइयों को दूर कर सके।

(2) **आर्थिक क्षेत्र में पुनर्निमाण**—आर्थिक पुनर्निमाण की योजना के अन्तर्गत गांव और नगरों के मध्य पाए जाने वाले संघर्ष की प्रतिस्पर्धा को कम किया जाना चाहिए। ग्रामीण अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत कृषि और ग्रामीण उद्योगों का आधुनिकीकरण किया जाना चाहिए। गाँवों में शिक्षा और प्रौढ़ शिक्षा के विस्तार से भी ग्रामीण पुनर्निर्माण सम्भव है। ग्रामीण शिक्षा का सम्बन्ध ग्रामीण व्यवसायों तथा समाज की कुरीतियाँ जैसे दहेज, पर्दा-प्रथा, बाल-विवाह, विधवा-विवाह निषेध आदि के विरुद्ध जनमत तैयारी करने के रूप में होनाा चाहिए।

(3) **औद्योगिक पुनर्निर्माण**—मुकर्जी उद्योगों में मशीनीकरण के विरुद्ध नहीं हैं, किन्तु वे श्रमिकों की छटनी करने और आर्थिक शोषण के विरुद्ध हैं। मशीनों की सहायता से उत्पादन को बढ़ाया जाये और अवकाश में वृद्धि की जाए। वे श्रमिकों और मशीनों के तालमेल में विश्वास करते हैं। आप मशीन युग को मनुष्य के लिए एक वरदान एवं उच्च सभ्यता का वाह मानते हैं। ऐसा तभी सम्भव है जब श्रमिक को उचित वेतन मिले और वह सुखी हो।

(4) **राजनीतिक पुनर्निमाण**—मुकर्जी ने राजनीतिक पुनर्निमाण पर जोर दिया है। मानव के सामाजिक और सांस्कृतिक विकास के विभिन्न स्तरों पर भिन्न-भिन्न प्रकार की राजनीतिक संस्थाएँ कायम रही है। वर्तमान में राजनीतिक क्षेत्र में यह विकृति उभर रही है कि प्रत्सेक राष्ट्र अधिकाधिक शक्तिशाली बनना चाहता है, इससे विभिन्न राष्ट्रों के बीच संघर्ष और तनाव उत्पन्न हुआ है। परमाणु हथियारों की होड़ बढ़ी है जिससे सम्पूर्ण विश्व के सर्वनाश की आशंका पैदा हुई है। उस आशंका को दूर करने के लिए मुकर्जी ''मानव जाति के एक राष्ट्रमण्डल'' की स्थापना करने का सुझाव देते है। जो विभिन्न राष्ट्रों के बीच विवादों की निपटाने प्रतिस्पर्द्धा को कम करने, गलतफहमियों को दूर करने, विभिन्न राष्ट्रों को निकट लाने एवं उनमें एकता व भाई-चारे की भावना पैदा करने का कार्य करे, किन्तु इसके लिए कुछ राजनीतिक मूल्यों को विकसित करना होगा जैसे प्रत्येक देश अपने पड़ोसी देशों के अधिकारों और कर्तव्यों को स्वीकार करे और सत्ता, समानता, न्याय, स्वतन्त्रता, राजभक्ति ओर नागरिकता के मूल्यों को अपनाए। इनसे अर्न्तराष्ट्रीय आदान-प्रदान, सहयोग और न्याय की बढ़ावा मिलेगा तथा विश्व समुदाय की समस्याओं को समाधान एवं उन्नति का मार्ग प्रशस्त होगा।

अध्याय का संक्षिप्त सार

मुकर्जी ने आर्थिक क्षेत्र में पश्चिती देशों की नकल का भी विरोध किया है क्योंकि वहाँ के और भारत के भौतिक और सामाजिक एवं भौगालिक पर्यावरण में भिन्नता है। अत: प्रत्येक देश का अर्थिक ढाँचा वहाँ के सामाजिक एवं भौगोलिक पर्यावरण में भिन्नता है। अत: प्रत्येक देश का आर्थिक ढाँचा वहाँ के सामाजिक एवं भौगालिक पर्यावरण सम्बन्धी कारकों पर निर्भर होना चाहिए। पश्चिमी देशों की सभ्यता को श्रेष्ठ मानकर और अपने देश की सामाजिक एवं आर्थिक परम्पराओं की अवहेलना कर उसे अपनाना अनुचित है।

NOTES

परिक्षोपयोगी प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. डॉ. राधाकमल मुकर्जी के "समाज के सामान्य सिद्धान्त" क्या है ? व्याख्या कीजिए।
2. सामाजिक मूल्यों के सम्बन्ध में डॉ. राधाकमल मुकर्जी के विचारों की समीक्षा कीजिए।
3. डॉ. राधाकमल मुकर्जी का "सामाजिक विज्ञान का सिद्धान्त" की विवचेना कीजिए।
4. सामाजिक मूल्य का क्या अर्थ है ? इसकी प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. सामाजिक मूल्यों को परिभाषित दीजिए और मूल्यों के नियमों का उल्लेख कीजिए।
2. अपमूल्यों की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।
3. सामाजिक पुनर्निर्माण पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
4. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

   (क) मूल्यों का सोपान स्तर

   (ख) समाज का महाविज्ञान

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. सन् 1916 में राधाकमल मुकर्जी लाहौर के सनातन धर्म कॉलेज के प्राचार्य बनाये गये जहाँ आपने कार्य किया—

   (अ) तीन वर्ष (ब) एक वर्ष

   (स) पाँच वर्ष (द) आठ वर्ष

2. अब समय आ गया है जबकि हम समाज के एक सामान्य सिद्धान्त का निर्माण करें यह मान्यता है—

   (अ) डी. पी. मुकर्जी की (ब) गोपाल कृष्ण मुकर्जी की

   (स) राधाकमल मुकर्जी की (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं

3. राधाकमल मुकर्जी का जन्म कब हुआ ?

   (अ) 7 दिसम्बर, 1889 (ब) 7 दिसम्बर, 1882

   (स) 17 दिसम्बर, 1887 (द) 17 दिसम्बर, 1893

NOTES

4. मुकर्जी ने अपमूल्यों को सुधारने के लिए कितने उपायों का उल्लेख किया—
   (अ) पाँच (ब) चार
   (स) आठ (द) दो
5. मुकर्जी एफ. ए. ओ. के अर्थशास्त्र एवं सांख्यिकी कमीशन के अध्यक्ष मनोनीत किये गये—
   (अ) 1942 में (ब) 1952 में
   (स) 1946 में (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
6. सन् 1910 में राधा कमल मुकर्जी बरहामपुर के कृष्णनाथ कॉलेज में प्राध्यापक बन गये—
   (अ) अर्थशास्त्र के (ब) समाजशास्त्र के
   (स) मानवशास्त्र के (द) उपर्युक्त सभी के

●●